रीतिकालीन काव्य में शब्दालंकार

(गुजरात यूनीवर्सिटी के द्वारा पी-एच० डी० के लिए
स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)

डॉ० किशोर काबरा
एम० ए०, पी-एच० डी०

जवाहर पुस्तकालय, मथुरा

प्रकाशक : कुंजविहारी लाल पचौरी एम. कॉम.
जवाहर पुस्तकालय,
१२१६, मुकेरियान, सदर बाजार
मथुरा – २८१००२
लेखक : डॉ० किशोर कावरा एम. ए., पी-एच डी.
©️ मकर संक्रांति १९७५
मुद्रक : ठाकुरदास शर्मा
कान्ता प्रिन्टिग प्रेस,
जनरल गंज, मथुरा.
मूल्य : तीस रुपया

पुरोवाक्

'अलंकार' शब्द की व्युत्पत्ति विद्वानों ने दो प्रकार की है –'अलंकरोतीत्यअलकार:' अर्थात् जो सुशोभित करता है वह अलंकार है और 'अलंक्रियतेऽनेनेत्यलंकार:' अर्थात् जिसके द्वारा किसी की शोभा होती है वह अलंकार है। इन दोनों व्युत्पत्तियों मे जो सूक्ष्म अन्तर है वह विचारणीय है। प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार अलकार कर्ता है, दूसरी के अनुसार करण। यह अन्तर इस बात का द्योतन करता है कि अलंकार किम प्रकार काव्य के विधायक पद से स्खलित होकर काव्य का साधन मात्र रह गया।

यह सुविदित तथ्य है कि साहित्य मे ज्यों-ज्यों रस की महत्ता स्वीकृत होती गई त्यो-त्यो अलंकारों की गरिमा खण्डित होती गई। शब्दालकार तो प्राय. उपेक्षित ही हो गए। रीतिकाल में जाकर अलंकारों की पुनर्प्रतिष्ठा हुई। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे लेखक ने उन सभी पृष्ठभूमियों की मनोवैज्ञानिक एवं काव्यशास्त्रीय गवेषणा की है, जिनके द्वारा रीतिकाल मे शब्दालंकार की पुनर्स्थापना हुई और हिंदी काव्य-शास्त्र में भी उनका महत्त्व गृहीत हुआ। इस प्रकार लेखक ने काव्य-शास्त्र के मुख से शब्दालंकार-विमुखता की कलक-कालिमा को पोंछने का स्तुत्य प्रयास किया है।

इस दशा मे अब तक जो महत्त्वपूर्ण शोध-कार्य हुए है उनमे डॉ० नगेन्द्र, डॉ० रसाल डॉ० ओम्प्रकाश, डॉ० देशराजसिह भाटी, डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी प्रभृति विद्वानों के शोध-कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन विद्वानों ने रीतिकाल एव अलकार विषयक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रस्तुत किए है। किन्तु रीतिकालीन काव्य मे शब्दालंकार के विवेचन का समुचित प्रयास अभी तक नहीं हो पाया था। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध से निश्चय ही इस क्षति की पूर्ति हुई है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में विद्वान लेखक ने संस्कृत काव्यशास्त्र से प्रारम्भ करके केशव से लेकर ग्वाल तक चलने वाली चमत्कारमूलक अलंकार-विवेचन की परम्परा में शब्दालंकार के स्वतन्त्र महत्त्व को प्रतिपादित किया है। इतना ही नहीं परवर्ती प्रभाव के रूप में रीति-कालोत्तर काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का अवलोकन करते हुए वर्तमान युग की अकविता धारा तक लेखक ने विषय की एकसूत्रता स्थापित की है। इस तरह यह शोध-प्रबन्ध वैदिक काल से लेकर आज तक के शब्दालँकारों का संक्षिप्त इतिहास ग्रन्थ बन गया है।

रीतिकालीन आचार्यो ने अपनी सर्जनात्मक शक्ति का सुन्दर एवं व्यवस्थित प्रयोग चित्रालकार विवेचन में किया है। किन्तु साहित्य में चित्र-काव्य की गणना अधम काव्य के रूप मे की गई है। प्रस्तुव शोध-प्रवन्ध के लेखक ने चित्रालंकार का सांगोपांग अनुशीलन करके उसमे निहित सौंदर्य-चेतना को सोदाहरण उद्घाटित किया है।

डॉ० कावरा ने गुजरात के अंचल से प्राप्त ब्रजभाषा के ग्रन्थो को भी शब्दालंकार की कसौटी पर कसा है। इन ग्रन्थों मे एक है महेरामणसिंह कृत 'प्रवीण सागर' और दूसरा ग्रन्थ है कविवर दयाराम कृत 'दयाराम सतसई'। इस प्रकार लेखक ने इस अध्ययन को सर्वांगीण वनाकर अपने सारस्वत-कर्तव्य का बड़ी ही तत्परता से निर्वाह किया है।

डॉ० किशोर काबरा मूलतः कवि है, अतः उनकी अभिव्यजना मे लालित्य एव सौष्ठव का होना स्वाभाविक हो है। इस शोध-प्रवन्ध मे भी उनकी आलकारिक शैली को सर्वत्र देख सकते है। उनकी इस विशेषता ने शास्त्रीय विषय से सम्बन्धित शोध-प्रवन्ध को रमणीयता एवं सरसता प्रदान की है।

मुझे विश्वास है, डॉ० काबरा का यह शोध-कार्य प्रकाशित होकर विद्वज्जनों एवं साहित्य प्रेमियो को समान रूप से रुचिकर होगा, क्योकि अंततोगत्वा ग्रन्थ की सार्थकता का निकप उन्हीं का परितोष है।

"अपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्"

भाषा साहित्य भवन;
अहमदावाद-६
दिनाङ्क १२-१२-७४

अम्बाशंकर नागर
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
गुजरात युनिवर्सिटी।

प्राक्कथन

मानव-मन की प्रसुप्त कल्पनाओं एवं अनुभूतियो को रुपायित करने के प्रयास अनन्त हैं, असीम हैं। अलंकार भी उनमें से एक है। चारुता के आंगन में कला और काव्य का मंजुल मिलन, अलंकारों के उद्भव का वह मादक क्षण है, जिसे सरस्वती के वरद-पुत्रों ने अपनी लेखनी एव तूलिका से युग की प्रतिध्वनि के रूप मे चित्रित किया है। यदि सृजन के समय कवि एवं लेखनी के मध्य कल्पनाओ और कलात्मक तन्तुओं का ऐन्द्रजालिक इन्द्रधनुष तना हो, तो वाणी की रुपसी अपनी सप्तवर्णी चूनर में मुस्कराती-लजाती कविता का स्वागत करती है। शब्दालंकारो की रुनझुन करती स्वर लहरी उसके नूपुरों के मंजुल सम्पुटों से मुखरित होती रहती है। अस्तु।

संस्कृत काव्यशास्त्र, अलंकारशास्त्र के नाम से कई शताब्दियों तक सुपरिचित रहा है, किन्तु साहित्य में रस को काव्यात्मा की संज्ञा दिये जाने पर कविता में अलंकार केवल प्रमदा के सौन्दर्यवर्धक आभूषणों के समान साधन मात्र रह गए। अलंकारों में भी शब्दालंकारों को तो अत्यन्त हेय एवं उपेक्षा की दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति रही है। संस्कृत-आचार्यों ने अर्थालंकारों के विवेचन में जो अभिरुचि दिखाई है उसका अंशमात्र भी शब्दालंकारोंके विवेचन में दृष्टिगोचर नही होता। यह सौभाग्य है कि हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों में यह उदासीनता नही आ पाई है।

शोध की आवश्यकता

कला एवं साहित्य के क्षेत्र में चरमावस्था प्राप्त करने के कारण रीतिकालको हिन्दी साहित्य के यौवनकाल के नाम से अभिहित किया गया है। काव्यशास्त्रीय विवेचन भी इस काल की एक स्वाभाविक प्रक्रिया रही है। आचार्य केशव से लेकर ग्वाल तक चमत्कारमूलक अलंकार-विवेचन की एक अविरल धारा प्रवाहित होती हुई स्पष्ट दिखाई देती है, किन्तु अद्यावधि न तो समस्त ग्रन्थकारो के नाम ज्ञात हो सके हैं और न ग्रंथ ही उपलब्ध हो सके हैं। रीतिकालोत्तर युग में भी कई अलंकार-ग्रंथ लिखे गए हैं, जिन पर रीति-परम्परा की स्पष्ट छाप है किन्तु मौलिकता एव नवीनता के आग्रह ने विषय के गांभीर्य एवं पारम्परिक दाय को विकृत कर दिया है।

अनुसंधान और शोध के क्षेत्र में भी शब्दालंकारों के प्रति उपेक्षा-भाव स्पष्ट दिखाई देता है। अभी तक कोई ऐसा शोध-प्रबन्ध दृष्टिगोचर नहीं हुआ है जिसमें रीतिकालीन काव्य में शब्दालंकार पर काम हुआ हो। रीतिकाल एवं शब्दालंकार पर कार्य करने लिए कुछ शोधग्रंथ उपलब्ध हैं, किन्तु उनमें या तो किसी एक आचार्य की रचना को लक्ष्य बनाकर विवेचन किया गया है या फिर शब्दालंकार सामान्य अथवा शब्दालंकार विशेष को दृष्टि में रखकर ऐतिहासिक पर्यालोचना की गई है अथवा रीतिकालीन काव्य शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किये गए हैं।

शब्दालंकार पर शोध-कार्य करने में जहाँ तथ्यों के संकलन का दुर्गम कार्य रहता है, वहीं प्राप्त तथ्यों में से शब्दालंकार विषयक विवेचन ढूँढ़ पाना भी कोई आसान काम नहीं रहता, क्योंकि अधिकांश रीतिकालीन आचार्यो-कवियों ने काव्य-शास्त्र के सर्वांगो का मिश्रित विवेचन किया है जिनमें अधिकतर शब्दालकार विवेचन अधम-काव्य के रूप में उपेक्षित-सा-ग्रंथ के किसी कोने में अपनी अन्तिम साँसे गिनता हुआ मिलता है। शब्दालंकार के विषय में सर्वसाधारण की धारणा भी अनुकूल नहीं रही है। केवल शब्दालंकार का रीतिकालीन काव्य में इतना विस्तार हो सकता है, इसकी कल्पना तो इस शोध प्रबंध को प्रस्तुत करने से पूर्व इस जन को भी नहीं थी।

विषय-विभाजन

इस प्रबंध को दो खण्डो एवं दस परिच्छेदो मे विभाजित किया गया है। भूमिका-खण्ड को चार परिच्छेदों एव व्याख्या-खण्ड को छह परिच्छेदो में विभाजित करके विषय का प्रस्तुतिकरण किया गया है।

भूमिका-खण्ड मे रीतिकालीन शब्दालंकार को ऐतिहासिक परिपार्श्व में देखते हुए चार परिच्छेदो मे उसकी पूर्वपीठिका प्रस्तुत की गई है। प्रथम परिच्छेद मे विभिन्न काव्य शास्त्रीय सम्प्रदायों का तुलनात्मक विवेचन करके शब्दालंकार की व्यापकता को प्रदर्शित किया गया है। द्वितीय परिच्छेद अलकार के लक्षण एव वर्गीकरण से सम्बन्धित है, जिसमें अलंकार लक्षण-विवेचन की तीन शैलियों का परिचय देते हुए उनके औचित्य का विश्लेपण किया गया है। अलकारो की सख्या तथा उसके वर्गीकरण को स्पष्ट करते हुए अलकार के तीनों भेदों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित किया गया है। तृतीय परिच्छेद में शब्दालंकार की उत्पत्ति से सम्बन्धित प्रचलित मान्यताओं एवं आधारों का निर्देश करते हुए शब्दालंकार का लक्षण-निरूपण किया गया है। संस्कृत तथा हिन्दी में मान्यता प्राप्त शब्दालकारों के औचित्य का विवेचन करते हुए उनके तीन वर्ग रीतिकालीन शब्दालकार, रीतिकालोत्तर

शब्दालंकार एवं अन्य शब्दालंकार के नाम से बताये गए है। चतुर्थ परिच्छेद में संस्कृत काव्य-शास्त्र के शब्दालंकार सम्प्रदाय का ऐतिहासिक कालक्रमानुसार विवेचन किया गया है। इस प्रकार भूमिका-खण्ड में रीतिकाल के शब्दालंकारों की सम्पूर्ण पृष्ठ भूमि को विस्तार एवं वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

व्याख्या-खण्ड के अन्तर्गत पंचम परिच्छेद से लेकर दशम परिच्छेद तक रीतिकालीन काव्य में शब्दालंकार की सर्वांगीण विवेचना प्रस्तुत की गई है। पंचम परिच्छेद में रीतिकालीन प्रवृत्तियों एवं परिस्थितियों को ऐतिहासिक परिपार्श्व में प्रस्तुत किया गया है। षष्ठ परिच्छेद में रीतिकालीन सात शब्दालंकारों का अलग-अलग विश्लेषण किया गया है। अनुप्रास, यमक श्लेष, प्रहेलिका, चित्र, पुनरुक्तवदाभास एवं वक्रोक्ति को संस्कृत एवं रीतिकालीन आचार्यों के द्वारा निर्मित कसौटियों पर कसा गया है तथा यथास्थान उनके उदाहरण भी दिये गए हैं। रीतिकालीन काव्य में चित्रालंकार को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है, एतदर्थ इस शोध प्रबंध मे उसका सविस्तार विवेचन किया गया है। सप्तम परिच्छेद में रीतिकालीन शब्दालंकारों की स्थिति को ऐतिहासिक क्रम से प्रस्तुत करते हुए केशव से लेकर ग्वाल तक फैली रीतिबद्ध परम्परा के प्रसिद्ध आचार्यों के रीतिग्रंथों का पर्यवेक्षण किया गया है। अष्टम परिच्छेद में रीतिसिद्ध कवियों के काव्य की सामान्य विशेषताएँ बताते हुए उनमें मुक्ता प्रवालवत् चमकते हुए शब्दालंकारों के उदाहरणों को आवश्यक टिप्पणियों के साथ प्रस्तुत किया गया है। नवम परिच्छेद में रीतिमुक्त कवियों की विरह-विदग्ध वाणी में गुम्फित शब्दालंकारों के सौंदर्य का अनुशीलन किया गया है। प्रेम की पीर में पगे उन मतवाले सरस्वती पुत्रों ने मुक्तक-रचना की जिस पगडडी का निर्माण किया था, वह उत्तर भक्तिकाल में रसखान जैसे रसवर्षक भक्त कवियों की लीलाभूमि रही और वही रीतिकालोत्तर साहित्य में छायावाद एवं रहस्यवाद के राजपथ के रूप में परिवर्तित हो गई। दशम एवं अन्तिम परिच्छेद को रीतिकाल के परवर्ती प्रभाव के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस परिच्छेद में शब्दालंकार की परम्परा को स्थाई रखने वाले तत्त्वों का निर्देश करने के पश्चात् रीतिकालोत्तर शब्दालकारो भाषासम, वीप्सा और पुनरुक्ति प्रकाश का सागोपांग विवेचन क्रिया गया है। अन्त में नवीन प्रयोग एव सम्भावनाओ की चर्चा भी की गई है।

इस शोध-प्रबन्ध का परिशिष्ट भी अपने आप में एक पूरक अध्याय है। इसमें चित्र काव्य के कतिपय आकार एव बन्ध चित्रो को रूपायित किया गया है। चित्रो को जहाँ तक हो सका है, रीतिकालीन भाव-भगिमाओ में प्रस्तुत किया गया है। साथ मे प्रयुक्त छन्द भी ससंदर्भ दे दिए गए है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध रीतिकालीन काव्य से सम्बधित शब्दलंकारों के अध्ययन का सर्वप्रथम प्रयास है। इसमें संस्कृत काव्यशास्त्र मे विवेचित शब्दालंकारो की पृष्ठ भूमि में रीतिकालीन शब्दालंकारों एवं उनके परवर्ती प्रभावों का विश्लेषणात्मक मूल्यांकन किया गया है तथा कई नवीन निष्कर्षों का उद्घाटन किया गया है। शोधार्थी का यह प्रयास विद्वज्जनों एवं अनुसन्धित्सुओं को रुचिकर लगेगा एवं इस शोध-प्रबन्ध में प्राप्त निष्कर्षो से शब्दालकार के इतिहास को एक नई गति एवं प्रेरणा प्राप्त हो सकेगी, ऐसी आशा की जाती है।

आभार-निवेदन

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध कई प्रेरणाओं का प्रसाद है। सर्वप्रथम डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी (दिल्ली) का मैं अत्यन्त ऋणी हूँ, जिन्होंने मुझे शब्दालकार—विशेषत: चित्रालकार पर शोध-कार्य करने के लिए उत्साहित किया एवं शोध-कार्य की अवधि मे जिनसे मुझे कई बहुमूल्य सुझाव प्राप्त हुए। इनके अतिरिक्त जिन विद्वानों ने व्यक्तिगत एवं पत्रादि के रूप मे मुझे निर्देश एवं सहयोग प्रदान किया उनमें डॉ० सरनाम सिंह (जयपुर), डॉ० हरवंशलाल शर्मा (अलीगढ़), कुं० चन्द्रप्रकाशसिंह (गया) और डॉ० रामसिंह तोमर (शान्तिनिकेतन) मुख्य हैं। मैं इन सभी आचार्यों का किन शब्दों मे आभार मानूँ? अहमदावाद के कई कविमित्रों एवं प्रोफेसर महोदय ने समय-समय पर उत्साहित करके मेरे मार्ग की अड़चनो को समाप्त किया है। डॉ० प्रभास शर्मा, डॉ० अरविंद जोशी, डॉ० शेखर जैन, प्रो० भगवानदास जैन एवं साहित्यालोक के समस्त कविमित्रो का मैं हार्दिक आभार मानता हूँ। केन्द्रीय विद्यालय अहमदावाद के प्राचार्य महोदय श्री मदनगोपाल की कृपा एवं अनुग्रह का प्रतिफल ही यह शोध-कार्य है, अतः आभार मानकर मैं उनके अगाध स्नेह से वंचित नही होना चाहता। गुजरात यूनीवर्सिटी के पुस्तकालय एवं महाविद्यालय, मन्दसौर (म० प्र०) के पुस्तकागार-व्यवस्थापकों का मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने मेरी हर सम्भव सहायता की है। विद्यापीठ, अहमदाबाद का पुस्तकालय तो मेरा तीर्थस्थान रहा है, जहाँ मैंने कण-कण एकत्रित करके अपनी पुष्करणी का निर्माण किया है। उन निर्जीव किन्तु मुखर पुस्तकों को मेरा सहस्र नमन !

श्रद्धेय डॉ० नगेन्द्र (दिल्ली) और प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा (पटना) ने इस शोध प्रबन्ध को परीक्षणोपरान्त उत्तम कोटि का मौलिक ग्रन्थ माना, यह मेरा परम सौभाग्य है। गुजरात यूनीवर्सिटी के भाषा-साहित्य भवन के हिंदी विभागाध्यक्ष श्रद्धेय डॉ० अम्बाशंकर नागर की

अनवरत प्रेरणा एवं मार्गदर्शन में एक सुनिश्चित अवधि में यह शोध-कार्य सम्पन्न हुआ है। उनके पिता तुल्य स्नेह की छत्रछाया में मेरा चिर अमृत मानस, शब्दालंकार जैसे शास्त्रीय एवं दुरूह विषय की गुत्थियों एवं शंकाओं को सुलझा सका है। उनके अमूल्य परामर्श, सद्-भाव तथा आशीर्वाद की सुगन्ध से मेरी शोध-यात्रा सुरभित हो गई है। उनके चरणो का परिमल ही मेरा कुबेर-कोष है।

जवाहर पुस्तकालय, मथुरा के संचालक श्री कुंजविहारी लाल पचौरी भी धन्यवाद के पात्र है, जिन्होने कम से कम अवधि में इस ग्रन्थ का प्रकाशन करके अपनी सदाशयता का परिचय दिया।

—किशोर कावरा

अनुक्रमणिका

विषयानुक्रमणिका

प्रथम परिच्छेद

शब्दालंकार : ऐतिहासिक परिपार्श्व में

एवम्

शब्दालंकार की व्यापकता

शब्दालंकार : ऐतिहासिक परिपार्श्व में

जगन्नियंता की पंचभौतिक प्रभविष्णु प्रकृति ने मनुपुत्र को, हृदय के अन्तराल में छिपे हर्ष-शोक के मुक्ताकणों को, अभिव्यक्ति के तट पर लाने के लिए शब्दों की सीपियाँ प्रदान की की हैं। जड़ प्रकृति मे भी आकर्षण-विकर्षण के नियम से कुछ ध्वनियाँ उत्पन्न होती रहती हैं, पर मनुष्य को प्राप्त ध्वनियों की जैसी अक्षर परिणति है, वैसी अन्य की नही। मनुष्य ने अशरीरी ध्वनि को शब्द के सुघड़ आवेष्टन मे प्रस्तुत करके उसे शाश्वत-साकारता दी है। इसी प्रस्तुतिकरण ने शब्द को ब्रह्म अथवा विराट-अखण्ड चेतना का पर्याय बना दिया है। आचार्य दण्डी ने शब्द को अज्ञान के अन्धकार मे प्रकाश की रश्मियाँ छिटकाने वाले सूर्य के सदृश बताया है[1]। सचमुच, शब्द मानव के हास्य एव रुदन के मौन-मुखर भारवाहक हैं।

वाणी के क्षेत्र में शब्द और अर्थ–दोनों ही पूर्णतः सम्पृक्त है, सश्लिष्ट है। बिना अर्थ के शब्द व्यर्थ है एवं बिना शब्द के अर्थ गूंगे का गुड़ है। इन्हीं भावों को कलिकुल-कलहंस महाकवि कालिदास ने अपनी प्रखर-पुनीत लेखनी मे रघुवश महाकाव्य में मंगलाचरण में इस प्रकार प्रस्फुटित किया है —

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वंदे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥[2]

मैं संसार के माता-पिता पार्वती तथा शिव की वन्दना करता हूँ, जो एक दूसरे से उतने ही संश्लिष्ट है, जितने वाणी और अर्थ।

गोस्वामी तुलसीदास जीने भी गिरा और अर्थ में जलवीचि का सम्बन्ध[3] स्थापित

---

१. इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत् भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते ॥––काव्यादर्श; १-४

२. रघुवंश; १/१

३. गिरा अरथ जलबीचिसम कहियत भिन्न न भिन्न।
बन्दहुँ सीताराम पद, जिन्हहि परमप्रिय खिन्न ॥
—रामचरितमानस; बालकाण्ड दोहा १८

करके इसी मान्यता को परिपुष्ट किया है। किन्तु कोरे शब्द और अर्थ के मेल को काव्य नही कहते । कवि की कल्पना, चमत्कारिता तथा सहृदयों को प्रमुदित करने वाला शब्द-लालित्य कविता का आवश्यक अग है । वक्रोक्तिकार ने कहा है--शब्द और अर्थ के उस संयोग को काव्य कहते है जो कवि के कल्पना कौशल से उत्पन्न चमत्कार से युक्त हो तथा सहृदयो को आनन्दित करने वाला हो।[1] अलंकारों की त्रिवेणी इन्हीं तत्त्वों का पोषण एवं उत्कर्षण करती है।

---

१. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिन ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥—वक्रोक्ति जीवितम्; १-७

प्रथम परिच्छेद

शब्दालंकार की व्यापकता

शब्द और अलंकार तत्त्व

वाणी, मनोभूमि में विचरण करने वाले विचारों को अभिव्यक्त करती है। भाषा के इसी रश्मिबंध पर साहित्य का सप्तवर्णी धनुष तना हुआ है, जिसकी सुषमा-मेखला में प्रत्येक सचेतन मानव का मन न्यूनाधिक रूप से अवश्य ही बँधना चाहता है। इस आकर्षण का मूल प्रेरक बिन्दु यदि कोई है तो वह शब्दालकार ही है और ऐसी अलंकृत वाणी वाले कवियों की अमृतवाही गीतियाँ विश्व के प्रेरक, प्रियदर्शी, जगत के चितेरे और शोभानुगामी रुद्रों को भी वश मे कर लेती है[1]।" शब्दों के सौंदर्य से काव्यानंद की अभिव्यक्ति होती है—इस शाश्वत धारणा से अलंकरण की प्रवृत्ति का विकास हुआ है। काव्य-क्षेत्र में वेदों से लेकर आज तक यही विकासधारा प्रवाहित होती हुई दृष्टिगोचर हो रही है। सम्भव है, शब्द की इसी सार्वभौम सत्ता का साकार रूप देखकर कविवरेण्यों एवं आचार्यों ने यमक, अनुप्रास आदि के द्वारा श्रव्य काव्य के तथा चित्रकाव्य के द्वारा दृश्यकाव्य के स्वरूप को हमारे समक्ष उपस्थित करने का अनुपम ऐतिहासिक कार्य सम्पन्न किया है।

शब्दालंकार साहित्य की उस प्रत्येक कृति मे मिलेगा जहाँ किसी अभिव्यक्ति के लिए काव्यकला का उन्मीलन हुआ है, जहाँ आत्मा की आत्मा के लिए व्याकुलता हो, उदय का विकास के लिए प्रयास हो। आचार्य नरेन्द्रप्रभ सूरि ने कहा है कि शब्दालंकार और अर्थालंकार—दोनों ही सरस्वती के दोनों कानों के कुण्डल है और उसकी शोभा में दोनों का समान महत्त्व है[2]। वे अन्यत्र कहते है – शब्दालकार काव्य में अनिवार्य है क्योंकि निर्दोष और गुणयुक्त काव्य भी शब्दालंकारो के अभाव में वैचित्र्य प्राप्त नहीं कर सकता[3]। आचार्य देव ने भी अनुप्रास और यमक से कविरीति को सनाथ माना है[4]। शब्दालंकारो के भाषा सम्बन्धी दाय को डॉ० रसाल ने स्वीकार किया है।

---

१. ऋग्वेद; ६-७३-७

२. शब्दालंकृतिभिः कासं सरस्वत्येककुण्डला।
द्वितीयकुण्डलार्थं तद्व्रू मोऽर्थालंकृतीरिमाः॥—अलंकार महोदधि; ८-१

३. अलंकार महोदधि; ७-१

४. शब्दरसायन; पृ० ८५

वे कहते हैं—"शब्दालंकारों से भाषा के गद्य रूप को एक ऐसा रूप प्राप्त हो गया जिसे हम तुकान्त एवं आनुप्रासिक कह सकते हैं[1]।"

वाणी के निर्झर सहस्रधा होकर प्रवाहित होते हैं। उनकी अनन्त धाराएँ होती हैं। शब्दालंकार की वनस्थली विस्तृत है, अनन्त है। अलंकारों की सृष्टि तो आज भी हो रही है अतः समस्त अलंकारों की गणना कौन कर सकता है[2]? वाणीपुत्रों ने शब्दालंकारों का कई दृष्टियों से वर्णन किया है। पर अन्त में अपनी असमर्थता ही अभिव्यक्त की है। भरत से लेकर आज तक अलङ्कार-ग्रंथों में शब्दालङ्कारों की अनेकरूपता स्वीकृत करके आचार्यों ने उनकी अनन्तता की ओर इंगित किया है।

शब्दालंकार की पृष्ठभूमि

कला आत्मा की पिपासा है और तृप्ति है अलौकिक आनन्द। शब्दालंकार कला के अधिक निकट है अत. कवियों ने आत्मा की इस पिपासा की शान्ति के लिए जो प्रयास किये वे उस अलौकिक आनन्द के स्रोत बन गए जो शब्दालंकार के नाम से अभिहित हुए हैं। इसी पृष्ठभूमि पर शब्दालंकारों का जन्म हुआ है। शब्दालंकार की पृष्ठभूमि में कला और आनन्द का मंजुल मिलन है जो अलौकिक प्रतिभासम्पन्न सरस्वती पुत्रों की लेखनी की ओट मे उल्लास को जन्म देता है।

अलंकारशास्त्र और शब्दालंकार

(क) काव्यशास्त्र या शब्दालंकार ?

अलंकारशास्त्र की प्राचीनता सर्वविदित है किन्तु कुछ आचार्यों द्वारा उसे काव्यशास्त्र की संज्ञा दी गई। काव्यशास्त्र के इतिहास से यह सत्य स्पष्ट हो जाता है कि काव्यालोचन करते समय आचार्यों-कवियों की दृष्टि प्रारम्भ से ही अलंकार विवेचन की ओर रही है। प्रायः दो हजार से भी अधिक वर्षों से काव्यशास्त्र अलंकारशास्त्र के रूप में ही ज्ञात रहा है। इसी तथ्य को डॉ० भागीरथ मिश्र ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"काव्य के विविध स्वरूपों का व्यापक विवेचन करने वाले नाट्यशास्त्र, काव्यालंकार, काव्यादर्श, ध्वन्यालोक, काव्यमीमांसा, काव्यप्रकाश प्रभृति ग्रन्थों को अलंकारग्रन्थों के नाम से ही निर्दिष्ट किया जाता है और इन सभी के विषय को अलंकारशास्त्र की संज्ञा दी जाती है[3]।

---

१. अलंकार पीयूष (पूर्वार्द्ध); पृ० १८४

२. ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति।—काव्यादर्श; २-१

३. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास—डॉ० भागीरथ मिश्र; पृ० ३-४

अतः अग्रिम पृष्ठों में काव्यशास्त्र का अलंकारशास्त्र के नाम से ही उल्लेख किया गया है।

(ख) अलंकारशास्त्रों के प्रणयन की पृष्ठभूमि—

काव्य-ज्ञान के लिए शास्त्र उतना ही आवश्यक है जितना अँधेरे में पड़ी हुई वस्तु के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए दीपक। वस्तुतः शास्त्र और काव्य कविताकामिनी के दो कक्ष हैं—एक शृंगार के लिए दूसरा अभिसार के लिए।

शास्त्र निर्माण के मूल में विभिन्न उद्देश्य होते हैं। कुछ लोग यश प्राप्त करने के लिए, कुछ अपने बुद्धि कौशल को प्रकट करने के लिए, कुछ अपनी स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए और कुछ जडजनों के उपकार के लिए शास्त्र-प्रणयन करते हैं। विद्वत्प्रीति या चित्त-विनोद भी इस आर्ष पुरुषार्थ के हेतु बनते हैं। तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक अथवा धार्मिक परिस्थितियाँ भी शास्त्र-निर्माण के मूल में रहती हैं। अपने आश्रयदाता के यशोगान अथवा अपने आराध्य देव की स्तुति के रूप में भी ऐसे प्रयास होते हैं। विवेच्य काल के अलंकारशास्त्रों के प्रणयन में इन सभी हेतुओं का न्यूनाधिक रूप में पुट अवश्य रहा है।

(ग) अलंकारशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय और शब्दालंकार

ऐतिहासिक पर्यवेक्षण

संस्कृत में "अलंकारशास्त्र" का प्रयोग काव्य के सम्पूर्ण एवं विभिन्न अंगों के काव्यशास्त्रीय विवेचन के लिए किया जाता रहा है।[1] भारतीय आचार्यों ने काव्य के प्रमुख तत्त्वों–रस, अलंकार, गुण–रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य आदि को अपनी मान्यताओं के अनुरूप सिद्ध करके विभिन्न सम्प्रदायों को जन्म दिया है। अलंकारशास्त्रों के अनुशीलन से भी यही सिद्ध होता है कि काव्य की आत्मा का विवेचन करने के लिए आलंकारिकों ने जो गवेषणा की, उसके फलस्वरूप उपर्युक्त तत्त्वों की उपलब्धि हुई। ये सम्प्रदाय विभिन्न काल में हुई विभिन्न समीक्षाओं के परिणाम हैं।

विशिष्ट शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य को जन्म देते हैं। शब्द और अर्थ की यह विशेषता तीन प्रकार की हो सकती है—(१) धर्ममूलक वैशिष्ट्य (२) व्यापारमूलक वैशिष्ट्य और (३) व्यंग्यमूलक वैशिष्ट्य। धर्ममूलक वैशिष्ट्य दो प्रकार का हो सकता है—

---

१. बिहारी—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र; पृ० २

नित्य और अनित्य। नित्यधर्म का अभिप्राय गुण से है और अनित्य धर्म का सम्बन्ध अलंकार से है। इस प्रकार इस धर्ममूलक वैशिष्ट्य ने दो सम्प्रदायों को जन्म दिया— अलंकार सम्प्रदाय और गुण अथवा रीति सम्प्रदाय।

व्यापारमूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का है वक्रोक्ति और भोजकत्व। इनसे दो सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई—कुन्तक द्वारा प्रतिपादित वक्रोक्ति सम्प्रदाय और भट्टनायक द्वारा अनुमोदित भोजकत्व जो भरत के रस सम्प्रदाय का ही अंग था। व्यंग्यमूलक वैशिष्ट्य ने ध्वनि सम्प्रदाय को जन्म दिया। इन पाँच सम्प्रदायों के अतिरिक्त छठा सम्प्रदाय औचित्य का है, जिसकी प्रतिष्ठा आचार्य क्षेमेन्द्र ने की।

उपर्युक्त छहों सम्प्रदायों को दो पक्षों में बाँटा जा सकता है—(१) विधान पक्ष और (२) वस्तु पक्ष। विधान पक्ष के अन्तर्गत अलंकार, गुण या रीति, वक्रोक्ति सम्प्रदायों का समावेश होता है और वस्तु पक्ष में रस, ध्वनि एवं औचित्य सम्प्रदाय आजाते हैं। इसमें पहला पक्ष - विधान पक्ष—अलंकार सम्प्रदाय का ही विस्तार है। अतः शब्दालंकार प्रथम पक्ष से मुख्यतः एवं द्वितीय पक्ष से गौणतः सम्बन्धित है।

अब हम क्रमशः सभी सम्प्रदायों का शब्दालंकार से सम्बन्ध-परीक्षण करेंगे।

(१) विधान पक्ष :

(क) अलंकार सम्प्रदाय और शब्दालंकार

यह तो इस प्रबन्ध का वर्ण्य विषय ही है जो यथास्थान निरूपित किया जाएगा। अतः यहाँ इस विचार-सरणी में इसका सामान्य विवेचन ही करेंगे।

'अलंकार-क्षेत्र की तीन अवस्थाएँ है—आदिम स्थिति में अध्येताओं को काव्य के प्रभावक धर्म का केवल एक ही रूप ज्ञात था जिसको वे अलंकार कहते थे, विकसित स्थिति, में अलंकार शब्द का अर्थ—विस्तार हुआ और सौन्दर्य मात्र का नाम अलंकार पड़ गया। तीसरी अवस्था में अलंकार का क्षेत्र संकीर्ण बन गया।'[1] सैद्धान्तिक दृष्टि से अलंकार सम्प्रदाय में शब्दवादी, अर्थवादी और शब्दार्थवादी—ऐसे तीन मत समाविष्ट है। अर्थवादी आचार्यों ने केवल अर्थालंकारों को ही अपनी विवेचना का आधार बनाया है किन्तु ऐसे आचार्य अंगुलिगण्य है। अधिकांश आचार्य अर्थालंकारों को भी शाब्दिक सौन्दर्य की दृष्टि से आवश्यक समझते है। भोज ने कहा है-·यदि काव्य में अनुप्रास (शब्दालंकार)

---

१. हिन्दी अलंकार साहित्य; पृ० १

का लेश भी हो तो उपमा आदि के रहित होने पर भी वह शोभा प्राप्त करता है।[1] डॉ० रामकुमार वर्मा ने अर्थालकार को भावो की मुस्कान कहा है तो साथ ही शब्दालंकार को भाषा की चित्रशाला भी माना है।[2] अत. अलंकार सम्प्रदाय में शब्दालकार और अर्थालंकार का समान महत्व है।

(ख) रीति-गुण सम्प्रदाय और शब्दाशंकार

"काव्य का सौन्दर्य शब्दार्थ मे निहित है और शब्दार्थ के सौन्दर्य के कारण है—अलंकार।"[3] इस प्रकार अलकार के अन्तर्गत काव्य-सौन्दर्य के सभी तत्त्व समाहित हो जाते है। इस दृष्टि से गुण-रीति आदि भी अलकार है। गुणो के तीन भेद है—(१) शब्द० गुण (२) अर्थगुण और (३) शब्दार्थ गुण। शब्दगुण मे श्लेष, समता, सुकुमारता और ओज तथा अर्थगुण में प्रसाद, अर्थाभिव्यक्ति, उदारता, कान्ति और समाधि का समावेश माना जाता है। इस प्रकार शब्द गुणों का सम्बन्ध स्पष्टत. शब्दालकारो से है माधुर्य एव प्रसाद गुण, लोकभोग्य शब्द–चयन पर ही आधारित है माधुर्य गुण, शब्दार्थ गुण माना गया है। इस प्रकार शब्दालकार के क्षेत्र मे गुणों की सत्ता विद्यमान ही है, पर दोनो में अन्तर यह है कि गुणो को नित्य धर्म माना गया है जब कि शब्दालकार अनित्य है।

दण्डी को गुण सम्प्रदाय का पोषक माना जाता है। वामन ने गुणो को रीति के अन्तर्गत मानकर रीति को ही काव्य की आत्मा माना है। वामन के अनुसार काव्य शोभाकारक शब्द और अर्थ के धर्मो से युक्त पद रचना को रीति कहते है।[4] वामन ने तीन रीतियाँ बताई—वैदर्भी, गौडीया और पाचाली। "नारीत्व की अभिव्यजक पाचाली तथा पुरुषत्व की अभिव्यंजक गौडी। इन दोनो के समन्वय से समृद्ध व्यक्तित्व की माध्यम वैदर्भी है।"[5] संस्कृत काव्यशास्त्र में वामन की ये तीन रीतियाँ मान्य रही।

शब्दालंकार और रीति—दोनों का दृष्टिकोण समान है। दोनो ही काव्य-सौन्दर्य मे शब्द की महत्ता को स्वीकार करते है। दोनो ही अलकार को काव्य-सौन्दर्य का पर्याय मानते है। किन्तु दोनो मे अन्तर यह है कि रीति सम्प्रदाय अनुप्रासादि अलकारो को गौण और गुण-रीति को प्रधान मानता है, जबकि शब्दालकार गुण–वृत्ति आदि को उपचार

---

१. सरस्वती कंठाभरण; पृ० २-१०६
२. साहित्य शास्त्र; पृ० ११८
३. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। —काव्यादर्श; ३-१
४. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। —काव्यालंकार सूत्रवृत्ति; ३-१-१
५. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (षष्ठ भाग); पृ० ९४

रूप से मानकर शब्द सौन्दर्य को प्राथमिकता देता है। इस प्रकार रीति का क्षेत्र अधिक व्यापक है जिसमे शब्दालंकार रीति का एक अंग माना जा सकता है। इतना होते हुए भी यह एक आश्चर्य की बात है कि शब्दालंकारों का महत्व तो अद्यावधि न्यूनाधिक है ही, किन्तु वामन के उपरान्त रीति सिद्धान्त प्रायः मृतप्रायः हो गया।

(ग) वक्रोक्ति सम्प्रदाय और शब्दालंकार—

आचार्य कुन्तक ने दसवी ग्यारहवीं शताब्दी में वक्रोक्ति–सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की, किन्तु इसके पूर्व ही इसका विवेचन कई आचार्यो ने किया था। अलंकारवादी आचार्य भामह ने तो सभी अलंकारो के मूल में वक्रोक्ति को स्वीकृत किया। उनका मत है कि वक्रोक्ति रहित कोई भी काव्य नही हो सकता, अतः कवियों को इसका प्रयोग सयत्न करना चाहिए।[1]

कुन्तक ने तो वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानते हुए कहा है-—कवि कर्म में कुशल–सौन्दर्य का नाम वक्रोक्ति है और सभी अलंकारो का उसमे अन्तर्भाव हो जाता है।[2] इस तरह कुन्तक ने 'सालकारस्य काव्यता' कह कर अलंकार को काव्य का अनिवार्य अग घोषित किया।[3] अतः वक्रोक्ति सिद्धान्त नाम भेद से अलंकार सिद्धान्त ही ठहरता है।

वक्रोक्ति और शब्दालकार—दोनों ही—काव्यसौन्दर्य को मूलतः वस्तुगत मानते है। दोनो में ही उक्तिवैदग्ध्य तथा कवि-कौशल का बड़ा महत्व है। दोनों मे, वर्णसौन्दर्य से लेकर प्रवन्धसौन्दर्य तक समस्त काव्यरूप, चमत्कार जन्य है। इसे हम यों कहें कि वक्रोक्ति सिद्धान्त शब्दालकार का विकसित रूप है, तो अनुचित न होगा। पर शब्दालकार मे कल्पना का सीमितरूप ही गृहीत है, जवकि वक्रोक्ति में उसका व्यापक प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त, वक्रोक्ति सिद्धान्त में काव्य के अन्तरंग का विवेचन अधिक होता है, जबकि शब्दालकार वहिरंग को तरंगित करता है। रीति सम्प्रदाय की ही तरह वक्रोक्ति भी उसके प्रतिष्ठापक के अनन्तर अन्य आचार्यों द्वारा विस्मृत कर दिया गया।

---

१. सैषा सर्वेव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्या कविता कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥ —काव्यालंकार; २-८५

२. अलंकृतिरलंकार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते।
तदुपायतहा तत्वं सालंकारस्यकाव्यता॥ — वक्रोक्ति जीवित; १–६

३. यत्रालंकारवर्गोऽसो सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति। — वक्रोक्ति जीवित; १–२०

(२) वस्तु पक्ष :

(क) रस सम्प्रदाय और शब्दालंकार—

वस्तुपक्ष के तीन सम्प्रदायों—रस, ध्वनि एवं औचित्य में रस, शब्दालंकार के बहुत निकट है। काव्यशास्त्र के इतिहास में आदि से अन्त तक रस का निरूपण किसी न किसी रूप में अवश्य हुआ है। भरत ने मूल रूप से चार रस माने हैं—शृङ्गार, रौद्र, वीर और वीभत्स। इनके बाद लगभग सात सौ वर्षों तक यद्यपि अलंकार सम्प्रदाय का महत्व रहा, फिर भी स्वयं अलंकारवादी आचार्यों ने रस की महत्ता स्थान-स्थान पर स्वीकार की। भामह और दण्डी ने अलंकारवादी होते हुए भी रस का महत्व प्रतिपादित किया।[1] रुद्रट ने रसवत् अलंकारों को अपने ग्रंथ में स्थान देकर रस को महाकाव्य के लिए आवश्यक तत्त्व माना।[2]

मम्मट रस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं। इन्होंने अनुप्रास आदि शब्दालंकारों और उपमा आदि अर्थालंकारों से रस का उपकार माना है।[3] अन्य आचार्यों ने भी अनुप्रास का रस से सम्बन्ध जोड़कर 'रसादि के अनुकूल वर्णों के प्रयोग को ही अनुप्रास अलंकार की संज्ञा दी है।[4] देव ने 'अनुप्रास रसपूर' कहकर रसवादी मान्यता का समर्थन किया है।[5] वस्तुतः अनुप्रास रसानुभूति में बहुत योग देता है। वृत्यानुप्रास का निर्माण तो रसानुभूति को दृष्टि में रखकर ही किया गया है। मधुरावृत्ति शृङ्गार, हास्य एवं

---

१. (क) युक्तंलोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्। —काव्यालंकार; १-२१
   (ख) अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरंतरम्। —काव्यादर्श; १-१८
२. काव्यालंकार (रुद्रट); १६। १-५
३. (क) उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
   हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ —काव्यप्रकाश; ८-२
   (ख) रसाद्यनुगतत्वेन प्रकृष्टो न्यासोऽनुप्रासः। —वही; (वृत्ति), ९-७९
४. अनुप्रास पद 'अनु' 'प्र' और 'आस' से मिलकर बना है। 'अनु' का अर्थ है रस के अनुकूल अर्थात् वर्णनीय रस के व्यंजक वर्णों का प्रयोग किया जाना। 'प्र' का अर्थ है उत्कर्ष अर्थात् वर्णों का प्रयोग पास-पास किया जाना और 'आस' का अर्थ है वर्णों का बारम्बार रखा जाना।' —अलंकार मंजरी; पृ० ६३-६४
५. पर पूरब पद एक से आवै अर्थ अदूर।
   अक्षर लपटे संग लौं अनुप्रास रस पूर॥ —शब्द रसायन; पृ० ८५

करुण रस मे, कोमलावृत्ति शान्त, अद्भुत और वीभत्स में तथा पुरुषावृत्ति रौद्र, वीर और भयानक रस मे सहायिका होती है। अतः यह मानना कि शब्दालंकार मे 'रस का हुलास' नही होता[1] उचित नही है।

(ख) ध्वनि सम्प्रदाय और अलङ्कार

ध्वनि सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन ने स्वीकार किया है कि काव्य की आत्मा ध्वनि है, ऐसा मेरे पूर्ववर्ती विद्वानों का भी मत है।[2] 'ध्वन्यालोक' काव्यशास्त्र के इतिहास मे एक अभिनव प्रयोग था एव उसने युग को नूतन एवं सर्वांगीण विचारधारा प्रदान की। अव तक जो सिद्धान्त थे वे प्रायः सभी एकांगी थे। ध्वनिकार ने सभी दुर्वलताओ को पहचाना और उनका निराकरण प्रस्तुत करते हुए शब्द की तीसरी शक्ति, व्यजना पर आश्रित ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया। इन्होने अलंकारो को कटकादि की भाँति अगाश्रित माना है।[3]

काव्य की ऐसी कोई विधा नही जो ध्वनि के प्रभाव-क्षेत्र से वाहर हो। उसकी सत्ता उपसर्ग और प्रत्यय से लेकर सम्पूर्ण महाकाव्य तक है। "ध्वनि-सिद्धान्त इतना व्यापक था कि उसमे न केवल पूर्ववर्ती रस, गुण-रीति, अलंकार आदि का ही समाहार हो जाता था, वरन् उनके परवर्ती वक्रोक्ति, औचित्य आदि भी उससे वाहर नहीं जा सकते।"[4] शब्दालकार का भी यदि हम विस्तृत अर्थ लें और उसके अन्तर्गत सभी प्रकार के उक्ति चमत्कार एव वैचित्र्य को माने तो उसका निकट सम्वन्ध ध्वनि से स्थापित हो जाता है। उक्ति वैचित्र्य एवं चमत्कार–गोण्य होने से शब्दालंकार ध्वनि के अत्यधिक निकट पहुँच जाता है।

(ग) औचित्य सम्प्रदाय और अलङ्कार

औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र उचित के भाव को औचित्य मानते हैं।[5] वे अलंकारो के उचित प्रयोग को काव्य भारती के पीन स्तनों पर पड़े हुए हार की

---

१. रस रहस्य, ७–४४
२. काव्यस्यात्माध्वनिरिति वुधैर्यः समाम्नात पूर्वः। —ध्वन्यालोक; १-१
३. अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत्। —वही; १-६
४. हिन्दी साहित्य का वृहद्इतिहास (षष्ठ भाग); पृ० १३०
५. उचितस्य च यो भावस्तदौचित्य प्रचक्षते। —औचित्य विचारचर्चा श्लोक ७

तरह सुशोभित मानते हैं ।[1] अलंकार की अलङ्क्रियता उसके औचित्य पूर्ण प्रयोग की अपेक्षा रखती है । इस विषय पर प्राचीन एवं अर्वाचीन काव्यशास्त्री समय-समय पर प्रकाश डालते रहे हैं । वामन के शब्दों मे आभूषणो के आदर्श प्रयोग के लिए एक ऐसा शरीर ही अधिकारी है जो हर प्रकार से सुपात्र हो । इस दृष्टि से न तो अचेतन शव अलंकारों का अधिकारी है और न किसी नारी का यौवनवन्ध्य-वपु ।[2] फिर काव्य-सौन्दर्य तो शरीर-सौन्दर्य की अपेक्षा अधिक संवेदनशील है ।

संस्कृत का काव्यशास्त्री, शब्दालकारो के अनौचित्य के विषय में अपेक्षाकृत अधिक आशंकित रहा है । यही कारण है कि दण्डी जैसे अलकारवादी ने भी अनुप्रास[3] और यमक[4] के प्रति अपनी अवहेलना प्रकट की है । आनन्दवर्धन के अनुसार यमक-निबंधन के लिए तो कवि को विशेष शब्दों की खोज करनी ही पड़ती है । सरस रचना में यमक रसको अंग बना देता है और स्वय अगी बन जाता है ।[5] शब्दालंकारों के उचित प्रयोग का अर्थ है—वे मात्र चमत्कार प्रदर्शन के लिए ही नही हों, वरन् वे काव्यबंध से समन्वित हों । इसी मे शब्दालंकारो एवं औचित्य के सम्बन्धों का औचित्य है ।

वस्तुतः औचित्य किसी सम्प्रदाय विशेष का सिद्धान्त नहीं माना जा सकता है । यह तो एक सार्वदेशीय सार्वयुगीन सत्य है । यह तो वह धागा है जो प्रत्येक कठपुतली का नियन्त्रण करता है । औचित्य का जीवन के हर क्षेत्र मे समावेश हो जाता है । यही कारण है कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इस सिद्धान्त की मन्दाकिनी भरत से लेकर अद्यपर्यन्त प्रवाहित होती चली आई है । शब्दालंकार के सेवार भी इसकी लहरों से अपने केश सँवारते आए हैं ।

---

१. अर्थौचित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते ।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा ॥ —औचित्य विचार चर्चा; श्लोक १५

२. काव्यालंकार सूत्रिवृत्ति; ३-२-२

३. काव्यादर्श; १-४३; ४४

४. तत्तु नं कान्तमधुरम्—वही; १-६१

५. ध्वन्यात्मभूत शृंगारे यमकादि निवन्धनम् ।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥ —ध्वन्यालोक; २-१५

छन्दशास्त्र एवं शब्दालंकार

काव्य कलश की सुरा का सुमधुर-मादक आस्वादन छन्दों के चषक से ही सम्भव है। भावमयी भाषा में जो स्वाभाविक गति आजाती है, छन्द उसी का वाहरी आकार है। नृत्य की तरह छन्द भी ताल और लय के आश्रित रहते है। काव्य में यदि सगीत-तत्त्व अनिवार्य माना जाता है तो उसके अंगो—स्वर, लय, यति, तुक एवं वर्णादिको का समन्वय छन्द मे हो जाता है। छन्द में की गई लय की साधना अलकारों को मुखरित करने मे पूर्ण सहायक होती है। छन्दो की इस प्रभावोत्पादकता और वर्णो की विन्यास-विलक्षणता को अलकारशास्त्र ने अपनाया।

शब्दालंकार की वृद्धि मे कविवरो ने जो-जो अभिनव प्रयोग किये उनमें छन्दो का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैसे भी काव्य की वास्तविक उद्भूति-अनुभूति छन्द के आधार पर ही मुखरित होती है। भाव कैसे भी हो, गीतिमत्ता के आवरण से पुष्ट होकर हृदय-ग्राही वन जाते है। गीतिमत्ता छन्द की आधारभित्ति है जिस पर शब्दालंकार की चित्रात्मकता रूपायित होती है। छन्द का अर्थ है—आनन्दकारी, आच्छादनकारी, अभिप्रायवाहक। छन्द एक प्रकार का रागमय साँचा है, जिसमे विठाये गए शब्द कोमलकान्त पदावली वनजाते हैं। कवि और चित्रकार इसी झकृत रेखा और वर्णमाला के वरमाल्य से भावो को वाँधकर रूप में रस और रस मे रूप प्रदान करते है। सस्कृत साहित्य में कुछ छन्द ऐसे है जो अनुप्रास आदि शब्दलंकारों पर ही अवलबित रहते हैं। भुजंगप्रयात, पंच चामर, अश्वघाटी आदि ऐसे छन्द है जो अनुप्रासादि के विना निष्प्राण से प्रतीत होते है।

हिन्दी में अनेक रसप्रवाही छन्द ऐसे है जिनमे शब्दालंकार का सहयोग नही रहे तो वे नितान्त शुष्क एवं अनुचित प्रतीत होते है। यही कारण है कि रीतिकाल मे अन्त्यानुप्रास तुक आवश्यक हो गया। दोहा, सोरठा, कवित्त एवं सवैया जैसे मुक्तक छन्द कवि-कलकठ हार वने। इन मुक्तक छन्दो में "रस के ऐसे छीटे पड़ते है कि जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रवन्ध काव्य विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता। इसी से वह राज-समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है।"[१]

शब्दालंकारो मे छन्दों का महत्त्व नाद सौन्दर्य के कारण है, चमत्कार प्रदर्शन के लिए नही। सवैया और दोहा जैसे छन्दों मे शब्दार्थो पर उतना ध्यान नहीं दिया गया है, जितना ध्वन्यात्मक लहरो को कोमल और श्रुति-सुखद वनाने पर। ऐसा करने के लिए

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास (आचार्य शुक्ल); पृ० २४७

लिए कवियों ने मुख्यतः अनुप्रास—छेक, वृत्ति, अन्त्य—और यमक का अधिक प्रयोग किया है ।[१]

अनुप्रासादि शब्दालकारों की छटा को उभारने में तो छन्दों का सहयोग रहा ही है, चित्रकाव्य की सृष्टि मे भी छन्दो का पर्याप्त योगदान रहा है । अनुलोम और विलोम पाठ द्वारा एक छन्द से दूसरे छन्द की प्राप्ति, एक पद्य के यति-विच्छेद से कई छन्दों की प्राप्ति—आदि कई गतिचित्र छन्दों में प्रभावित है । छन्दों के प्रभाव को सबसे अधिक ग्रहण किया है रीतिकालीन स्वच्छन्द धारा के रसग्राही और भावुक कवियों ने ।

दीनदयाल गिरि का एक सवैया इस दृष्टि से दर्शनीय है—

सुबरन बरन लसत कटि तट पर,
मुकुटलटक छवि कहि न परति अति ।
मुरि मुसुकनि चल चितवनि जुरिजुरि,
करति विकल वह हृदय हरति गति ।
अलक झलक करि खलत करत बसि,
मनु अलि अवलि वरहि मिलि विहरति ।
वदन सरस ससि मदन चलित लखि,
जदुपति दुति निति विचरति अतिमति ।।[२]

मनोविज्ञान और शब्दालंकार :

मनुपुत्र मे सौन्दर्यानुराग आरोपित नहीं है, वह तो सहजात है, सहजजात है । उसका सौन्दर्य प्रेम, शैशव की प्रथम मुस्कान में मकरन्द की सुवास भर देता है । प्रत्येक वालक चटकीले रंगों के खिलौने पसन्द करता है । किशोर और तरुणावस्था में यह भावना तीव्रतम हो जाती है । वह अपने शरीर, वस्त्राभूपण, भवन तथा जीवन की अन्यान्य वस्तुओं को सौन्दर्य के आवेष्ठन में देखना चाहता है । अब उसकी प्रत्येक अभिलाषा, अभिलापा का प्रत्येक कोण, कोण की प्रत्येक रेखा सौन्दर्य के नये आयामो को नापती है । उसका परिवेश उत्तरोत्तर सुन्दर बनता जाता है । यही सौन्दर्य अलंकार का पर्याय है । अथवा यों कहें कि सौन्दर्य ही अलकार[३] है तो समीचीन होगा । सौन्दर्य-सम्पादन की यह प्रवृत्ति

१. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (षष्ठ भाग); पृ० २२१

२. अनुराग वाग; छन्द ५

३. सौन्दर्यमलंकारः । —काव्यालंकार सूत्रवृत्ति; १-१-२

लोक में अलंकरण भावना और काव्य में अलंकार योजना के नाम से अभिहित होती है।

कविवर पन्त ने अलंकारों को भावो की अभिव्यक्ति का द्वार विशेष माना है। वे कहते हैं—"वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न पुलक, हावभाव है।"[1]

अलंकारो का सम्बन्ध मानव की बुद्धि और हृदय से है। जहाँ अलंकार बौद्धिक खिलवाड़ करते है, वहाँ बुद्धि का अधिकार क्षेत्र रहता है, अन्यत्र हृदय का। चित्रालंकारो में बुद्धि का साम्राज्य स्वीकार किया जाता है। वैसे भी कल्पना और आवेश की अवस्था में हमारी भाषा स्वत. अलङ्कृत हो जाती है। केवल भावयोजना अर्थालंकार और भावानुकूल वर्णयोजना शब्दालंकार कहलाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शब्दालकार नादसंगतिमूलक अलकार माने जाते है। नाद माधुर्य, मानव के चेतन एव अर्द्धचेतन मन को रस विभोर कर देता है। अनुप्रास, यमक और चित्रालकार इसी पद्धति पर आश्रित है। शब्दालकारो के मूल मे कई मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ—स्मृति, कल्पना, प्रतिभा, प्रतिमा, प्रतीकीकरण, साहचर्य्य, समीपता, विरोध आदि रहती है। श्रोताओ को भ्रम मे डालकर तथा वाद में उसकी निवृत्ति करना चमत्कार एवं आनन्द का एक साधन है। प्रहेलिका, पुनरुक्तवदाभास एवं चित्रालंकार के सभी भेद प्रभेद, मानव की इसी चमत्कार पूर्ण आनन्द की मूलभूत प्रवृत्ति को शान्त करते हैं। इस दृष्टि से शब्दालकार मनोविज्ञान का प्रायोगिक-पक्ष है।

भाव-संगोपन और शब्दालंकार

भाव-संगोपन से कौतूहल और जिज्ञासा का जन्म होता है। इससे जहाँ कवि की बुद्धि एवं विचारों की प्रौढता का परिचय मिलता है, वही पाठक-श्रोता के मानसिक स्तर एवं रुचि का भी परिज्ञान हो जाता है। किसी वात को सीधे न कहकर वक्रता से व्यक्त करना कूट कहलाता है। ऐसे काव्य में चमत्कार प्रदर्शन और पाण्डित्य निदर्शन का भाव छिपा रहता है। क्लिष्टकल्पनाजन्य काव्य भी आनन्द एवं आश्चर्य का जनक होता है, ऐसा मानकर ही आचार्यों ने इसे काव्य की कोटि में स्थान दिया। श्लेष, गूढचित्र, पुनरुक्तवदाभास तो इसी आधार पर स्थित है, चित्रालंकार के कई भेदो में भी इसका आधार लिया जाता है, जहाँ कवि अपना नाम, रचनाकाल, गुरू आदि गुप्त रखते हैं। सस्कृत के स्तुति साहित्य में यह गूढता चरम पर रही है।

---

१. पल्लव-पन्त; (भूमिका) पृ० ३२

चमत्कार और शब्दालंकार

आश्चर्य एवं विस्मय की तीव्रानुभूति की अवस्था का नाम चमत्कार है। जब पाठक काव्य पढ़ता है या सुनता है तो वह किसी भाव, स्वर या विचार से आन्दोलित होकर विस्मयातिरेक की स्थिति में पहुँच जाता है। काव्य का यही तत्त्व चमत्कार कहलाता है।

आचार्य शुक्ल ने चमत्कार के विषय में लिखा है "चमत्कार से हमारा तात्पर्य उक्ति के चमत्कार से है, जिसके अन्तर्गत वर्ण विन्यास की विशेषता, शब्दों की क्रीडा, वाच्य की वक्रता तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्भुतत्व अथवा अप्रस्तुत वस्तुओं के साथ उनके सादृश्य या सम्बन्ध की अनहोनी दूरारूढ़ कल्पना जैसे उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि में-बातें आती हैं।[1]" शब्दालंकार में चमत्कार अपने पूर्ण प्रभाव के साथ रहता है। वस्तुतः चमत्कार शब्दालंकार का प्राण है। चित्रालंकार चमत्कार के अतिरिक्त और क्या है? धनुप, खंग, मुरज, मयूर आदि बंध चित्रो में वर्णो का विन्यास चमत्कार पूर्ण शैली का ही एक प्रकार है, जो पाठक की बुद्धि को कसौटी पर कसता है तथा उसको बौद्धिक व्यायाम एवं सन्तोष का अभ्यासी बनाता है।

नादसौन्दर्य और शब्दालंकार

कवि शब्दों की उचित योजना करके सरसनाद को निनादित करता है। कभी वह आलाप और विलाप के द्वारा और कभी हुँकार, झंकार, टंकार, रणत्कार, फूत्कार आदि के माध्यम से अपनी भावाभिव्यक्ति करता है। ऐसी उक्तियों में भावातिरेक के साथ-साथ कहीं-कहीं बीजाक्षरों या गुप्ताक्षरों का भी सपुट रहता है। इस तरह नाद के माध्यम से द्वयर्थकरी क्रिया सम्पन्न होती है। अनुप्रास, यमक, काकुवक्रोक्ति, पुनरुक्ति, वीप्सा आदि शब्दालकार नादसौन्दर्य पर ही आश्रित हैं। कवि कभी काकु-कण्ठध्वनि में चातुर्य दिखाता है तो कभी बादलों की गड़गड़ाहट या युद्ध की भागदौड़-भगदड़ को शब्द प्रदान करता है। कभी वह वाद्ययन्त्रों की ध्वनियों का सहारा लेता है। ऐसी स्थिति में व्याकरण के सामान्य नियमों के पालन में कुछ शिथिलता तथा निरर्थक शब्दों की योजना की छूट भी काव्य-रचना में क्षम्य समझी जाती है।

प्रकृति और शब्दालंकार

प्रकृति की शस्य-श्यामल गोद में क्रीड़ा करने वाला तथा तथा सूर्य, चन्द्र एवं नक्षत्रों की छाया में काव्याराधना करने वाला सरस्वती पुत्र—कवि, प्रकृति के अणु-अणु में व्याप्त

---

१. चिन्तामणि (भाग); पृ० १६२

लीलाओं को भावना की भूमि पर अवतारित करता है। प्रकृति के अंचल में पलकर तथा उसके द्वारा वितरित अन्न-जल पर पालित-पोषित कवि प्रकृति से परे कैसे रह सकता है ? उसका अणु-परमाणु सभी प्रकृतिमय है। वह स्थूल प्रकृति से सूक्ष्म भावों का रस ग्रहण करता है।

प्रचलित मान्यता यह है कि प्रकृति निरूपण में शब्द्रालंकारों का प्रयोग साधक न होकर वाधक होता है, किन्तु आलोच्यकाल के कृतित्व का अवलोकन करने से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि युगीन कवियों ने प्रकृति के रूप, रस, गंध, शब्द और स्पर्श जनित सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने के लिए शब्दालंकारों का समुचित प्रयोग किया है। चित्रालकार में कमल, चन्द्र, कदली, सुमन, केतकी, गृहलता, कल्पवृक्ष आदि वन-वैभवात्मक चित्रबंध प्रकृति प्रेम के परिचायक है। इसी प्रकार ऋतु वर्णन में श्लेष बड़ा सहायक रहा है।

शस्त्रास्त्र और शब्दालंकार

प्रत्येक देश के महाकाव्यों का उद्‌भव काल 'वीरयुग' माना जाता है। वीरयुग की परिस्थितियों में वीरता, शक्ति, और साहस की प्रधानता रहती है। युद्ध में प्रयुक्त अस्त्र-शस्त्रो की ध्वनियों से काव्य गूँज उठता है। वीरयुग के पश्चात् प्रायः हर देश मे ऐसा संक्रमण काल अवश्य आया है, जब राजा और सामन्त लोग अपनी तलवारों का जौहर भूल गए और केवल राजदरबारो में सुरा, सुन्दरी और सुकवि की त्रिवेणी में निमग्न रहने लगे। यही रीतिकाल, श्रृंगारकाल या राजन्य संस्कृति का युग माना गया जिसमें शस्त्रास्त्र, युद्ध की वस्तु न होकर काव्य की वस्तु हो गए। अब कविताओ में शस्त्रों की झंकारें आतीं, धनुष की टकारे होतीं पर उसके परिणाम स्वरूप शत्रुदल मे आह! आह!! या हाय! हाय!! नही होती अपितु राजदरबारों और महफिलों में वाह! वाह!! होती। यह प्रवृत्ति उस युग में रचे गए काव्यों में अनुप्रास और यमक से आगे बढ़ कर चित्र पद्धति में प्रविष्ट कर गई। धनुष, गदा, खड़ग, चर्म, चक्र, त्रिशूल, परशु, नागपाश, कटार आदि वन्ध चित्रो के द्वारा संग्राम की अचेतन कुंठा को काव्यानंद में डुबो कर कवि-कलाकार युगवोध का नया मापदण्ड उपस्थित करने लगे।

आभरण और शब्दालंकार

अपने शरीर को वनप्रदेश या भवन का प्रतिरूप मानकर उसे सजाने की प्रवृति आदिकाल से रही है। धार्मिक दृष्टि से साकार ईश्वर की उपासना करने वाले भारतीय कवि-कलाकारो के लिए देवताओं के आभूषण भी प्रेरणादायक थे। वेदों मे तो देवताओं के

नाम निर्धारण की पद्धति उनके आभरणों के आधार पर ही मानी जाती है। कवियों ने अपनी वाणी को काव्य शास्त्रीय अलंकारों से सजाना प्रारम्भ किया। कंकण-किंकिणी जैसे अनुप्रास, कई लड़ों में पहनी जाने वाली मालाओं के समान यमक, पुनरुक्ति और वीप्सा· विभिन्न रत्नों एवं स्वर्णों से बने मणिकांचनवत् सुशोभित होने वाले वलय-अंगदों के समान श्लेष, पुनरुक्तवदाभास, भाषासम रूपी आभूषणों से कवितावनिता का शृंगार करने पर भी कवि चुप नहीं रहा। उसने लौकिक आभूषणों को भी चित्रकाव्य के माध्यम से प्रस्तुत करना प्रारम्भ कर दिया। हार, छत्र, माला, कंकण, छड़ी, मुकुट आदि आभूषण चित्रकाव्य के बन्धचित्रों की शोभा बढ़ाने लगे। वस्तुतः आभरण और शब्दालंकार चित्रकाव्य के माध्यम से एक दूसरे में विलीन हो गए।

लोक जीवन और शब्दालंकार

शब्द पुत्र कवि युग का, समाज का और जन-जन का प्रतिनिधि होता है। वह होता है दर्पण उस विचारधारा का जो जनमानस में प्रवाहित होती है। वह होता है ऐसा प्रति-बिम्ब, जो उसका न होकर उसके परिवेश का होता है। शब्दालंकारों के निरूपण में भी सामान्य जीवन की, लोक जीवन की झाँकियाँ मिलती हैं। तथाकथित आश्रयदाताओं—राजामहाराजाओं—के अतिरिक्त भी एक वर्ग और था जो कवि के काव्य का मूल्यांकन करता था। यही कारण है कि चूल्हा, चक्की और सूप की बात करने वाले कबीर से लेकर नोन, तेल और लकड़ी की चर्चा करने वाले आज के कवि तक सभी लोकजीवन के चितेरे हैं। चित्रकाव्य में बन्धचित्रों के लिए चौपड़, शतरंज, चटाई, चौकी, सीढ़ी, मगोना आदि जीवन की नगण्य समझी जानेवाली वस्तुएँ भी आचार्यों की सूक्ष्म दृष्टि से नहीं बचीं। कवि ने पशु पक्षी और वाद्ययन्त्रों को कविता के आवरण में प्रस्तुत किया। लोकजीवन ने प्रहेलिका, मुकरियाँ, बुझौवल को जितना सम्मान दिया है उतना साहित्य की किसी विधा को नहीं मिला। "दैनिक-जीवन के व्यवहार में आने वाले पदार्थ ही लोक प्रहेलिकाओं के आधार होते हैं। यथा सिंघाड़ा, नाली, आरी आदि। अमीर खुसरो ने इन्हीं पदार्थों से अपनी प्रहेलिकाओं की रचना की, इसीलिए इनकी प्रहेलिकाएँ लोक में बहुत प्रचलित हैं।[१]"

अन्य शास्त्र एवं शब्दालंकार

शब्दालंकार कई शास्त्रों एवं विद्याओं की रश्मियों से युक्त होने वाला रसायन है। वाणी की किसी भी क्यारी में शब्दालंकार के मकरन्द भरे पुष्प हँसते—मुस्कराते दृष्टिगोचर

---

१. हिन्दी में शब्दालंकार—विवेचन; पृ० २३८

हो सकते है। काव्य के अतिरिक्त गद्य, नाटक, व्याकरण, कोश, न्याय, वेदान्त, ज्योतिष, आयुर्वेदादि विषयों के प्रतिपादन में भी शब्दालंकार ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। शब्दालंकार ने व्याकरण शास्त्र से शब्द-व्युत्पत्ति ; अर्थशास्त्र से विनिमय वृत्ति ; समाजशास्त्र से व्यक्ति एवं समष्टिगत मूलतत्त्व ; इतिहास एवं राजनीति से कालविशेष की राजन्य संस्कृति; गणित से अंकों के काव्यात्मक चमत्कारी प्रयोग; लोकजीवन से अश्रु-हास और दैनिक जीवन से पशु पक्षी एवं झोपडी से लेकर राजमहल तक के प्रतिबिम्ब—ग्रहण किए। चित्रकला की तूलिका से उसने चित्रकाव्य का रंगमंच तैयार किया। वस्तुतः विश्व की कोई ऐसी कला नहीं होगी जिसका शब्दालंकार से प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध नहीं। यह ऐसी धात्री है जो सभी विधाओं—विद्याओं का समभाव से पोषण करती है, शृंगार करती है और खेल खिलाती है।

शब्दालंकार—महत्व

काव्यशास्त्र के अधिकांश आचार्यों ने अर्थालंकारों से पूर्व शब्दालंकारों का विवेचन करके परोक्ष रूप से उनके महत्व को प्रतिपादित किया है। संस्कृत में आचार्य विश्वनाथ[1], विद्याभूषण,[2] अभिनव कालिदास[3] और हिन्दी में कई आचार्यों ने यथा-मण्डन कवि[4], ग्वालकवि[5] आदि ने अर्थालंकारों के पूर्व शब्दालंकारों का इसलिए विवेचन किया क्योंकि अर्थ के पूर्व शब्द की सत्ता आती है अर्थात् अर्थ शब्दाश्रित होता है। कुलपति मिश्र[6] ने भी यह तथ्य उपस्थित करके शब्दालंकारों का प्रथम विवेचन किया है। अन्य कई आचार्यों ने मुक्तकंठ से शब्दालंकार

---

१. शब्दार्थयोः प्रथमं शब्दस्य बुद्धिविषयत्वाच्छब्दालंकारेषु वक्तव्येषु।
—साहित्य दर्पण; १०-१ (अवतरणिका)

२. —शब्दस्य प्रथमं धीविषयत्वात्तद्गतास्तावदाह।
—साहित्य कौमुदी; नवम परिच्छेद (अवतरणिका)

३. अर्थप्रतीतेः शब्दप्रतीति पूर्वकत्वात् प्रथमं शब्दालंकारा निरूप्यते।
—नंदराजयशोभूषण; विलास (अवतरणिका)

४. होत सब्द ही तै अरथ, यहै चित्त में आन।
पूरब ही ताते कहौ, सब्द अलंकृत जान॥—भूषण दाम; दोहा ३

५. होत सब्द के आसरे अर्थ सुनो बुध लोग।
इमि सब्दालंकार को करो प्रथमहि जोग॥—अलंकार भ्रम भंजन; दोहा १७

६ प्रथम शब्द यातें कहै, प्रथम शब्द के साज।—रसरहस्य; ७-२

की प्रशंसा भी की है। भोज का कथन है कि जिस प्रकार ज्योत्स्ना से चन्द्रमा की और लावण्य से अंगनाओं की श्रीवृद्धि है उसी प्रकार अनुप्रास से काव्य की श्री वृद्धि होती है।[1] भोज ने श्रुत्यनुप्रास को अनुप्रास-नायक मानते हुए वैदर्भी की सनाथता इसी पर निर्भर बताई है क्योंकि वाग्देवी किसी प्रतिभा सम्पन्न कवि में ही पुण्यों के कारण अनुप्रास-शक्ति का सन्निवेश करती है[2]। नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी कहा है कि निर्दोष और गुणयुक्त काव्य भी शब्दालंकारों के अभाव में वैचित्र्य प्राप्त नहीं कर सकता[3]। रीतिकालीन आचार्य देव ने भी शब्दालंकारों से ही कवि-रीति को सनाथ माना है[4]।

शब्दालंकार काव्य की सौन्दर्य वृद्धि तो करते ही हैं, साथ ही इनका भाषाकोश की वृद्धि में भी पर्याप्त योग रहता है। डॉ० रसाल ने इन्हीं विचारों को इस प्रकार व्यक्त किया है—"(१) इनसे (शब्दालंकारों से) एकार्थवाची शब्दों की संख्या बढ़ गई और पर्यायवाचक शब्दों का एक वृहत् वृन्द भी तैयार हो गया। (२) अनेकार्थवाची शब्दों की भी संख्या बढ़ी और इससे भाषा एवं शब्दकोश का पर्याप्त संकोच हो गया। अर्थगौरव एवं अर्थों में अनेकरूपता भी आ गयी। (३) यमकादि के द्वारा कतिपय शब्द कल्पित हो गये। (४) अनुप्रासों (आद्यन्तानुप्रासों) से भी अनेक शब्द रूप-सामान्य के आधार पर (स्वर या उच्चारण साम्य से) कल्पित हो गये। यथा सदन, रदन, मदन, वदनादि। पद मैत्री या वर्णमैत्री से भी अच्छा कार्य या लाभ हुआ। इनसे भी भाषा का शब्दकोश बढ़-चढ़ गया। (५) शब्दालंकारों से भाषा के गद्य को एक ऐसा रूप प्राप्त हो गया जिसे हम तुकान्त एवं आनुप्रासिक कह सकते हैं[5]।"

निष्कर्ष

'शब्द' निराकार अव्यक्त ब्रह्म का साकार व्यक्तस्वरूप है। बिम्ब और प्रतिबिम्ब जिस प्रकार एक दूसरे के पूरक होते हैं, उसी प्रकार शब्द एवं अर्थ अन्योन्याश्रित एवं संपृक्त हैं। इस प्रकार काव्य, शब्द एवं अर्थ के उस संयोग को कहते हैं, जिसमें मानव के हास्य-रुदन के मुक्ताकण गुँथे हुए हों।

१ सरस्वती कंठाभरण; २-७६
२ वही; २-७२ तथा ७३
३. अलंकार महोदधि; ७-१
४. शब्दरसायन; पृ० ८५
५. अलंकार पीयूष (पूर्वार्द्ध); पृ० १८४

चमत्कार, नादसौन्दर्य, भाव-संगोपन एवं रसानुभूति के तत्वों से परिपुष्ट होने के कारण शब्दालंकार सरस्वती-पुत्रों का कंठहार रहा है। यह दृश्य और श्रव्य के रूप में काव्य की सभी विधाओं को समेटे हुए है। वस्तुतः शब्दालंकार साहित्य की उस प्रत्येक कृति मे मिलेगा, जिसमें आत्मा की आत्मा के लिए व्याकुलता हो, उदय का विकास के लिए प्रयास हो। शब्दालंकार की पृष्ठभूमि में कला और आनन्द का मंजुल मिलन है।

अलंकारशास्त्र के सभी सम्प्रदायों से शब्दालंकार का अन्यतम घनिष्ठ सम्बन्ध है। रस के तो घट के घट भरे पड़े हैं शब्दालंकार में। इसके अतिरिक्त शब्दालंकार के किरीट में अन्य सभी शास्त्रों के रत्न जड़ित है, साहित्य की सभी विधाओ की मणियाँ मण्डित हैं, एवं काव्य के सभी तत्वो की अलौकिक पच्चीकारी एवं नक्काशी अंकित है। प्रकृति, समाज, लोकजीवन एवं राजन्य संस्कृति के कई प्रतीक-पुत्रों की धात्री ने काव्य के आवेष्ठन में पय-पान कराया है।

शब्दालंकार की प्रशंसा प्रायः सभी आचार्यो ने मुक्तकंठ से की है। कविता-वनिता की श्री वृद्धि के साथ ही शब्दालंकारो से भाषाकोश को भी समृद्धि हुई है।

द्वितीय परिच्छेद

अलंकार : लक्षण एवं वर्गीकरण

द्वितीय-परिच्छेद

अलंकार : लक्षण एवं वर्गीकरण

अलंकार-व्युत्पत्ति

"अलंकार" जिन दो शब्दो के संयोग का प्रतिफलन है, उन्हीं मे इसकी व्युत्पत्ति का पूरा इतिहास समाहित है। 'अल' का अर्थ है 'भूषण' तथा 'कार' का अर्थ है करने वाला। अत. अलकार का सामान्य अर्थ हुआ—किसी वस्तु को विभूपित करने वाला साधन।

किन्तु व्याकरण की दृष्टि से उसकी तीन प्रकार से व्युत्पत्तियाँ की जा सकती है—(१) अलंकरोति इति अलंकार :—जो विभूषित करता है, वह अलंकार है, (२) अल क्रियते अनेनेति अलंकार :—जिसके द्वारा विभूषित किया जाय, वह अलंकार है, और (३) अलंकरणम् इति अलंकार :—आभूपण ही अलंकार है। प्रथम व्युत्पत्ति मे अलकार कर्ता है, दूसरी में करण और तृतीय में वह स्वतत्र धर्म या व्यापार है, जो ध्वनि आदि से अपने को अलग करता है।

प्रयोग की दृष्टि से 'अलंकार' शब्द तीन अर्थों में दृष्टिगोचर होता है—

(१) सामान्य अर्थ में—इस अर्थ में इसे समस्त सौन्दर्य का पर्याय माना गया है। वामन ने अलंकार का यही व्यापक अर्थ स्वीकार किया है।[1]

(२) काव्यगत अर्थ में—इस रूप में, कोव्य के सम्पूर्ण सौन्दर्यवर्धक तत्त्व यथा सन्धि, सन्ध्यंग वृत्ति, वृत्यंग, लक्षण आदि आजाते है। काव्य की सीमाओं में बाँधकर दण्डी ने इसी अर्थ को[2] अपनी स्वीकृति दी।

(३) काव्यशोभाकर—साधन के अर्थ में—इस दृष्टि से विशिष्ट शब्द योजना तथा चमत्कार मूलक अनुप्रास, यमकादि काव्यशोभाकर साधन ही अलंकार है। काव्य मे

---

१. सौन्दर्यमलंकारः।—काव्यालंकार सूत्रवृत्ति; १-१-२

२. यच्च सन्ध्यंगवृत्यंग लक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः। —काव्यादर्श; २-३६७

अलंकार का यह मम्मट सम्मत अर्थ है, जिसमें उन्होंने हारादि के समान अलंकार को भी श्री वृद्धि का साधन माना है।[1]

संस्कृत एवं हिन्दी काव्यशास्त्र में मम्मट द्वारा प्रयुक्त अर्थ ही रूढ़ हो गया।

अलंकार लक्षण—विवेचन की तीन शैलियाँ

अलंकार की पूर्वोक्त व्याकरण सम्मत तीनों व्युत्पत्तियों के आधार पर संस्कृत एवं हिन्दी में अलंकार–विवेचन की तीन शैलियाँ—तीन धाराएँ प्रचलित है—

(१) अनिवार्य तत्त्वमूलक निरूपण-शैली

इस धारा के प्रवर्तक भामह है, जो अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व घोषित करते है। उनका कथन है कि सुन्दर होते हुए भी रमणी का मुख अलंकारों के बिना शोभा नही पाता।[2]

संस्कृत काव्यशास्त्र में इस शैली के पोषक आचार्यों में दण्डी[3], अग्निपुराणकार[4], वाग्भट (प्रथम)[5], नरेन्द्रप्रभ सूरि,[6] जयदेव[7] है, जिन्होंने अलंकार के बिना काव्य को शून्य, शुष्क एवं अशुभ माना है। इनकी दृष्टि में अलंकार रहित सरस्वती विधवा है। ये आचार्य अलंकारवादी है और अलंकार सम्प्रदाय के सशक्त स्तम्भ है।

रीतिकालीन हिन्दी आचार्यों में केशवदास[8] एवं रीतिकालोत्तर आचार्यों में

---

१. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ —काव्यप्रकाश; ८-२

२. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्। —काव्यालंकार (भामह); १-१३

३. काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते। —काव्यादर्श; २-१

४. अर्थालंकाररहिता विधवेव सरस्वती। —अग्निपुराण; ३४२-२

५. दोषैर्मुक्तं गुणैर्युक्तमपि येनोज्झितं वचः।
स्त्रीरूपमिव नो भाति तं वुवेऽलंक्रियोच्चयम्॥ —वाग्भटालंकार; ४-१

६. शब्दालंकृतिभिः कामं सरस्वत्येक कुण्डला।
द्वितीयकुण्डलार्थं तद्व्रभोऽर्थालंकृतीरिमाः॥ —अलंकार महोदधि; ८-१

७. अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृति।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥ —चन्द्रालोक; १-८

८. जदपि सुजाति सुलक्षणी सुवरन सरस सुवृत्त।
भूषण विनु न विराजई कविता वनिता मित्त॥ —कविप्रिया; ५-१

गुलाबसिंह,[1] मुरारिदान[2] आदि ने अलंकार-निरूपण की भामह निरूपित शैली को ही अपनाया।

(२) काव्यशोभाकरसाधनमूलक शैली

इस शैली के प्रवर्तक, रस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य मम्मट माने जाते हैं। इनका कथन है कि अनुप्रास आदि शब्दालंकार और उपमा आदि अर्थालंकार शब्दार्थ के द्वारा रस का उपकार उसी प्रकार करते हैं, जिस प्रकार हारादि शरीर के सौन्दर्य में वृद्धि करते हैं।[3]

मम्मट की अलंकार विषयक यह मान्यता ही अधिकांश संस्कृताचार्यों ने स्वीकृत की। हेमचन्द्र[4], विद्याधर[5], विश्वनाथ,[6] आदि ने अलंकार को सौन्दर्यातिशय का साधन माना है।

रीतिकालीन आचार्यों में चिन्तामणि[7], भिखारीदास[8], रूपसाहि[9] आदि ने भी

---

१. जाति रीति लक्षण बरन, रस सुन्दर जुत होय।
भूषन बिन भूषित नहीं: कविता कामिनि दोय ॥ —काव्यसिन्धु; ४-१

२. वेदव्यास भगवान ने परतछ कह्यो पुकार।
कविबानी भूषण बिना, जैसी विधवा नार ॥—जसवंत जसोभूषण; आकृति २; (अलंकार विचार)

३. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ —काव्यप्रकाश; ८-२

४. अंगाश्रिता अलंकाराः। —काव्यानुशासन; १-१३

५. अलंकारास्तु हारादय इव कण्ठादीनां संयोगवृत्या वाच्यवाचक रूपाणामंगानामतिशयमादधाना रसमुपकुर्वन्ति। - एकावली; ५-१ (वृत्ति)

६. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादिनुपकुर्वन्तोऽलंकारस्तेऽङ्गदादिवत् ॥ — साहित्यदर्पण; १०-१

७. अलंकार ज्यों पुरुष को, हारादिक मनमानि।
प्रासोपम आदिक बितत,अलंकार त्यों जानि ॥ —कविकुलकल्पतरु; २-४

८. अनुप्रास उपमादि, शब्दारथालंकार।
ऊपर से भूषित करैं, जैसे तन को हार ॥ —काव्यनिर्णय; १६-६६

९. उपमादिक करि होत जहँ, भूषित काव्य सरूप।
अलंकार सो नारि को, ज्यौं आभरन अनूप ॥ —रूपविलास; १२-१

अलंकार को रस के उपकारक, पोषक और उत्कर्षकारक काव्यांग के रूप में मान्यता दी है। रीतिकालोत्तर अलंकार ग्रन्थों में यह धारा लुप्त सी दृष्टिगोचर होती है।

(३) ध्वनि से भिन्न चमत्कारमूलक शैली

इस धारा के आचार्य अलंकार को रस और ध्वनि से भिन्न मानते हैं। आनन्द-वर्धन को इस शैली का आदि आचार्य माना जाता है, जिन्होंने अलंकार और ध्वनि का पार्थक्य स्वीकार करते हुए अलंकार को काव्य का गौण तत्त्व स्वीकार किया।[१] पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने लक्षण मे व्यंग्य को काव्यात्मा मानते हुए कहा है—काव्यात्मा 'व्यंग्य" की रमणीयता के प्रयोजकों को अलंकार कहते हैं।[२] वैद्यनाथ सूरि ने कुवलयानन्द की टीका मे भी यही विवेचन किया है।[३] देवशंकर पुरोहित[४] ने उसी शब्दावली में रस-व्यंग्य से भिन्न चमत्कार-प्रयोजकों को अलंकार माना है।

रीतिकालीन अलंकार-विवेचक आचार्यों मे जनराज[५], गोविन्ददास (रसिक-गोविन्द)[६] तथा ग्वाल[७] आदि ने अलंकार को रस और व्यंग्य से भिन्न मानते हुए इसी तृतीय शैली की परम्परा का निर्वाह किया। ये आचार्य अलंकार को अधम काव्य की श्रेणी में परिगणित करते हुए उसे मात्र चमत्कार का हेतु स्वीकार करते है।

---

१. ध्वन्यालोक १-२ और ३

२. काव्यात्मनो व्यंग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलंकाराः। —रसगंगाधर; पृ० २४८

३. रसादि भिन्नव्यंग्यभिन्नत्व सति शब्दार्थान्यतरनिष्ठा या
विषयिता सम्बन्धावच्छिन्ना, चमत्कृतिजनकतावच्छेदकता
तदवच्छेकत्वमलंकारमिति""""। —कुवलयानन्द टीका; पृ० ४

४. रसादिभिन्नव्यंग्ययान्यच्छब्दार्थयोश्च या पृथक्।
चमत्कार प्रभावता तदवच्छेदकमलंक्रिया॥ —अलंकारमंजूषा; श्लोक १३३

५. अर्थ शब्द की चित्रता, व्यंग अधिक नहिं पाय।
तहाँ सु अधमकाव्य है, अलंकार ठहराय॥ —कवितारस विनोद; ८-१

६. रस ते विंगि तै भिन्न अरु सब्दार्थ के चमत्कार को प्रकट करै सो अलंकार है।
—दूषणोल्लास; पृ० ८७

७. रस आदिक तै व्यंग ते होय भिन्नता जाहि।
सब्दारथ ते भिन्न ह्वै सब्दारथ के माँहि॥ —अलंकार भ्रमभंजन; दोहा ४

इस शैली का प्रभाव रीतिकालोत्तर आचार्यों ने भी ग्रहण किया है। लछिराम[1], अर्जुनदास केडिया[2] आदि आचार्य इसी परम्परा के पोषक हैं। ये अलंकार का महत्त्व उनके मात्र अलकार होने में ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि चमत्कार-धर्मी अलकार, इनकी दृष्टि में काव्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं है।

अलंकार लक्षण निरूपण की अन्य शैलियाँ

ऊपर विश्लेषित तीन प्रमुख शैलियों के अतिरिक्त हिन्दी के कई आचार्यों ने अपने स्वतन्त्र एवं मौलिक मतों का उद्घाटन भी किया है। इन आचार्यों ने संस्कृताचार्यों की अलंकार विषयक मान्यताओं को नये ढंग से एवं नवीन शब्दावली में प्रस्तुत किया है किन्तु उनकी शैलियों को नहीं अपनाया। ये सभी आचार्य प्रायः रसवादी हैं एवं अलकार को रस का उपकारक तत्त्व स्वीकार करते हैं। रीतिकालीन आचार्यों में कुलपति मिश्र[3], पदुमनदास[4], देव[5] आदि ने अलकार के स्वतन्त्र लक्षण दिये हैं। रीतिकालोत्तर आचार्यों ने स्वतन्त्र लक्षण-विवेचकों के दो वर्ग बनाये जा सकते हैं। प्रथम वर्ग अलंकार को संक्षिप्त परिभाषा के आवरण में प्रस्तुत करने वाले आचार्यों का है। जगन्नाथप्रसाद भानु[6], मिश्रबन्धु[7] आदि ऐसे ही विवेचक हैं जिन्होंने अलकार का संक्षिप्त लक्षण देकर उसके किसी एक ही तत्त्व की ओर इंगित कर दिया है। ऐसी परिभाषाओं में संक्षिप्तता के अतिरिक्त और कोई नूतन तत्त्व नहीं है।

द्वितीय वर्ग विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करने वाले आचार्यों का माना जा सकता है, जिन्होंने परम्परावादी आचार्यों की अपेक्षा अलकार की सुनियोजित एवं विस्तृत व्याख्या

१. वचन छन्द बर व्यंग्य में बिलग चमक परिमान।
 भूषनवत पद अर्थ में, अलंकार अनुमान॥ —रामचन्द्र भूषण; दोहा ३
२. भारती भूषण; पृ० ४
३. रसहि बढावे होय जहँ, कबहुक अङ्गनिवास।
 अनुप्रास उपमादि है, अलंकार सुप्रकास॥ —रसरहस्य; ८-१३
४. चमत्कार जेहि में विविध अलंकार सो होय। —काव्यमंजरी; १०-१
५. शब्दरसायन; पृ० ६४
६. जो काव्य की शोभा बढावे वही अलंकार है।—काव्यप्रभाकर; पृ० ४७२
७. जिनसे शब्द या वाच्यार्थ की शोभा बढ़े उसे अलंकार कहते हैं।—साहित्यपारिजात; पृ० ८७

प्रस्तुत की। इन आचार्यों ने संस्कृत एवं हिन्दी के पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षणो की आलोचनाएँ प्रस्तुत करके नवीन स्थापनाएँ-मान्यताएँ स्वीकार की हैं, अतः इन्हे पुनराख्याता विवेचक[1] भी कहा जाता है।

इन आचार्यों मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० नगेन्द्र एव डॉ० रामकुमार वर्मा के मतों एवं व्याख्याओ को हम नीचे दे रहे हैं—

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—"वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी-कभी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ाकर दिखाना पडता है। कभी उसके रूप, रङ्ग या गुण की भावना को उसी प्रकार के और रूप-रङ्ग मिलाकर तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्म वाली और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। कभी-कभी बात को घुमा-फिरा कर कहना पडता है। इस प्रकार के भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग अलकार कहलाते है।"[2]

डॉ० नगेन्द्र—"अलकार की व्युत्पत्ति वैयाकरण दो प्रकार से करते हैं—'अलंकरोतीति अलकार' अर्थात् जो सुशोभित करता हे वह अलकार है, अथवा "अलक्रियतेऽनेनेत्यलकारः' अर्थात् जिसके द्वारा किसी की शोभा होती है, वह अलंकार है। साधारणतः दोनो का आशय एक ही है, परन्तु पहले अर्थ मे अलंकार कर्ता या विधायक है, दूसरे में करण-साधन है। वास्तव में अलंकार के विकास में ये दोनो व्युत्पत्ति—अर्थ अपना-अपना महत्व रखते है। व्युत्पत्ति-अर्थ में अन्तर इस बात का द्योतन करता है कि अलकार किस प्रकार काव्य मे विधायक पद से स्खलित होकर साधन मात्र रह गया। अलकार के सर्वमान्य अर्थ को दृष्टि मे रखते हुए दूसरी व्युत्पत्ति ही अधिक सगत है, जिसके अनुसार अलंकार काव्य की शोभा का साधनमात्र है।"[3]

डॉ० रामकुमार वर्मा—"वस्तुतः अलंकारों का प्रयोग भाषा और भावों का सौन्दर्य-दृष्टि से संचय करने मे तथा उनके द्वारा जीवन के कार्य-व्यापारो को आकर्षक बनाने मे है। इन प्रयोगों को इसीलिए 'अलंकार' नाम दिया गया कि उनसे भाषा और भावो की नग्नता दूर होकर उनमे सुषमा और सौन्दर्य की सृष्टि होती है।[4]

इन पुनराख्याता समालोचकों एवं व्याख्याताओ के मतों की समीक्षा करने पर सहज उपलब्धि यह होती है कि शैली एवं विषय को प्रस्तुत करने के विधान की दृष्टि से ये अन्य

१. हिन्दी में शब्दालंकार-विवेचन, पृ० २६
२. चिन्तामणि (प्रथम भाग); पृ० १८१
३ रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ८८
४. साहित्य-शास्त्र, पृ० ११८

सस्कृत एवं हिन्दी आचार्यों से अधिक स्पष्ट एवं मौलिक है। अन्ततः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अलंकार-लक्षण की जो परम्परा सस्कृत आचार्यों ने स्थापित की उसी का पिष्टपेषण रीतिकालीन आचार्यों ने किया। रीतिकालोत्तर आचार्यों में भी पूर्ण मौलिकता का अभाव है। इन्होने अलंकार-लक्षण मे या तो सस्कृताचार्यों की शब्दावलियो को ही हिन्दी मे प्रस्तुत कर दिया या उनके भावों को पचा कर उसे नये परिवेश में उपस्थित कर दिया। अलकार-लक्षण की परिधि मे से अशतः वहिर्गमन करने का साहस, पुनराख्याता आलोचको ने किया है। उनके लक्षणों का महत्त्व सुनियोजित व्याख्याओ के रूप में स्मरणीय रहेगा।

अलंकार संख्या

भरत से अद्यपर्यन्त, वाणी-विलास की वारिधारा ज्यो-ज्यो सूक्ष्मविवेचन के विस्तृत मैदान ने आती गई, त्यों-त्यों वह विस्तृत एव गहन होती गई। भरत ने केवल चार अलकार माने थे, भामह ने ३६, उद्भट ने ४०, रूद्रट ने ५२, भोज ने ७२, रूय्यक ने ८१, जयदेव ने १०० और अप्पय दीक्षित ने १२४ अलकारो को मान्यता प्रदान की। "अलंकारों के उत्तरोत्तर वढ़ाने के लोभ का परिणाम यह हुआ कि वे वस्तुगत वर्णन भी अलकार नाम से पुकारे जाने लगे जिनका सम्बन्ध अलकार्य (रस) को किसी रूप मे अलंकृत करने के साथ नहीं है[1]।"

हिन्दी का अलंकार साहित्य संस्कृत का उपजीवी है—यह सत्य है, किन्तु हिन्दी के आचार्यों ने अपनी बुद्धि, काव्य एवं भाषा की आवश्यकता को देखकर उसमे कुछ अलंकार घटा-वढा दिये और कुछ के लक्षणो में अपनी प्रज्ञा के अनुसार संशोधन अथवा परिवर्तन-परिवर्धन कर दिये। यही कारण है कि अलकारो की सख्या भी घटती-वढ़ती रही है। केशव ने ३७ अलंकार माने, जसवन्तसिह ने १०४, मतिराम ने ६७, भूषण ने ८५ और देव ने ३६ अलंकारो का विवेचन किया। भिखारीदास ने १०८ अलंकार गिनाकर उनका वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया।

अत. अलकारो की संख्या का निर्धारण करना एक दुर्गम कार्य है क्योकि प्रायः कोई दो आचार्य भी इस विषय में एक मत नहीं है।

अलंकार-वर्गीकरण : तीन भेद

महर्षि भरत ने 'शब्दाभ्यासस्तु यमक'[2] कहकर यमक के शब्दालंकार होने का संकेत

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (षष्ट भाग); पृ० ६६

२. नाट्यशास्त्र; १६-५६

किया है। इससे स्पष्ट है कि भरत से पूर्व ही अलंकारों का शब्दमूलक वर्गीकरण हो चुका था। आचार्य भामह ने पूर्ववर्ती आचार्यो के दो वर्गो का नामोल्लेख किया है, जिसमे एक वर्ग शब्दालकार को महत्व देता है और दूसरा अर्थालंकार को[1]। सर्व प्रथम आचार्य वामन ने शब्दगत और अर्थगत वर्गीकरण का उल्लेख करते हुए यमक और अनुप्रास को शब्दालंकार मानकर उनका प्रथम विवेचन किया[2]। आचार्य भोज ने शब्द, अर्थ एवं शब्दार्थ के आधार पर अलकार के तीन भेद किये—वाह्य, आभ्यान्तर और बाह्याभ्यान्तर।[3]

मम्मट ने अन्वयव्यतिरेक सिद्धान्त पर अलंकारों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया। 'अन्वय' का अर्थ है, जिसके रहने पर जो रहे और व्यतिरेक का अर्थ है, जिसके न रहने पर जो न रहे।[4] इस सिद्धात के अनुसार किसी शब्द विशेष के रहने पर अलंकार विशेष रहे और न रहने पर न रहे तो उसे शब्दालकार कहा जायगा और यदि शब्द परिवर्तन करने पर भी अलकार बना रहे तो उसे अर्थालंकार कहा जायेगा। दोनो स्थितियो के रहने पर उभया-लकार होगा।

आचार्य-रूय्यक ने आश्रयाश्रयिभाव के आधार पर अलंकार वर्गीकरण प्रस्तुत किया एवं मम्मट के वर्गीकरण को अशुद्ध माना। रूय्यक के मतानुसार जो अलंकार जिस पर आश्रित है वह उसका अलंकार होता है। अर्थात् यदि अलंकार शब्द पर आश्रित है तो शब्दालकार, यदि अर्थ पर आश्रित है तो अर्थालंकार और शब्द तथा अर्थ दोनों पर आश्रित होने पर उभयालंकार होगा।[5] लौकिक आभूषणो की चर्चा करते हुए रूय्यक ने स्पष्ट किया है कि यह सिद्धान्त उन पर भी चरितार्थ होता है। कटक हाथ का अलंकार कहलाता है क्योंकि वह हाथ पर आश्रित है। कुण्डल कानो का तथा नूपुर पैरों का आभूषण कहलाता है क्योकि वह कानों और पैरों मे पहना जाता है।[6]

---

१. रूपकादिमलंकारं वाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङा च व्युत्पति वाचां वांछन्त्यलंकृतिम्॥
—काव्यालंकार (भामह); १-१४

२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति; ४-१ (अवतरणिका)

३. सरस्वती कंठाभरण; २-१

४. योऽलंकारो यदीयावन्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते स तदलंकारः।
—काव्यप्रकाश; १०-१४१ (वृत्ति)

५. अलंकार सर्वस्व; पृ० २५६-२५७

६. लोके हि योऽलंकारो यदाश्रितः स तदलंकारतयोच्यते; यथा कुण्डलादि. कर्णाद्याश्रितस्तदलंकारः।—वही; विवृत्ति); पृ० २५७

उपरोक्त दोनों सिद्धान्तों से अलंकारों के शब्दगत, अर्थगत और उभयगत वर्गीकरण में कोई अन्तर नहीं आता। अतः मम्मट का सिद्धान्त ही लेखक की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उत्तरवर्ती सभी आलकारिकों ने मम्मट-सम्मत अलंकारों का वर्गीकरण मान्य किया है। हिन्दी में भी मम्मट के सिद्धान्त को अधिकांश स्वीकार किया गया।

अलंकार-वर्गीकरण की दृष्टि से रीतिकालीन आचार्यों में एक ही प्रवृत्ति दिखाई देती है, अर्थात् जिन्होंने अलंकार को वर्गीकृत किया है वे इसके दो भेद—शब्दालंकार और अर्थालंकार ही मानते है। जसवन्तसिंह[1], चिन्तामणि[2], कुलपति मिश्र[3] ऐसे ही आचार्य हैं। रीतिकालोत्तर आचार्यों के दो वर्ग बनाए जा सकते हैं। प्रथम वे आचार्य जो अलङ्कार के दो भेद मानते हैं। गोकुलप्रसाद[4], हरिचरणदास[5], लछिराम[6] आदि इसी वर्ग में स्थान प्राप्त करते हैं। द्वितीय, ऐसे आचार्य जो अलङ्कार के तीन भेद मानते हैं—शब्दालंकार, अर्थालंकार एव उभयालंकार। इस वर्ग के आचार्यों में जगन्नाथ प्रसाद भानु[7], अर्जुनदास केडिया[8] आदि ने

---

१. 'भाषाभूषण' में जसवन्तसिंह ने चतुर्थ और पंचम प्रकाश में क्रमशः अर्थालंकारों और और शब्दालंकारों का विवेचन किया है।

२. शब्द अर्थ गति भेद सों अलंकार द्वै भाँति। —कविकुलकल्पतरु; २-१

३. प्रथम शब्द यातै कहै प्रथम शब्द के साज।
बहुरि अर्थ के जानियो अलंकार कविराज॥—रस रहस्य; ७-२

४. अलंकार बरने सुकवि शब्दा अर्था दोइ।
—दिग्विजय भूषण, ६-१७

५. 'चमत्कार चन्द्रिका' में हरिचरणदास ने पहले अर्थालंकारों का वर्णन किया हैं एवं बाद में शब्दालंकारों का।

६. युगल भाँति परमान तिहि प्रथम अर्थालंकार।
शब्दा फिरि दूजो कहत, मत प्राचीन विचार॥—रामचन्द्र भूषण; दोहा १०

७. काव्यप्रभाकर, पृ० ४७२

८. 'यद्यपि इसके अनेक भेद होते हैं, तथापि प्राचीन आचार्यों ने इसको शब्दालंकार; अर्थालंकार और उभयालंकार—इन तीन भागों में विभक्ति करके फिर इनके अन्तर्भेद बताये हैं।' —भारती भूषण: पृ० ४

तो उभयालंकार का यही नाम दिया है, किन्तु मिश्रबन्धुओं ने इसे मिश्रालंकार[1] एव रामदहिन मिश्र ने सम्मिलित या सयुक्तालंकार[2] कहा है। ये सभी नाम उभयालंकार के नामान्तर है।

इस प्रकार संस्कृत एव हिन्दी में अलकार-वर्गीकरण में केवल दो ही मत उपलब्ध होते है—द्विभेदात्मक एव त्रिभेदात्मक। इनमे भी शब्दालंकार एवं अर्थालंकार को तो सभी ने स्थान दिया है। उभयालकार को भी नाम भेद से रीतिकालोत्तर आचार्यो ने स्वीकृति दी है।

तीन भेदों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध

शब्द की ध्वनि कर्णकुहरो का विषय है और अर्थ मनमदिर का विश्राम है। शब्द काव्य-पुरुष का स्थूल शरीर है तो अर्थ उसका अन्तर्मन। वस्तुतः सम्पूर्ण वाङ्मय शब्द और अर्थ की सत्ता से ही प्रतिभासित है। शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्धो के विषय मे सभी विद्वान एकमत है। विना शब्द के अर्थ की प्रतीति असम्भव है एवं निरर्थक शब्दों का अपना कोई महत्व नही है। इन दोनों के अभेद की स्थिति ही उभयालकार के जन्म की पृष्ठभूमि है।

शब्द का आश्रय लेकर अलंकृत करने वाला शब्दालंकार अर्थगर्भित भी होता है। इसी प्रकार अर्थालंकार अपने शब्द-शरीर के विना अस्तित्व नही पा सकता। शब्दालंकार में अर्थ का वडा महत्त्व है। चू कि विशेष शब्द में विशेष अर्थ है, विशेष ध्वनि है अतः काव्य मे रसानुकूल शब्दो का वडा महत्त्व है। भिन्न-भिन्न शब्दो में भिन्न-भिन्न अर्थच्छायाएँ होती हैं जो चमत्कारोत्पादन करती है। यदि अर्थ नहीं हो तो कविता में उनका उपयोग ही क्या? इस प्रकार शब्दालकार अर्थालंकार पर पूर्णत: अवलम्वित है। लाटानुप्रास, यमक, पुनरूक्तवदाभास, वक्रोक्ति, श्लेप आदि शब्दालंकारों में तात्पर्य की विभिन्नता समझने के लिए अर्थ का चिन्तन करना पड़ता है।

साथ ही अर्थालकारो मे परिगणित कुछ अलंकार ऐसे भी है जो शब्द सापेक्ष है।

---

१. इसके दो भेद हैं—अर्थालंकार और शब्दालंकार। कही कहीं एक ही अलंकार में शब्द और अर्थ दोनों का रंजन होता है वहाँ मिश्रालंकार कहे जा सकते हैं।
—साहित्य पारिजात; पृ० ६७

२. काव्य दपर्ण; पृ० ४२३

उदाहरणस्वरूप, उपमा में व्याकरण के प्रत्ययों एवं इवादि शब्दों की उपस्थिति रहती है। इसी प्रकार दीपकालंकार मे क्रिया और विभक्तिजन्य चमत्कार एव सहोक्ति और विनोक्ति में 'सह' और 'विना' शब्द का वैदग्ध्य शब्दालंकार एवं अर्थालकार को एक ही मंच पर उपस्थित करता है। मुद्रा, एकावली, परिसंख्या आदि भी यत्किंचित शब्दाश्रित है।

उभयालंकारो में तो शब्दालंकार की उपस्थिति बनी ही रहती है। इसी तथ्य को दृष्टि मे रखकर भोजराज ने निम्नलिखित चौबीस अलकारो को उभयालकार माना है—'उपमा, रूपक, साम्य, संशयोक्ति, अपह्नुति, समाध्युक्ति, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतप्रशंसा, तुल्ययोगिता, उल्लेख, सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तर, विशेप, परिकर, दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशयोक्ति, श्लेष, भाविक और ससृष्टि।[1]

तीनो भेदों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होते हुए भी एक विचित्र बात है। अर्थालंकार अर्थ का परिवर्तन सह सकता है, किन्तु शब्दालंकार शब्द का परिवर्तन नही सह सकता। शब्द परिवर्तन से उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है।

अलंकार क्या अलंकार्य भी है ?

अलंकार-अनुसंधित्सुओ के समक्ष यह प्रश्न कि—क्या अलंकार स्वयं अलंकार्य है ? प्रायः अनुत्तरित रह जाता है। अतः यहाँ इसकी सामान्य चर्चा अपेक्षित है।

अलकार का अर्थ है सौन्दर्यवर्धक साधन एवं अलंकार्य का अर्थ है सुशोभित होने वाला। अलकारवादी आचार्यो की दृष्टि में अलंकार स्वयं अलंकार्य भी था। अत उन्होने इनके भेद की ओर ध्यान नही दिया। सर्वप्रथम ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने रस को प्रधान मानकर—अलकार्य मानकर—उपमा आदि को अलंकार्य मानकर–उपमा आदि को अलंकार घोषित किया।[2] आचार्य कुन्तक ने तो यहाँ तक कहा कि शरीर अपना अलंकार स्वयं नहीं

---

१. उपमा रूपकं साम्यं संशयोक्तिरपह्नुतिः।
समाध्युक्ति समासोक्तिरूत्प्रेक्षाप्रस्तुतस्तुतिः॥
सतुल्ययोगितोल्लेखः ससहोक्तिः समुच्चयः।
साक्षेपोऽर्थान्तरन्यासः सविशेषा परिष्कृतिः॥
दीपकक्रमपर्यायातिशयश्लेषभाविकाः।
संसृष्टिरिति निर्दिष्टास्ताश्चतुर्विंशतिर्बुधैः॥

—सरस्वती कंठाभरण; ४-२ से ४

२. ध्वन्यालोक; २-१८

वन सकता। अत· अलंकार और अलंकार्य को एक मानना, स्वयं अपने ही कंधों पर चढ़ने का प्रयास करना है।[1]

रीतिकालीन आचार्य इस विषय में मौन ही रहे। आधुनिक हिन्दी विवेचकों एव पुनराख्याताओं के समक्ष यह विषय महत्त्वपूर्ण वन गया है, क्योंकि पाश्चात्य समीक्षकों ने अलकार और अलकार्य के पार्थक्य को स्वीकार नहीं किया है। किन्तु आचार्य शुक्ल ने कहा है—'अलंकार और अलंकार्य का भेद मिट नही सकता।........उक्ति चाहे कितनी ही कल्पना-मयी हो, उसकी तह में कोई अप्रस्तुत अर्थ अवश्य ही होना चाहिए।[2]

डॉ० गुलाबराय अलंकार को वाह्य वस्तु नही मानते। वे कहते है—"वस्तु के भीतर की चीज भी उसका अलंकार हो सकती है जैसे फूल फल के अलंकार कहे जा सकते है। कविता का सौन्दर्य अलकार और अलंकार्य की पूर्णता में है।[3]

किन्तु डॉ० नगेन्द्र इस विषय में भिन्न विचारो के है। इन्होने अलंकार और अलकार्य का भेद स्वीकार किया है। वे लिखते है—'दोनो में व्यवहारगत भेद न मानने से न केवल समस्त साहित्यशास्त्र वरन् भाषाशास्त्र और विचारशास्त्र का भी अस्तित्व लुप्त हो जाता है। विदेश के साहित्य मनीषी भी प्राय' इसी के पक्ष में है कि तत्त्व दृष्टि से अलंकार और अलंकार्य में अभेद होते हुए भी व्यवहारगत दृष्टि से दोनो मे भेद मानना अनिवार्य है[4]।"

अलंकार का महत्व

काव्यशास्त्र मे प्रत्येक आचार्य ने किसी न किसी रूप में अलंकार के महत्व को स्वीकार किया है। एक दीर्घकाल तक अलकार को काव्य-सर्वस्व के रूप में मान्यता प्राप्त हुई है। अलंकार-विवेचन की इसी प्रधानता के कारण काव्यशास्त्र अलंकार शास्त्र के नाम से अभिहित किया गया है। सस्कृत के आचार्य जयदेव ने तो यहाँ तक कहा है कि अलंकार-विहीन काव्य की कल्पना, उष्णता-रहित अग्नि की कल्पना के समान उपहास्यापद है[5]।

---

१. शरीरं चेदलंकारः किमलंकुरुतेऽपरम्।
आत्मैव नात्मनः स्कन्धेक्वचिदप्यधिरोहति॥ —वक्रोक्ति जीवित; १-१४

२. चिन्तामणि (द्वितीय भाग); पृ० २०७

३ सिद्धान्त और अध्ययन; पृ० ३५

४. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका; पृ० ३१२

५. अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥ — चन्द्रालोक; १-८

हिन्दी के जिन रसवादी आचार्यों ने अलंकारों को शरीर के आभूषणों के समान माना है, उन पर आपत्ति करते हुए आचार्य ग्वाल ने कहा है कि काव्यालंकारों की लौकिक अलंकारों से तुलना करना ठीक नहीं है, क्योंकि लौकिक अलंकार तो पहनकर उतारे भी जा सकते हैं किन्तु काव्य के अलंकारों की दीप्ति को काव्य से पृथक नहीं किया जा सकता[1]।

आचार्य शुक्ल ने अलंकार को काव्योत्कर्ष की विभिन्न प्रणालियाँ मानते हुए उनके महत्व को इन शब्दों में व्यक्त किया—'सम्पूर्ण अलंकार, चाहे वे शब्दालंकार हों अथवा अर्थालंकार, भाव या प्रस्तुत वर्ण्यवस्तु को प्रभावोत्पादक रूप में उपस्थित करने की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ हैं[2]।"

कुछ आचार्य अलंकार को महत्व न देकर भाव एवं अनुभूति की महत्ता स्वीकार करते हैं, तथा जो अलंकार रहित उक्ति में भी काव्यत्व की उपस्थिति मानते है, उन्हें उत्तर देते हुए डॉ० नगेन्द्र ने कहा है—"भाव का सौन्दर्य और उक्ति का सौन्दर्य सर्वथा दो भिन्न तत्त्व नहीं है। अनुभूति एवं अभिव्यक्ति में निश्चित पार्थक्य नहीं किया जा सकता[3]। डॉ० रामकुमार वर्मा ने अलंकारों की मनोवैज्ञानिक महत्ता स्वीकारण की है। वे लिखते हैं—"अलंकार केवल काव्य को अलंकृत करने का उपकरण ही नहीं है, वरन् वस्तु या पात्र में निहित मनोवैज्ञानिक सौन्दर्य को स्पष्ट करने का साधन भी है[4]।"

इस प्रकार आधुनिक व्याख्याताओं एवं आचार्यों ने अपनी मौलिक एवं व्यापक दृष्टि का उपयोग करके, अलंकारों के मूल में निहित मानव मन की सौन्दर्यान्वेषिणी शक्तियों का महत्त्व प्रतिपादित किया है। इनकी दृष्टि में अलंकार जड़वाद नहीं है अपितु भावाभिव्यक्ति के रंगमंच का कुशल अभिनेता है, जो विभिन्न रूप धारण करके श्रोता एवं द्रष्टाओं की मूल वासनाओं की परितृप्ति करता है।

इस संदर्भ मे हम डॉ० ओमप्रकाश के वे शब्द उद्धृत करते है जिनमें इन्होंने अलंकार को अस्थिर धर्म मानने वाले आचार्यों को मुँह तोड़ उत्तर दिया है। वे लिखते हैं—"ऐसा एक भी पद काव्य में नहीं मिलेगा, जिसमें कोई विशिष्ट रस होगा और अलंकार नहीं

---

१. हेमादिक भूषनन को ग्रहन उतारन होत।
ये भूषन तनमन दिपत, होत न जुदौउदोत। —अलंकार भ्रमभंजन; दोहा ३
२. चिन्तामणि (प्रथम भाग); पृ० १८३
३. रीतिकाव्य की भूमिका; पृष्ठ १०-११
४. साहित्य शास्त्र; पृ० ११६

होगा। मन्तव्य यह है कि अलंकारों का काव्य मे प्रयोग अस्थिर मानना अथवा अनिवार्य न मानना, काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में भ्रान्तधारणाओं का जनक बन गया है[1]"। वही वे लिखते है—"भाषा को गति, यति, चित्रात्मकता, सहजता और प्रभावोत्पादकता अलंकारो के बल से मिलती है[2]।"

वस्तुतः अलंकार काव्य का अनिवार्य तत्त्व हैं। यद्यपि यह बाहरी साधन है तथापि उनके पीछे अलकृतिकार की आत्मा का उत्साह और ओज विद्यमान रहता है। बाह्य साधन होने के कारण सर्व प्रथम इन पर दृष्टि जाती है। सत्य तो यह है कि वे इतने बाहरी नहीं है, जितने समझे जाते हैं। अलंकारो की उत्पत्ति भी हृदय के उसी उल्लास एव रस से होती है जिससे कि काव्य मात्र की होती है। यही कारण है कि नारी के भौतिक अलकारो को धारण करने में भी एक मानसिक उल्लास रहता है और अभाव मे विधवा नारी अलकार धारण नही करती।

अलकारो के उपयोग की चर्चा कई परिपार्श्वों में की जा सकती है। अलंकारो के मूल में हृदय का ओज विद्यमान रहता है। वे मानसिक चित्रो को स्पष्टता प्रदान करते है, विचारो को पुष्टि देते है, सादृश्य को विविधरूपो मे प्रस्तुत करते है, रचना मे क्रमनिर्देश करते है। कुछ अलंकारो से विरोध द्वारा चमत्कार उत्पन्न करके विधाता की सृष्टि से कवि की विलक्षणता दिखलाई जाती है। कुछ से प्रभाव बढाया जाता है तथा कही भाषा मे सजीवता लाई जाती है और शब्द माधुर्य की सृष्टि की जाती है।

निष्कर्ष

यदि अनासक्ति उपेक्षा की जननी है तो रमणीयता अलंकार की जननी है। मानव की अनुभूति जब एक ही रूप में ढलती है तो उसके प्रति अनासक्ति होना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में सहृदय पाठक—श्रोता के लिए कवि प्रतिक्षण नवीन व्यापारों की सृष्टि करता है, अपनी वाणी को अलकृत करता है। ये ही अलकार है।

संस्कृत काव्यशास्त्र मे व्याकरण की दृष्टि से अलकार की तीन व्युत्पत्तियाँ प्राप्त होती है। इन्ही के आधार पर अलकार-विवेचन की तीन शैलियाँ प्रचलित रही है—अनिवार्य तत्वमूलक निरूपणशैली, काव्यशोभाकर साधनमूलक शैली, और ध्वनि से भिन्न चमत्कार-मूलक शैली। इन शैलियों का हिन्दी के रीतिकालीन एव परवर्ती अलंकार साहित्य पर भी

१. काव्यालोचन; पृ० ७३
२. वही; पृ० ७३

प्रभाव पड़ा । इनके अतिरिक्त स्वतन्त्र लक्षण-निरूपक-शैलियों मे भी दो वर्ग प्रचलित रहे है संक्षिप्त व्याख्यात्मक एव विस्तृत व्याख्यात्मक । विस्तृत व्याख्यात्मक शैली के प्रणेताओं को पुनराख्याता विवेचक भी कहा जाता है ।

वर्णन करने की अनन्त शैलियाँ हो सकती है अत अलकार भी अनन्त हो सकते हैं । उनकी संख्याओं के विषय में इदमित्थ नही कहा जा सकता । यही कारण है कि सस्कृत एवं हिन्दी आचार्यों में अलंकारो की संख्या घटती-बढती रही है ।

वर्गीकरण की दृष्टि से आचार्यों के दो वर्ग प्राप्त होते है—एक, अलंकार के दो भेद मानने वाला वर्ग जो शब्दालकार एवं अर्थालंकार को स्वीकृत करता है एवं दूसरा, तीन भेदों—शब्दालकार, अर्थालकार, एवं उभयालकार—को मान्यता प्रदान करने वाला वर्ग । सस्कृत मे आचार्य मम्मट एवं रूय्यक ने अपने-अपने सिद्धान्तो के आधार पर अलकारों का वर्गीकरण किया किन्तु अलकारो के तीन भेदो के विषय मे वे एक मत रहे है ।

रीतिकालीन एव परवर्ती हिन्दी काव्यशास्त्र मे ये दोनो ही प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती है, उभयालंकार के नामभेदों के अतिरिक्त उनके स्वरूप में कोई अन्तर नही आ सका । अलंकार के तीनों भेदो में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, क्योंकि काव्यपुरुष का वाह्य शरीर शब्द है तो अन्तर्मन उसका अर्थ । दोनो सम्पृक्त है । यही कारण है कि भोज ने ऐसे २४ उभयालंकारों की गणना की है जिनमें शब्द और अर्थ दोनो ही महत्त्वपूर्ण है ।

हिन्दी के पुनराख्याता आचार्यो ने गद्य के माध्यम से अलंकार के स्वरूप का पूर्ण, स्पष्ट एवं तर्क पूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया । इन्हीं आचार्यो ने अलकार और अलंकार्य का पार्थक्य भी निरूपत किया ।

काव्य मे अलंकारो के महत्त्व पर भरत से लेकर अद्यपर्यन्त अति-विस्तार से विपुल-मात्रा मे लिखा गया है । आधुनिक आचार्यो ने अलंकार की अनिवार्यता एव मनोवैज्ञानिकता को विभिन्न रूपो में प्रस्तुत करके अलकार-स्वरूप विधान में एक नूतन अध्याय जोड़ा है ।

तृतीय परिच्छेद

शब्दालंकार : लक्षण एवं वर्गीकरण
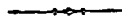
तृतीय-परिच्छेद

शब्दालंकार : लक्षण एवं वर्गीकरण

शब्दालंकार-व्युत्पत्ति

शब्दालंकार की उत्पत्ति के शास्त्रीय सन्दर्भ में दो मत माने जाते हैं। एक, संस्कृत में राजशेखर का है, जिसमें उन्होंने प्रचेता से अनुप्राय की, चित्रांगद से चित्र की, यम से यमक की और शेष से शब्द श्लेष की उत्पत्ति मानी है।[1] दूसरा हिन्दी में डॉ० रसाल का मनोवैज्ञानिक आधार पर निर्मित किया गया मत है, जिसके निम्नलिखित छह सिद्धान्त हैं :—

(१) **पुनरुक्ति**—इससे रसना, मन एवं मस्तिष्क को एक विशिष्ट सरलता, सुस्पष्टता एवं प्रसन्नता प्राप्त होती है—यह स्वाभाविक बात है। इसीलिए न केवल काव्य में ही इससे सहायता ली जाती है, वरन् भाषा-विज्ञान सम्बन्धी साहित्यिक शब्दरचना में भी इसका बहुत बड़ा हाथ है। भाषा के अनेक शब्द इसी आधार पर रचे गए हैं।

काव्य में इसके साहाय्य से अनुप्रास और यमकादि की उत्पत्ति हुई है। यह अवश्य है कि इसके कई रूप कर दिए हैं—

१. वर्णावृत्ति—जैसे अनुप्रास और उसके भेद छेक व यमक।

२. शब्दावृत्ति—जैसे यमक के दूसरे रूप, पुनरुक्तवदाभास तथा उनके भेद।

३. पदावृत्ति—जैसे लाटादि।

(२) **प्रयत्नलाघव**—इसके द्वारा वृत्तियों और रीतियों का आविष्कार हुआ। जिन वर्णों के बोलने में रसना तथा नादयन्त्रों को सरलता होती है तथा उन्हें कम प्रयत्न करना पड़ता है, वे अल्पप्राण (व्याकरण में) तथा मंजुल या मृदुल (काव्य में) माने जाते हैं। इससे उपनागरिका और कोमला वृत्तियाँ चली; इसके विपरीत, बोलने में कठिन तथा अधिक प्रयत्न चाहने वाले परुष, महाप्राण या कठोर माने जाते हैं। इनसे परुषावृत्ति चली। ये सब वृत्यनुप्रास के अन्दर आवृत्ति-सिद्धान्त के साथ रखी गई।

(३) **उच्चारण साम्य या स्वर एवं ध्वनि साम्य**—ऐसे वर्णों के बोलने एवं सुनने में

---

१. काव्यमीमांसा; पृ० १

एक विशेष प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है, जो एक ही स्थान से (नाद यन्त्रों के एक ही स्थल से) बोले जाते है। इसके आधार पर श्रुत्यनुप्रास का जन्म हुआ।

यद्यपि काव्य मे पुनरुक्ति एवं शब्दावृत्ति का निषेध किया गया है तथा उसे अच्छा नहीं कहा गया है, तो भी उसके स्वाभाविक गुणों से आकृष्ट एवं बाध्य होकर उसे ही काव्य गुणो एवं अनुप्रासों में स्थान दे ही दिया गया। इससे वस्तुतः कभी-कभी भावोत्कर्ष एव रसोत्कर्षादि हो जाता है। इसीलिए वीप्सा आदि की महत्ता-सत्ता मानी गई है और उनसे अलंकारता की उत्पत्ति की गई है। इस प्रकार शब्दालंकारों का जन्म और विकास हुआ।

इन उपर्युक्त मानव वृत्तियों के साथ ही साथ कुछ और विभिन्न प्रकार की वृत्तियाँ मानव-प्रवृत्ति में पाई जाती हैं और वे है—

(४) **कौतुक-कौतूहलप्रियता**—इसके कारण मनुष्य कौतुक एवं कौतूहल में संलग्न होता तथा आनन्द पाता है। उसे प्रत्येक पदार्थ के साथ कौतुक करना तथा उसके द्वारा एक विचित्र चित्ताकर्षण कौतुक का उपजना बहुत रुचता है। इस मनोवृत्ति के कारण अनेक प्रकार की कौतुक-कलाओं का जन्म हुआ है और कदाचित् इसी के आधार पर काव्यकला में भी ऐसे अलंकारों की उत्पत्ति तथा वृद्धि हुई है जैसे चित्रकाव्य।

(५) एक दूसरी मनोवृत्ति ऐसी भी है जो ठीक प्रथम वृत्ति (सरलता-प्रियता) के प्रतिकूल है। यह मनोवृत्ति क्लिष्टता, जटिलता तथा उलझन में आनन्द पाती है और उसी की ओर आकृष्ट हो, मनको जिज्ञासु बनाकर समुत्सुकता एवं उत्कंठा के साथ उसकी ओर लगा देती है। यह सीधे मार्ग पर चलना न पसन्द कर वक्र मार्ग में अभिरुचि के साथ बढ़ती है। इसी के कारण भाषा में वक्रता तथा घुमाव-फिराव के साथ किसी बात को कहने की रीति या शैली का प्रादुर्भाव होता है तथा काव्य मे ऐसे अलंकारों का जन्म होता है जैसे वक्रोक्ति, अन्योक्ति और विभावना।

(६) इसी प्रकार की एक तीसरी मनोवृत्ति है जिससे किसी बात के छिपा देने तथा उसके द्वारा कौतूहल उपजाने तथा छिपी हुई बात को खोजने में आनन्द प्राप्त होता है। इसके प्रभाव से काव्य में कूट (दृष्टकूटादि), प्रहेलिका (मात्राच्युतक, वर्णच्युतकादि), अन्तर्लापिका एवं बहिर्लापिका आदि का प्रकाश होता है।[1] डॉ० नगेन्द्र ने अलंकारों के

---

१. अलंकार पीयूष (पूर्वार्द्ध); पृ० २२ से २४

छह आधार माने हैं- साधर्म्य, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार।[1] इनमें से अन्तिम तीन आधार तो स्पष्टतः शब्दालकार के ही माने जा सकते हैं।

उपरोक्त सभी मनोवैज्ञानिक आधार तो शब्दालकारों के मूल में स्थिति हैं ही, साथ ही व्यक्ति, समाज, राजन्य सस्कृति, प्रकृति, लोक-जीवन आदि भी शब्दालकारों के विस्तार में–विशेषतः चित्र भेदो में पर्याप्त योगदान करते हैं। व्यक्ति का सामाजिक जीवन बड़ा वैविध्य पूर्ण है। कभी वह विपक्षी को परास्त करने के लिए शस्त्रास्त्रों का प्रयोग करता है, कभी वह पशु-पक्षियों, पादप-पत्रो एवं जीवन की निर्मूल्य-नगण्य समझी जाने वाली वस्तुओं को काव्यकला के द्वारा रूपायित करता है। यही कारण है कि सग्राम-प्रवृत्ति की परिशान्ति के लिए धनुष, चक्र, त्रिशूल आदि शस्त्रबन्ध; ऐश्वर्य प्रदर्शन के लिए हार, छत्र, सिंहासन, चामर, कंकण आदि अलंकरण-बन्ध; गति-संगीत की स्वर लहरियों को चित्र के उपकूल ने टकराने के लिए डमरू, वीणा, सितार आदि वाद्ययन्त्रबन्ध; धार्मिक भावना की परिपुष्टि के लिए अग्निकुण्ड, देवालय, वासुदेव, गणपति आदि दैवीबन्ध; तथा जीवन के सामान्य-प्रसाधनों की बुभुक्षा शान्त करने के लिए चटाई, चौकी, सीढ़ी, सरौता आदि स्थावरबन्ध-चित्रालकार के प्रणेताओं की दृष्टिरेखा से ओझल नहीं हुए। यहाँ तक कि मुक्त प्रकृति की उन्मुक्त लीलाएँ-चेष्टाएँ भी उनकी परिसीमा में विलीन हो गई। पर्वत, कदली, कमल, केहरी, मयूर, अहिराज आदि पशुपक्षी एवं वनवैभवात्मक बंधचित्र इसी तथ्य के परिचायक हैं।

चित्रालंकार के एक भेद स्वरचित्र की उत्पत्ति संगीत से मानी जाती है। भोज के षड्जादि स्वरव्यंजन[2] एवं काशिराज के स्वरव्यंजन चित्र[3] इसी प्रकार के स्वरचित्र हैं।

इस प्रकार मानव-मन की क्यारियों में व्यक्ति, समाज, लोकजीवन, राजन्य संस्कृति, प्रकृति, संगीत आदि तत्वों के उर्वरक से परिपुष्ट शब्दालंकार के बीजो का वपन हुआ, जिससे अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र, वक्रोक्ति, वीप्सा, पुनरुक्तवदाभास, पुनरुक्ति, भाषासम आदि लतावृक्षादि की सृष्टि हुई एवं काव्य उपवन में चमत्कार, उक्तिवैचित्र्य, रसानुभूति

---

१. रीतिकाव्य की भूमिका; पृ० ६८

२. सा ममारिधमनी निधानिनी साकाम धनिधामसाधिनी।
   मानिनी सगरिमापपापपा सापगा समसमागमासमा॥
   —सरस्वती कंठाभरण; २-२६५

१. जहँ सरिगम के वर्ण तो रचिये छंद प्रवीन।
   सो स्वर व्यंजन चित्र है, कह्यो ग्रन्थ रसलीन॥ —चित्रचन्द्रिका; १-२१

एवं कवि कौशल का पुष्प-पराग सहृदयों की अलिमालाओं को आकर्षित करने लगा और चित्रात्मकता, प्रभावोत्पादकता एवं सहजता के फल जिज्ञासुओं के हाथ लगे।

शब्दालंकार-लक्षण

संस्कृत एवं हिन्दी के आचार्यों ने शब्दालंकार लक्षण निरूपण में वैविध्य का परिचय दिया है। संस्कृत में सर्वप्रथम अग्निपुराण ने शब्दालंकार का लक्षण इस प्रकार दिया है—जो अलंकार व्युत्पत्ति अर्थात् शब्दो की विशिष्ट संयोजक शैली द्वारा शब्द को अलंकृत करते है उन्हे काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ शब्दालंकार कहते हैं।[1] भोज ने भी इसी शब्दावली में अपना लक्षण दिया।[2] हिन्दी में शब्दालंकार विवेचको के तीन वर्ग बनाये जा सकते हैं—पहला वर्ग उन आचार्यों का है जिन पर मम्मट के 'अन्वय-व्यतिरेक सिद्धान्त'[3] का प्रभाव पड़ा। इनमें चिन्तामणि[4], जगन्नाथप्रसाद 'भानु'[5], कन्हैयालाल पोद्दार[6] आदि आचार्यों की गणना की जाती है। दूसरे वर्ग के आचार्यों का प्रतिनिधित्व निहाल[7], डॉ० रसाल[8] आदि करते हैं जिन्होने केवल शब्दगत सौन्दर्य का उल्लेख किया

---

१. ये व्युत्पत्यादिना शब्दमलंकर्तुमिह क्षमाः।
शब्दालंकारमाहुस्तान्काव्यमीमांसका विद.॥ —अग्निपुराण; ३४२-१८; १६

२. ये व्युत्पत्यादिना शब्दमलंकर्तुमिह क्षमाः।
शब्दालंकार संज्ञास्ते ज्ञेया जात्यादयो बुधैः॥ —सरस्वती कण्ठाभरण; २-२

३. यालंकारो यदीयावन्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते स तदलंकारः।
—काव्यप्रकाश; १०-१४११ (वृत्ति)

४. सात शब्द अलंकार ये तिनमें शब्द जो होइ।
वाही ते पर्जाय पदादि पै न भासै कोइ॥ —कविकुल कल्पतरु; २-३

५. शब्दालंकार उसे कहते हैं जहाँ शब्दों में चमत्कार पाया जाये अर्थात् शब्द आदि पलट दिया जावे तो अलंकार ही न रहे।
—काव्य प्रभाकर; पृ० ४७३

६. जो शब्दालंकार किसी विशेष शब्द की स्थिति रहने पर ही रह सकता है और उस शब्द के स्थान पर उसी अर्थवाला दूसरा शब्द रख देने पर नहीं वह शब्दालंकार है। —अलंकार मंजरी; पृ० ५६

७. सब्द चमत्कृत होई जिहि सब्द ……होइ।
शब्दालंकृति जानिए, चमत्कार जिहि सोइ॥ —साहित्य शिरोमणि; दोहा ४

८. केवल शब्द या शब्दों में ही जहाँ चमत्कार एवं सौन्दर्य हो वहाँ शब्दालंकार की सत्ता होती है। - अलंकार पीयूष (पूर्वार्द्ध); पृ० १४७

है। तीसरा वर्ग जानकी प्रसाद[1] और मिश्रबन्धुओं[2] का है जो श्रवण की रमणीयता को शब्दालंकार मानते है।

इन तीनों वर्गो के लक्षणों का विवेचन—विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि ये सभी अंशतः दोषपूर्ण हैं। प्रथम एवं द्वितीय मत मे दोष यह है कि ये शब्दगत चमत्कार को ही शब्दालंकार मानते है, श्रवण रमणीयता का इनकी दृष्टि मे कोई स्थान नहीं। इसके विपरीत तृतीय वर्ग, श्रवण रमणीयता मात्र को ही शब्दालकार अभिधान से आभूषित करता है, किन्तु श्रवण रमणीयता केवल अनुप्रास का वैशिष्ट्य है, सभी शब्दालंकारो का नहीं। अत. शब्दालंकार का पूर्ण लक्षण यह हो सकता है—'जहाँ शब्दाश्रित चमत्कार या श्रवण रमणीयता हो वहाँ शब्दालंकार होता है।'[3]

शब्दालंकारों की संख्या

वाणी-विटप के पल्लव-पुष्पों का विराट्-वैभव होता है। उसकी अलंकरण विधि का विस्तार निस्सीम होता है।[4] शब्दालंकारो की सख्या निर्धारण करने का कार्य असाध्य नहीं तो दुस्साध्य अवश्य है क्योकि प्राचीन अनेक मत-मतान्तरो का पुनराख्यान एवं अनेक नये विकल्पों का निर्माण आज भी हो रहा है।

शब्दालंकार की भेद-परम्परा का कोई सुनियोजित सिद्धान्त नहीं रहा है। अग्नि पुराण और सरस्वती कंठाभरण ने इस प्रकरण को बड़ी उदारता से विवेचित किया है। यही कारण है कि अग्निपुराणकार ने शब्दालकार के नौ प्रधान भेद, चौतीस उपभेद तथा अड़तालीस गौण भेदों का एक विशाल परिवार पुष्ट किया। भोज ने सरस्वती कंठाभरण में शब्दालंकार-जाति के चौबीस भेद तथा प्रत्येक के छह-छह उपभेद एव यमक तथा चित्र के अनेक भेद दिखलाकर शब्दालंकारों की अनन्त-सख्याओ का रत्नाकर उपस्थित किया।

संस्कृत की तरह हिन्दी में शब्दालंकारों की सख्या के विषय मे कोई व्यवस्थित-

---

१. सुनत अधिक रोचक लगै वर्ण अलंकार सार।
   हेतु लखावै शब्द में सो शब्दालंकार ॥ —काव्य सुधाकर; १४-१

४. जिस वर्णन में श्रवण मात्र से रमणीयता प्राप्त हो वहाँ शब्दालंकार
   समझा जाता है। – साहित्य पारिजात; पृ० ६८

३. हिन्दी में शब्दालंकार विवेचन; पृ० ४५

४. गिरामलंकारविधिः सविस्तरः। —काव्यालंकार (भामह); ३-५८

परम्परा परिलक्षित नही होती। सामान्यतः संस्कृत में २८ शब्दालंकारों का एवं हिन्दी में १६ शब्दालंकारों का विवेचन हुआ है। उनकी नामावली इस प्रकार है—

(१) संस्कृत मे—

यमक, अनुप्रास, प्रहेलिका, चित्र, पुनरुक्तवदाभास, वक्रोक्ति, श्लेष, जाति, गति, युक्ति, भणिति, गुम्फना, शय्या, पठिति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, वाकोवक्य, गूढ़, प्रश्नोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य, अभिनेय, भाषाश्लेष और भाषासम।

(२) हिन्दी में—

(क) रीतिकालीन शब्दालंकार—

अनुप्रास, यमक, श्लेष, प्रहेलिका, चित्र, पुनरुक्तवदाभास, वक्रोक्ति, मुद्रा, गूढ़, प्रश्नोत्तर, कूट, विरोधाभास और तुक।

(ख) रीतिकालोत्तर शब्दालंकार—

भाषासम, वीप्सा एवं पुनरुक्ति।

प्रस्तुत प्रबन्ध की सीमा रेखा मे रहकर उपरोक्त शब्दालंकारों की संख्या-निर्धारित करने के लिए सामान्य समीक्षा अत्यावश्यक है। हिन्दी में विवेचित शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक एव चित्र का शब्दालंकारत्व प्रायः असंदिग्ध है। पुनरुक्तवदाभास को उभयालंकार मानते हुए भी परम्परा निर्वाह हेतु उसे शब्दालंकार ही माना गया है।[1] वक्रोक्ति और श्लेष को भी (अर्थ वक्रोक्ति और अर्थश्लेष को छोड़कर), शब्दालंकार ही माना जाता रहा है।[2]

प्रहेलिका स्वतन्त्र शब्दालंकार एवं चित्र-भेद दोनों ही रूपों में स्वीकृत हुआ है। इसके अलंकारत्व पर आक्षेप भी बड़े प्रबल हुए हैं। प्रहेलिका के अलंकारत्व का निषेध करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है—रस मे बाधक होने के कारण प्रहेलिका को अलंकार नही माना जा सकता, यह तो उक्ति-वैचित्र्य है।[3] पर यह आक्षेप सत्य नही है, क्योंकि यदि रसोपकारिता को ही किसी अलंकार के अलंकारत्व का मापदण्ड माना जाय तो शब्दालंकारों मे से कुछ अलंकार-श्लेष, यमक और चित्र आदि को त्यागपत्र देने पड़ेंगे क्योंकि

१. पुनररुक्तवदाभासस्य चिरन्तनैः शब्दालंकार मध्ये लक्षित्वात् प्रथमं तमेवाह।

—साहित्य दर्पण; १०-२ (अवतरणिका)

२. हिन्दी में शब्दालंकार-विवेचन; पृ० ४६

३. रसस्य परिपंथित्वान्नालंकारः प्रहेलिका।

उक्ति वैचित्र्य मात्रं सा च्युतदत्ताक्षरादिका॥ —साहित्य दर्पण; १०-१३ तथा १४

हिन्दी के रसवादी आचार्य कुलपति मिश्र ने इनमें 'रस का हुलास' नहीं माना है।[1] शब्दालंकार के अनुप्रास आदि भेदों में रस के निर्झर प्रवाहित होते हैं पर इस रसोपकारिता को प्रत्येक शब्दालंकार के लिए अनिवार्य नहीं किया जा सकता। उक्ति वैचित्र्य में भी शब्दालंकार होता है।[2] प्रहेलिका में बात को उक्तिवैचित्र्य की सहायता से ही चमत्कार-पूर्ण बनाया जाता है। अतः इनके शब्दालंकारत्व का निषेध नहीं किया जा सकता। रीतिकालीन आचार्यों में से केशव, पदुमनदास आदि ने इसे भी शब्दालंकार माना है। हमने भी इसे शब्दालंकार माना है क्योंकि इसमें भी शब्दालंकार के सभी तत्वों की प्राप्ति होती है, जिनका निर्देश अग्रिम पृष्ठों में यथा स्थान किया जायगा।

अब रीतिकालोत्तर शब्दालंकारों की सामान्य चर्चा की जाय। सर्व प्रथम भाषासम—भाषासमक को लें। इनका सर्व प्रथम संस्कृत में आचार्य विश्वनाथ ने विवेचन करते हुए यह लक्षण दिया है—जहाँ एक ही प्रकार के शब्दों से अनेक भाषाओं में वही वाक्य रहे, वहाँ भाषासम अलंकार होता है।[3] हिन्दी में जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'[4] आदि आचार्यों ने भी इस लक्षण की पुनरावृत्ति की है, किन्तु इस लक्षण साम्य के अतिरिक्त संस्कृत तथा हिन्दी विवेचित भाषासम में कोई साम्य नहीं। संस्कृत में विवेचित भाषासम में ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है जिनसे एकाधिक भाषाएँ निकलती हैं, किन्तु हिन्दी में प्राप्त उदाहरणों में एक से अधिक भाषाओं का स्पष्टतः प्रयोग हुआ है। इस वैषम्य के कारण ही प्रस्तुत प्रबन्ध में इसे स्वतन्त्र शब्दालंकार के रूप में प्रतिष्ठित किया गया।

'वीप्सा' की विवेचना आचार्य भिखारीदास ने गुणाश्रित अलंकारों में की है[5] किन्तु इनके बाद वीप्सा विवेचक-आचार्यों की संख्या नगण्य है। रीतिकालोत्तर आचार्यों

---

१. जमक चित्र औरं श्लेष में रस को नहीं हुलास। —रस रहस्य; ७-४४

२. कभी कभी बात को घुमाफिरा कर कहना पड़ता है। इस प्रकार के भिन्न
भिन्न विधान और कथन के ढङ्ग, अलंकार कहलाते हैं।
—चिन्तामणि (प्रथम भाग); पृ० १८१

३. शब्दैरेक विधैरेव भाषासु विविधास्वपि।
वाक्यंयत्र भवेत्सोऽयं भाषासम इतीष्यते॥ —साहित्य दर्पण; १०-१०

४. काव्य प्रभाकर; पृ० ५८३

५. एक शब्द बहुबार जहँ अति आदर सों होइ।
ताहि वीपसा कहत है, कवि कोविद सब कोइ॥—काव्यनिर्णय; १६-५२

ने इसको पुनः प्रतिष्ठित किया है अतः यह शब्दालंकार हिन्दी का अपना अलंकार माना जाता है। इसे हमने भी शब्दालंकार माना है। अलंकार का प्रमुख कार्य है—भावों को तीव्रतम बनाना या भवोद्दीपन करना। वीप्सा के मूल में ही भावोत्तेजन है। यह शब्दालंकार वस्तुतः भावों को चेतना देने के कारण और देने के लिए ही प्रयुक्त होता है अतः इसके शब्दालंकारत्व का निषेध नहीं किया जा सकता।

पुनरुक्ति प्रकाश का हिन्दी में पुनरुक्ति[1] नाम भी मिलता है। संस्कृत में पुनरुक्त-प्रतीकाश नामक अलंकार जयदेव के चन्द्रालोक में मिलता है किन्तु यह कोई नवीन शब्दालकार नही है वरन् पुनरुक्तवदाभास का ही एक नाम है[2]। हिन्दी में पुनरुक्तिप्रकाश का सर्वप्रथम विवेचन लाला भगवानदीन[3] ने किया है। इनके पश्चात् डॉ० रसाल, बिहारीलाल भट्ट आदि आचार्यों ने भी अपने ग्रंथों में इसे स्थान दिया है। इनके अनुसार भाव को रोचक अथवा प्रभावशाली बनाने के लिए एक शब्द की दो बार या अधिक बार आवृत्ति की जाय वहाँ पुनरुक्ति शब्दालंकार होता है[4]। हम भी यही मानते है।

रीतिकालीन शेष शब्दालंकार—मुद्रा, गूढ़, प्रश्नोत्तर, कूट, विरोधाभास और तुक—विवादास्पद हैं। या तो इनका अन्तर्भाव अन्य शब्दालंकारों में हो जाता है अथवा इन्हें स्वतंत्र शब्दालकार न मानकर अर्थालकार या उभयालंकार माना जाता है। अतः इन अलंकारो का "अन्य शब्दालंकार"—शीर्षक से इस शोध प्रबन्ध में विश्लेषण किया जावेगा।

संक्षेपतः, शब्दालंकारो की संख्या निर्धारण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि सात शब्दालंकार—अनुप्रास, यमक, श्लेष, प्रहेलिका, चित्र, पुनरुक्तवदाभास और वक्रोति-रीतिकालीन स्वतन्त्र शब्दालकार है; तीन शब्दालंकार—वीप्सा, भाषासम और पुनरुक्ति-प्रकाश—रीतिकालोत्तर शब्दालकार माने जा सकते है और छह शब्दालंकार—मुद्रा, गूढ़, प्रश्नोत्तर कूट, विरोधाभास और तुक–विवादास्पद शब्दालंकार है।

---

१. काव्य दर्पण; पृ० ३४८
२. पुनरुक्तिप्र तीकाशं पुनरुक्तार्थसन्निभम्। —चन्द्रालोक; ५-७
३. एक शब्द बहुबार जंह परैं रुचिरता अर्थ।
पुनरुक्तिपरकाश सो, बरणैं बुद्धि समर्थ॥ —अलंकार मंजूषा; पृ० १९
४. क. अलंकार पीयूष (पूर्वार्द्ध); पृ० २१७
ख. साहित्य सागर; १०-६३

अपने निष्कर्ष को हम इस प्रकार भी प्रस्तुत कर सकते हैं—

(१) रीतिकालीन शब्दालंकार—अनुप्रास, यमक, श्लेष, प्रहेलिका, चित्र, पुनरुक्तवदाभास और वक्रोक्ति।

(२) रीतिकालोत्तर शब्दालंकार—भाषासम, वीप्सा और पुनरुक्ति-प्रकाश।

(३) अन्य शब्दालंकार—मुद्रा, गूढ़, प्रश्नोत्तर, कूट, विरोधाभास और तुक।

शब्दालंकार का वर्गीकरण—

संस्कृत में आचार्य रुय्यक ने शब्दालंकारों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। "अलंकार सर्वस्व–मीमांसा" में डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी ने रुय्यक ने वर्गीकरण को पौनरुक्त्य के आधार पर इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

(१) शब्द पौनरुक्त्य—इसके रुय्यक ने दो भेद किये हैं—
क. व्यंजनमात्र पौनरुक्त्य—छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास
ख. स्वर-व्यंजन पौनरुक्त्य—यमक

(२) अर्थ पौनरुक्त्य—पुनरुक्तवदाभास

(३) उभय पौनरुक्त्य—लाटानुप्रास।

चित्रालंकार को पाठ पौनरुक्त्य के अन्तर्गत माना गया है[1]।

रुय्यक का वर्गीकरण पूर्ण नही है क्योंकि इसमें श्लेष, वक्रोति, प्रहेलिका आदि को स्थान प्राप्त नही हुआ। रीतिकालीन किसी भी आचार्य ने शब्दालंकार-वर्गीकरण की ओर ध्यान नहीं दिया। रीतिकालोत्तर आचार्य डॉ० रसाल का वर्गीकरण हिन्दी काव्यशास्त्र में अपना विशेष स्थान रखता है। उनका वर्गीकरण इस प्रकार है—

(१) वर्णावृत्तिमूलक—छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास (उपनागरिका, परुषा, कोमला), यमक (प्रथमरूप) सिंहावलोकन (वर्णमूलक), श्रुत्यनुप्रास (वर्णमूलक)।

(२) शब्दावृत्तिमूलक—यमक (द्वितीय भेद), वीप्सा, पुनरुक्तवदाभास (अर्थ-सम्बन्धी), पुनरुक्तिप्रकाश, सिंहावलोकन (शब्दमूलक)।

(३) पद या वाक्यवृत्ति—लाटानुप्रास, कुण्डलियाँ में पदावृत्ति, सिंहावलोकन (पदमूलक)

---

१. अलंकार-सर्वस्व-मीमांसा; पृ० १८४

(४) तुक—तुक के समस्त भेद
(५) श्लेष—शब्दार्थ सम्वन्धी[1] ।

डॉ० भाटी ने शब्दालंकारों का एक नया वर्गीकरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

१. वर्णावृत्ति मूलक—अनुप्रास
२. तच्छब्दतदर्थवृत्तिमूलक—वीप्सा, पुनरुक्तिप्रकाश या पुनरुक्ति
३. तच्छब्दभिन्नार्थ मूलक—यमक, लाटानुप्रास, वक्रोक्ति, श्लेष
४. तदर्थाभासमूलक—पुनरुक्तवदाभास
५. चित्रमूलक—चित्रालकार[2] ।

इस प्रकार रूय्यक, डॉ० रसाल एवं डा० भाटी के वर्गीकरणों में भिन्नता का आधार शब्दालकारों की संख्या है। हम भी इस प्रवन्ध की सीमाओं के अनुरूप शब्दालंकारों का एक सभावित वर्गीकरण प्रस्तुत करते है—

(१) वर्णात्मक—अनुप्रास (लाटानुप्रास को छोड़कर)
(२) शब्दात्मक—वीप्सा, पुनरुक्तिप्रकाश, भाषासम
(३) अर्थात्मक—यमक, लाटानुप्रास, वक्रोक्ति, श्लेष, पुनरुक्तवदाभास ।
(४) चित्रात्मक—चित्रालंकार ।

निष्कर्ष

शब्दालंकार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में डॉ० रसाल का मत मनोवैज्ञानिक आधारो पर स्थित होने के कारण अधिक संगत है। पुनरुक्ति; प्रयत्न लाघव उच्चारणसाम्य या स्वर एवं ध्वनि साम्य, कौतुक-कौतूहल प्रियता आदि मनस्तत्वों को शब्दालंकार के जन्म की आधार शिलाएँ मान सकते है। इनके अतिरिक्त प्रकृति, समाज, राजन्य-संस्कृति, लोकजीवन आदि भी शब्दालंकार के विकास में योगदान करते रहे है।

शब्दालंकार के लक्षण निरुपण में विविधता रही है। संस्कृत में अग्निपुराण से लेकर हिन्दी में मिश्र वन्धुओं तक लक्षणों की त्रिपथगामी धाराएँ चली। शब्दालंकार का निर्दोष लक्षण यह हो सकता है—जहाँ शब्दाश्रित चमत्कार या श्रवण रमणीयता हो वहाँ शब्दालंकार होता है। संस्कृत की तरह हिन्दी में भी शब्दालंकारो की संख्या के सम्वन्ध

---

१. अलंकार पीयूष (पूर्वार्द्ध); पृ० १८५
२. हिन्दी में शब्दालंकार—विवेचन; पृ० ५७

में कोई निर्धारित परम्परा नहीं रही। संस्कृत में २८ एवं हिन्दी में १६ शब्दालंकारों का विवेचन हुआ है। हिन्दी के शब्दालंकारों में भी सात शब्दालंकार–अनुप्रास, यमक, श्लेष, प्रहेलिका, चित्र, पुनरुक्तवदाभास और वक्रोक्ति—तो रीतिकालीन हैं; वीप्सा, भाषासम और पुनरुक्तिप्रकाश रीतिकालोत्तर माने जा सकते हैं तथा मुद्रा, गूढ़, प्रश्नोत्तर, कूट, विरोधाभास और तुक विवादास्पद शब्दालंकार हैं।

शब्दालंकारों का रुय्यक के द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण पूर्ण नहीं है। डॉ० रसाल का वर्गीकरण वैज्ञानिक है और डॉ० भाटी द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण भी विचारणीय है। हमारी दृष्टि में इसके वर्णात्मक, शब्दात्मक, अर्थात्मक एवं चित्रात्मक वर्ग बनाये जा सकते हैं।

चतुर्थ परिच्छेद

संस्कृत में शब्दालंकार-विवेचन की परम्परा

संस्कृत में शब्दालंकार-विवेचन की परम्परा

ऐतिहासिक पर्यालोचना

हिन्दी के काव्य शास्त्रीय उपवन में शब्दालंकार-विवेचन का एक विशाल वटवृक्ष दिखाई देता है किन्तु इसका मूल संस्कृत काव्यशास्त्र की उर्वरा-वसुन्धरा के गर्भ में छिपा हुआ है और वहीं से इसे जीवन रस की प्रेरणा-धारा प्राप्त होती रही है। अतः रीतिकालीन शब्दालंकार के मूल्यांकन एवं परिशीलन के पूर्व संस्कृत आचार्यों की काव्यशास्त्रीय कृतियों का, शब्दालंकार-विवेचन की दृष्टि से ऐतिहासिक पर्यालोचन अत्यन्त आवश्यक है।

संस्कृत वाङ्मय का प्रथम उन्मेष वेदों के रूप में हुआ। जिस प्रकार प्रत्येक शास्त्र एवं विद्या के लिये मूल स्रोत स्वरूप वेद माने जाते हैं, उसी प्रकार शब्दालंकारों का पूर्वाभास भी हमें वेदों के कतिपय मन्त्रों के परिशीलन से उपलब्ध हो जाता है[1]। गार्ग्य आदि आचार्यों द्वारा वेदमन्त्रों के अर्थ में उपमा की व्याख्या की जाती थी यास्क और भरत के बीच अलंकार के कुछ शास्त्रीय शब्द वैयाकरणों द्वारा प्रयुक्त मिलते हैं। पाणिनि के समय तक उपमा के चारों अङ्ग निर्धारित हो चुके थे, किन्तु अन्य ग्रन्थों की उपलब्धि के अभाव में शब्दालंकार का लाक्षणिक उन्मेष भरत के नाट्यशास्त्र में ही प्रारम्भ होता है। संस्कृत काव्यशास्त्र के आद्याचार्य भरत ही माने जाते हैं।

काल-क्रम निर्धारण

भरत से विश्वनाथ तक छोटे-बड़े इतने अलंकार ग्रन्थ लिखे गए हैं कि जिनका एकत्र-विवेचन न तो सम्भव है और न अपेक्षित ही। इनमें से अनेक आचार्यों ने शब्दालंकारेतर अन्य काव्यांगों का विवेचन भी किया है। कुछ आचार्यों ने अपनी मौलिक प्रतिभा का व्यय पूर्वाचार्य की व्याख्या में भी किया है, फलतः काव्यशास्त्र की वृत्तियाँ या व्याख्याएँ भी मूलग्रन्थ के समान ही गौरव मण्डित हो गई हैं।

संस्कृत में शब्दालंकार-विवेचन के इतिहास को हम चार विभागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) भरत

---

१. (क) परीमेऽग्निमर्षत परीमे गामनेषत। —ऋग्वेद; १०-१५५-५

(ख) य उदानड् परायणं य उदानण्न्यायनम्। —अथर्ववेद; ६-७७-२

(२) ध्वनि पूर्वकाल
(३) ध्वनिकाल
(४) ध्वन्युत्तरकाल

ध्वनिपूर्वकाल के पूर्व भरत ही एक मात्र ऐसे आचार्य थे जिनके नाट्यशास्त्र में अलंकारों को स्थान प्राप्त हुआ। ध्वनि पूर्वकाल के आचार्य हैं—विष्णु धर्मोत्तर पुराणकार, भट्टि, भामह, दण्डी, उद्भट, वामन एवं रुद्रट। इस काल में अलंकारों का सार्वभौम शासन रहा। हिन्दी के आचार्य केशव पर इसी युग का प्रभाव पडा। ध्वनिकाल खण्डन-मण्डन एव स्थापन का युग था। अलंकार का विवेचन न होकर अव अलंकार की सख्यावृद्धि एवं उसके स्थान का निर्धारण हो रहा था। अग्निपुराणकार, भोज आदि इस युग के कीर्तिस्तम्भ है। ध्वन्युत्तरकाल अपने पूर्ववर्तीयुगो का प्रभाव ग्रहण करके पिष्टपेपण ही अधिक कर पाया। इस काल के आचार्य अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के ऋणी है। मम्मट, रूय्यक, शोभाकर मित्र, हेमचन्द्र, वाग्भट (प्रथम), नरेन्द्रप्रभसूरि, जयदेव, विद्याधर, विश्वनाथ आदि इसी वर्ग के आचार्य है।

इनके अतिरिक्त अन्य कई आचार्यो-कवियो ने सस्कृत-साहित्य के भण्डार को काव्य-शास्त्रीय कृतियाँ प्रदान की है, किन्तु शोधग्रन्थ की सीमा में रहकर हम इस परिच्छेद मे उन्ही सस्कृताचार्यो का कालक्रमानुसार सर्वेक्षण करेगे जिनके शब्दालंकार-विवेचन का हिन्दी रीतिकालीन कवियो का प्रभाव पड़ा है।

(१) भरत-नाट्यशास्त्र (२५७ वि. पूर्व से २५७ वि. सं.)

भरत का नाट्यशास्त्र संस्कृत काव्यशास्त्रो की माला का प्रथम पुष्प है जिसके सोलहवे अध्याय का नाम 'अलकार लक्षण' है यहाँ 'अलंकार' शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ मे हुआ है। काव्यशास्त्रीय अर्थ मे नही। इस अध्याय के ४५ श्लोकों में ३६ काव्य विभूपण, ४ अलकार, १० काव्य दोप तथा १० काव्यार्थ गुणो का वर्णन है। इनके चार अलकार है—उपमा, रूपक, दीपक और यमक।[1] भरतप्रोक्त यमक ही शब्दालंकार का जनक है क्योकि आचार्य भरत अपने यमक-लक्षण मे शब्दाभ्यास मात्र को यमक कहते है।[2] यमक के १० प्रभेदो का उल्लेख भी हुआ है। वे है पादान्त, कांची,

१. उपमा दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा।
काव्यस्यैते ह्यलंकाराश्चत्वार परिकीर्तिताः ।। —नाट्यशास्त्र; १६-४३

२. शब्दाभ्यासस्तु यमकं पादादिषु विकल्पतम् —नाट्यशास्त्र; १६-६२

समुद्ग, विक्रान्त, चक्रवाल, पादावि, पादान्तामेडित, चतुर्व्यवसित और मालायमक। यमक के कुछ भेदों में अनुप्रास के स्वरूप का भी अन्तर्भाव हुआ है। विक्रान्त यमक का लाटानुप्रास[1] से एवं यमक का छेक एवं वृत्यनुप्रास[2] से घनिष्ट सम्बन्ध दिखाई देता है।

भरत के नाट्यशास्त्र पर कम ने कम ६ प्रख्यात् आचार्यो ने टीकाएँ लिखी है इनमें से उद्भट, लौल्लट, शकुक, भट्टनायक तथा अभिनव गुप्त के नाम विशेप उल्लेखनीय है। शब्दालकार विवेचन के इतिहास में इस ग्रन्थ का उल्लेख सर्वप्रथम किया जाता है।

(२) ध्वनिपूर्वकाल

(क) विष्णुधर्मोत्तरपुराणकार (६५६ वि. से पूर्व)

अलकारो के अध्ययन की दृष्टि से विष्णुधर्मोत्तरपुराण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें तीन शब्दालकारो—अनुप्रास, यमक और प्रहेलिका–का विवेचन है पर केवल लक्षण ही दिये गये है उदाहरण नही। अनुप्रास का लक्षण[3] आज भी उतना ही मान्य है जितना ग्रथकार को मान्य था। यमक के लक्षण में शब्दों की आवृत्ति का उल्लेख हुआ है।[4] पुराणकार ने उसके सुकर और दुष्कर दो भेद माने है। प्रहेलिका का विस्तार से वर्णन हुआ है किन्तु वहाँ प्रहेलिका काव्यदोष के रूप में मानी गई है।[5]

विष्णुधर्मोत्तरपुराणकार का शब्दालंकार-विवेचन कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। भरत ने अनुप्रास का उल्लेख नही किया किन्तु पुराणकार ने अपने अनुप्रास-लक्षण में 'पुरातनैः'[6] शब्द का प्रयोग किया है जिससे यह प्रकट होता है कि यमक और अनुप्रास के मध्य अन्तर इनके पूर्व ही स्पष्ट हो चुका था। इस प्रकार यमक और अनुप्रास का पार्थक्य करके पुराणकार ने संस्कृत काव्यशास्त्र को महती उपलब्धि प्रदान की है।

---

१. एकैकं पादमुत्क्षिप्य द्वौ पादौ सदृशौ यदा। —नाट्यशास्त्र; १६-७२

२ नाना रूपैः स्वरैर्युक्तं यत्रैकं व्यंजनं भवेत्। —नाट्शास्त्र; १६-८४

३. विष्णुधर्मोत्तरपुराण; ३-१४-१

४. शब्दा सामानानुपूर्व्या यमकं कीर्तितं पुनः। —विष्णुधर्मोत्तरपुराण; ३-१४-२

५. काव्ये ये अभिहिताः दोषाः कैश्चित्तेभ्य प्रहेलिकाः।
कर्तव्याश्च तथैवान्यास्तासाँ वक्ष्यामि लक्षणम्॥
—विष्णुधर्मोत्तरपुराण; ३-१६-१

६. एकैकस्य तु वर्णस्य विन्यासो यः पुनः पुनः।
अर्थगत्या तु संख्यातमनुप्रासं पुरातनैः॥ —वही; ३-१४-१

(ख) भट्टि-भट्टिकाव्य (रावणेश्वरवध) (५५०-६६० वि.)

भट्टि ने अपने ग्रंथ रावणेश्वरवध के १० वे सर्ग के प्रसन्नकाण्ड में दो शब्दालंकारों का विवेचन किया है। वे हैं अनुप्रासवत् एवं यमक तथा १३ वे सर्ग में भाषासम के उदाहरण हैं। अनुप्रासवत् का तात्पर्य अनुप्रास से ही है।[1] यमक के २० भेदों के उदाहरण दिये गए हैं। त्रयोदश सर्ग में भाषासम के ५० उदाहरण है।

भट्टि ने तो केवल महाकाव्य लिखा पर टीकाकारों ने अलंकार माने है। शब्दालंकार-विकास के इतिहास में भट्टि का महत्त्व इतना ही हैं।

(ग) भामह-काव्यालंकार (५५७ से ६५७ वि. के मध्य)

काव्यालकार के द्वितीय परिच्छेद मे अनुप्रास और यमक–इन दो शब्दालंकारो का विवेचन हुआ है तथा ग्राम्यानुप्रास, लाटानुप्रास और प्रहेलिका का सकेत किया है।[2] भामह के अनुसार वर्णो का साम्य अनुप्रास है।[3] अनुप्रास ऐसे होने चाहिए जिनके अर्थ भिन्न हों पर अक्षर भिन्न न हों।[4]

यमक विवेचन में इन्होने अनावश्यक यमक-भेदो का अन्तर्भाव किया और यमक की विशेषताओ का उल्लेख करते हुए लिखा है—वही यमक श्लाघ्य है जिसके शब्द प्रसिद्ध और पद सधियाँ सुश्लिप्ट हो; जो प्रसाद गुण सम्पन्न, ओजयुक्त और उच्चारण सुखद हो।[5]

भामह ने भावी काव्यशास्त्र के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। उन्होने अनुप्रास का प्रथम विवेचन करके उसके महत्त्व को स्थिर किया। वे अलंकार के पक्षपाती थे। उनका मत था कि प्रकृत-सुन्दर होते हुए भी आभूपणो के विना वनिता के मुख पर आभा नही आती।[6] इनके ग्रन्थ 'काव्यालंकार' के नाम का उपयोग भी उत्तर काल मे वहुत हुआ।

---

१. अनुप्रासवदिति अनुप्रासा यस्मिन् विद्यते इति।
—भट्टि काव्य (जयमङ्गला टीका); १०-१

२. काव्यालंकार; २-६ तथा ८

३. सरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते। —वही; २-५

४. नानर्थवन्तोऽनुप्रासो न चाप्यसदृशाक्षराः। —वही; २-७

५. प्रतीतशब्दमोजस्वि सुश्लिष्टपदसंधि च।
प्रसादि स्वभिधानं च यमकं कृतिनां मतम्॥ —वही; २-१८

६. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्। काव्यालंकार; १-१३

अलंकार-शास्त्र को व्यवस्थित और वैज्ञानिक शैली में प्रस्तुत करनें वाले वे प्रथम आचार्य है ।

(घ) दण्डी-काव्यादर्श (६५७ वि० से पूर्व)

आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श के प्रथम-परिच्छेद के 'मार्ग विभाग' में अनुप्रास और यमक की चर्चा की है । इन्होंने बताया है कि वाणी की अनेक शैलियाँ है जिनमे वैदर्भी और गौड़ी प्रमुख है ।[1] अल्पप्राण वर्णो से युक्त गौडी शैली है[2] इसके विपरीत वैदर्भ मार्ग के आचार्य श्रुत्यनुप्रास को रस-व्यंजक मानते हैं ।[3]

तृतीय-परिच्छेद ने दण्डी ने यमक का विस्तृत विवेचन किया है । इन्होने यमक भेदों का उल्लेख करते हुए बताया है कि एक, दो, तीन और चार पादों मे स्थित यमकों में आदि, मध्य, अन्त, मध्य और अन्त; आदि और मध्य; तथा आदि और अन्त की दृष्टि से अनेक भेद हो जाते है ।[4]

चित्रालकार के सर्वप्रथम दर्शन दण्डी के विवेचन में ही होते है । उन्होंने गोमूत्रिका का यह लक्षण दिया है-जिसमें ऊपर नीचे लिखे गये वर्णो में एक वर्ण की समानाकारता पायी जाये, उसे विद्वान गोमूत्रिका कहते है ।[5] इसके पश्चात् अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र, स्वर-चित्र स्थान-चित्र, वर्ण-चित्र आदि का उल्लेख है । चतु स्वर, त्रिस्वर, द्विस्वर, एक स्वर; चतुः-स्थान, त्रिस्थान, द्विस्थान, एकस्थान; चर्तुवर्ण, त्रिवर्ण, द्विवर्ण तथा एक वर्ण के केवल उदाहरण दिये गये है । दण्डी ने प्रहेलिका की उपयोगिता बताई है—आमोदगोष्ठी मे विविध प्रकार के वाग्व्यवहारों से मनोविनोद मे, लोगो की भारी भीड़ मे, गुप्त भापण करने में तथा दूसरों को अर्थानभिज्ञ बनाकर उपहास का पात्र बना देने मे प्रहेलिका का उपयोग

---

१. अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम् ।
तत्र वैदर्भगौडीयो वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥ —काव्यादर्श; १-४०

२. अनुप्रासधिया गौडैस्तदिष्टं बन्धगौरवात् । —वही; १-४४

३. यया कयाचिच्छ्रुत्या यत्समानमनभूयते ।
तद्रूपाहि पदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा ॥ —वही; १-५२

४. एकद्वित्रिचतुष्पाद यमकानां विकल्पनाः ।
आदिमध्यान्तमध्यान्त मध्याद्यन्त सर्वतः । —काव्यदर्श, ३-२

५. वर्णानामेकरूपत्वं यत्त्वेकान्तरमर्धयोः ।
गोमूत्रिकेति तत्प्राहुर्दुष्करं तद्विदोयथा ॥ —वही; ३-७८

होता है ।[1] प्रहेलिका के इन्होंने साधु और दुष्ट—दो वर्ग माने । दुष्ट प्रहेलिकाओं का केवल निर्देश किया है ।[2]

दण्डी का संस्कृत-काव्यशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है । इन्होंने शब्दालंकार-विवेचन मे युगान्तर स्थापित किया है । श्रुत्यनुप्रास और चित्रालंकार का सर्वप्रथम विवेचन दण्डी के काव्यादर्श में ही मिलता है । प्रहेलिका एवं यमक का विस्तृत वर्गीकरण भी दण्डी की अनुपम उपलब्धि है । दण्डी ने वाङ्मय के दो प्रकार बताये है-स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति ।[3] इस मान्यता को भी उच्च स्थान प्राप्त हुआ । अनेक स्थलो पर लक्षणों में कहे गये 'कश्चित्' आदि पदो से ज्ञात होता है कि दण्डी ने शब्दालकारो के अनेक उपभेदो को जानबूझ कर छोड़ दिया है । काव्यादर्श की तरुणवाचस्पति, प्रेमचन्द, जीवानन्द, भागीरथ, विजयानन्द, त्रिभुवनाचार्य, कृष्ण किंकर, जगन्नाथ तनय, मल्लिनाथ, रङ्गाचार्य, रामचन्द्र मिश्र आदि अनेक विद्वानो ने टीकाएँ की है जो इस ग्रन्थ की महत्ता की द्योतक है ।

(ङ) उद्भट-काव्यालंकारसारसंग्रह (८५७ वि. के आसपास)

'काव्यालकारसारसग्रह' मे केवल अलंकारों का ही विवेचन है, जो पाच वर्गो में विभक्त है । प्रथम वर्ग में उन्होंने अन्य आचार्यो द्वारा स्वीकृत वाणी के आठ अलंकारों पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, अनुप्रास, [illegible]ानुप्रास, रूपक, दीपक, उपमा और प्रतिवस्तूपमा का विवेचन किया है ।[4] प्रख्यात टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, अनुप्रास और लाटानुप्रास को स्पष्टतः शब्दालकार माना है ।[5]

पुनरुक्तवदाभास नामक शब्दालकार का आविष्कार उद्भट ने किया है । जहाँ दो भिन्न पद अभिन्न-वस्तु के समान भासित हो वहाँ पुनरुक्तवदाभास होता है ।[6] छेकानुप्रास का उद्भव भी उद्भट की लेखनी से काव्यशास्त्र मे पहली बार हुआ है । प्रतिहारेन्दुराज

---

१. क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्जनैराकीर्णमन्त्रणे ।
परव्यामोहने चापि सोपयोगाः प्रहेलिका ।। —वही; ३-९७

२. वही; ३-१०६

३. द्विधा भिन्नं स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् । —काव्यादर्श; ३-३६३

४. काव्यालंकारसारसंग्रह; १-१ तथा २

५. अत्रालंकारा अष्टावुद्दिष्टाः ।
तत्र चादौ चत्वारःशब्दालंकारा निरूपिता । — वही; १-१ तथा २ (लघुवृत्ति)

६. पुनरुक्ताभासमभिन्नवस्त्विवोद्भासि भिन्नरूपपदम् ।
—काव्यालंकारसारसंग्रह; १-३

ने छेकानुप्रास के नामकरण की व्याख्या बडी ही सुन्दर रीति से की है। उनके अनुसार 'छेक' शब्द का अर्थ है अपने घोसलों में आनन्दपूर्वक बैठे हुए पक्षी। ये पक्षी जो ध्वनि करते है, वैसी ही सहज एवं मधुर ध्वनि इस अनुप्रास से निकलती है। इसलिए यह अनुप्रास छेकानुप्रास कहलाता है। छेक का अर्थ विदग्ध भी होता है, अतः विदग्धजनों-विद्वानों को प्रिय होने के कारण इसे छेकानुप्रास कहते हैं।[1]

परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या नामक तीन वृत्तियों के आधार पर उद्भट ने अनुप्रास के तीन भेद—परुषानुप्रास उपनागरिकानुप्रास और ग्राम्यानुप्रास किये हैं।[2] लाटानुप्रास का भी सर्वप्रथम विवेचन उद्भट ने किया है, किन्तु जो उदाहरण[3] इन्होंने दिया है, वह अनन्वय अलकार का भी हो सकता है।

उद्भट के शब्दालकार विवेचन को सस्कृत काव्यशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इनके पूर्ववर्ती आचार्यो ने काव्य के सभी अङ्गो को लक्ष्य मे रखकर अपने ग्रन्थों का प्रणयन किया था, किन्तु इनकी रचना में केवल अलकारों का ही विवेचन है। उद्भट ने लाटानुप्रास, छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास और पुनरुक्तवदाभास को स्वतन्त्र अलंकारत्व प्रदान किया। यमक अभाव खलता-सा है। कदाचित्, यमक का नाम रूपान्तरित करके 'पुनरुक्तवदाभास' कर दिया हो—ऐसी कल्पना की जा सकती है। शब्दालंकारों का इतना महत्त्व उद्भट के विशेष दृष्टि-कोण का परिचायक है।

(च) वामन-काव्यालंकार सूत्रवृत्ति (८५७ वि. से पूर्व)

वामन ने काव्यालकार सूत्र के चौथे अधिकरण का नाम 'आलंकारिक अधिकरण' दिया है और इसी अधिकरण का पहला अध्याय 'शब्दालंकार-विचार' के रूप में प्रस्तुत किया है। संस्कृत काव्यशास्त्र ने सबसे पहले वामन ने ही अलंकार के शब्दगत और अर्थगत वर्गीकरण का उल्लेख किया है। इन्होंने यमक और अनुप्रास को ही शब्दालकार माना है।[4]

वामन ने यमक के लक्षण में पूर्वाचार्यों का अनुकरण नही किया। इसके अनुसार

---

१. काव्यालंकारसारसंग्रह; १-३ (लघुवृत्ति)
२. वही; १-७ (लघुवृत्ति)
३. काशाः काशा इवोद्भांसि सरासीव सरांसि च।
केतांस्याचिक्षिपुर्यानां निम्नगा इव निम्नगाः॥ —वही; १-६ (उदाहरण)
४, तत्र शब्दालंकारौ द्वौ यमकानुप्रासौ क्रमेण दर्शयितुमाह।
—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति; ४-१ (अवतरणिका)

स्थान नियम के साथ अनेकार्थ पद अथवा अक्षर की आवृत्ति को यमक कहते हैं[1]। इन्होने एक 'अद्‌भुत-यमक' का भी उल्लेख किया है। इस यमक में सुवन्त अथवा तिङन्त पदो की पृथक्-पृथक् अथवा पारस्परिक ऐसी आवृत्ति होती है जिसने विभक्ति संख्या और कारको का भेद होता है[2]। अनुप्रास के विवेचन में भी वामन ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। अनुप्रास में अनुग्र (हल्के) वर्णों का प्रयोग इनकी दृष्टि में उत्तम है क्योकि इसी प्रकार के वर्णो से युक्त अनुप्रास सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

वामन का स्थान यमक के नवीन प्रभेदो की दृष्टि से शब्दालंकार के आचार्यो में महत्त्वपूर्ण है। इसमे नवीनता का आग्रह है पर स्पष्टता कम। यही कारण है कि अग्रिम आचार्यो ने इनके द्वारा विवेचित यमक के नूतन भेदो का अनुकरण नही किया।

(छ) **रुद्रट-काव्यालंकार** (८५७ से ९०७ वि० के मध्य)

रुद्रट ने अपने १६ अध्यायों से अलकृत 'काव्यालंकार' में द्वितीय से पचम अध्याय तक शब्दालकारो का विवेचन किया है। इनमें से द्वितीय अध्याय मे वक्रोति और अनुप्रास का, तृतीय अध्याय मे यमक का, चतुर्थ अध्याय मे श्लेष का और पंचम अध्याय मे चित्र का विवेचन हुआ है।

आचार्य रुद्रट ने वक्रोक्ति का लक्षण न देकर उसके दो भेदों—श्लेष वक्रोक्ति[3] और काकु वक्रोक्ति[4] के लक्षण दिये है। रुद्रट का यही विवेचन परवर्ती आचार्यों द्वारा अनुमोदित हुआ है। अनुप्रास का विवेचन भी नूतन है। इनका कथन है कि अनुप्रास मे स्वरसाम्य की विवक्षा नही, पर व्यजन-साम्य अवश्य होना चाहिए। व्यजनो की आवृत्ति एक दो या तीन व्यंजनो के अन्तर मे भी हो सकती है।[5] अनुप्रास का एक भेद वृत्यनुप्रास करके उसके पाँच उपभेद वृत्तियो के आधार पर किये है। यमक को इन्होने व्यवथित रूप से प्रस्तुत किया है। यमक को प्रायः छन्द का विषय[6] वताकर उसे गद्य-काव्य मे भी प्रयुक्त करना अवांछनीय

---

१. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति; ४-१-१
२. वही; ४-१-१६ (श्लोक)
३. काव्यालंकार; २-१४
४. वही; २-१६
५. एक द्वित्रान्तरितं व्यंजनमविवक्षित स्वरं वहुशः।
   आवर्त्यते निरन्तरमथवा यदसावनुप्रासः॥ —काव्यालंकार; २-१८
६. काव्यालंकार; ३-१

नहीं माना। इन्होने यमक के दो भेद—समस्तपादज एवं एक देशज—किये हैं [1]। इनके क्रमशः ११ एवं असंख्य भेद मानकर २० भेदों का उल्लेख किया है। इन्होंने श्लेष का भी सुनियोजित लक्षण दिया है—जिस रचना में सुनियोजित, अक्लिष्ट तथा विविध पदों की सन्धि से युक्त ऐसे वाक्यों की ऐसी युगपद योजना हो, जो अनेक अर्थ बताने मे समर्थ हो, वहाँ श्लेष अलंकार होता है।[2] इन्होने श्लेष के आठ भेद किये है। इस वर्गीकरण को संस्कृत एवं हिन्दी के अधिकांश आचार्यो ने स्वीकृति प्रदान की है। चित्रालंकार के अगणित भेद मानकर भी इन्होने उसके केवल कुछ उपभेदो—चक्र, खड्ग, मूसल, शर आदि बंधचित्रो एव अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र, मात्राच्युत, प्रहेलिका, प्रश्नोत्तर आदि का ही विवेचन किया है।[3]

रुद्रट समन्वयवादी आचार्य माने जाते है क्योकि इन्होंने काव्यालंकार में काव्य के सभी अंगो का विवेचन किया है। अलकारो का वैज्ञानिक वर्गीकरण करने वाले ये प्रथम आचार्य है। यमक के तो लगभग साढे चार सौ उपभेदों का उल्लेख करने वाले सस्कृत-हिन्दी काव्यशास्त्रीय आचार्यों नें ये एकमात्र है। वक्रोति और श्लेष का विवेचन इतना वैज्ञानिक सुस्पष्ट एवं गम्भीर है कि परवर्ती आचार्य भी इनकी विवेचन-सीमा से बाहर नही जा कके।

(३) ध्वनिकाल

(क) अग्निपुराणकार (६५७ वि० के लगभग)

अग्निपुराण का रचनाकाल विवादास्पद है। डॉ० सुशीलकुमार दे के मतानुसार अग्निपुराण अज्ञातनाम लेखको का विश्वकोश है।[4] श्री पी० वी० काणे ने इस पुराण के काव्यशास्त्रीय भाग को भरत, दण्डी और आनन्दवर्धन का परवर्ती माना है।[5] आधुनिक विद्वान प्रायः इसी मत को मान्यता देते है अग्निपुराण मे ३८३ अध्याय है जिनमें ३४२ और ३४३ वे अध्यायों मे शब्दालंकारों का विवेचन है। इसमें-छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, गुम्फना, वाकोवाक्य, अनुप्रास और चित्र—इन आठ शब्दालंकारों का विवेचन हुआ है। इनसे से अन्तिम दो अलकार ही विवेच्य है।

पुराणकार का अनुप्रास दृष्टिकोण व्यापक हैं अर्थात् इसमे उन्होंने यमक को भी

१. काव्यालंकार; ३-५६
२. काव्यालंकार; ४-१
३. काव्यालंकार; ५-२, ३ और ४
४. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स (श्री सुशीलकुमार दे); पृ० ६७
५. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स (श्री काणे); पृ० १०

समाविष्ट कर लिया है। इनके अनुसार पद और वाक्य की वर्णावृत्ति में अनुप्रास अलंकार होता है। इसके दो भेद है—एक वर्णगतावृत्ति और अनेक वर्णगता वृत्ति।[1] अनेक वर्णगता-वृत्ति मे आवृत्ति में आवृत्त वर्णों के अर्थ भिन्न-भिन्न होते है। इस प्रकार की आवृत्तियों से यमक अलकार होता है। चित्रालंकार को गोष्ठी में पढ़ा जाने पर कौतूहल उत्पन्न करने वाला कवि का वाग्वध माना है।[2] इसके दो भेद होते है—सुकर और दुष्कर। सुकर के सात भेद और उनके भेदोपभेद भी पुराणकार ने दिये हैं। दुष्कर चित्र नीरस होते हुए भी पण्डितो को रुचिकर होता है। इसके तीन भेद है—नियम, विदर्भ और बध।[3] बंधचित्रों में गोमूत्रिका, अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र, अम्बुज, चक्र, दण्ड, चक्राब्ज, मुरज—इन आठ भेदों का पुराण में उल्लेख हुआ है।

अग्निपुराण मे शब्दालकार—विवेचन व्यवस्थित है पर स्पष्ट नही है। इसका कारण उदाहरणो का अभाव है। पुराणकार ने शब्दालकारो की सख्या मे वृद्धि करके एक नये मार्ग को प्रशस्त किया है पर भोज के अतिरिक्त इसका अनुकरण नही हुआ। महत्त्व की दृष्टि से इसे प्राचीन एव अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के मध्य एक शृंखला के रुप में माना जा सकता है।

(ख) भोज-सरस्वतीकंठाभरण (१०८७ से ११०७ वि० के मध्य)

सरस्वती कठाभरण के द्वितीय परिच्छेद में शंब्दालंकारो का विवेचन किया गया है। इन्होंने अलकारों के तीन भेद माने है—बाह्य, आभ्यन्तर और बाह्याभ्यन्तर।[4] प्रत्येक के २४-२४ भेद एव ६-६ उपभेद किए गए है। बाह्य अलंकार—जो शब्दालंकार का ही नाम भेद है—के २४ भेद इस प्रकार है—जाति, गति, वृत्ति, रीति, छाया, मुद्रा, उक्ति, भणिति, गुम्फना, शैय्या, पठिति, यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, वाकोवाक्य, प्रहेलिका, गूढ़, प्रश्नोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य और अभिनेय। परवर्ती आचार्यों ने इनमें से कई अलंकारों को ग्रहण नही किया। केवल यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र और प्रहेलिका ही विवेच्य शब्दालंकार है।

---

१. स्यादावृत्तिरनुप्रासो वर्णानि पदवाक्ययोः।
एक वर्णोऽनेक वर्णावृत्तेर्वर्ण गुणो द्विधा॥ —अग्निपुराण; ३४३-१

२. गोष्ठ्यां कौतूहलाध्यायी वाग्वंधश्चित्रमुच्यते। वही; ३४३-२२

३. दुःखेन कृतमत्यर्थ कवि सामर्थ्य सूचकम्।
दुष्करं नीरसत्वेऽपि विदग्धानां महोत्सवः॥
नियमाश्च विदर्भाश्च बंधाश्चभवति त्रिधा।—अग्निपुराण; ३४३-३२ तथा ३३

४. सरस्वतीकंठाभरण; २-१

विभिन्न अर्थ तथा एक रूप वाली वर्ण-सम्प्रदाय की आवृत्ति को, जो व्यवधान या अव्यवधान से होती है यमक कहते हैं।[1] भोज ने इस अलंकार का विस्तार से विवेचन किया है और इसके ६० उदाहरण दिये हैं। श्लेष अलंकार में भोज ने रुद्रट का अनुकरण किया है। अन्तर केवल इतना है कि रुद्रट ने श्लेष अलंकार के आठ भेद माने हैं, पर भोज ने केवल ६ भेद ही स्वीकार किये हैं।[2] भोज ने अनुप्रास की बहुत प्रशंसा की है। जिस प्रकार ज्योति से चन्द्रमा और लावण्य से युवती की शोभा होती है उसी प्रकार अनुप्रास से काव्य शोभा-सम्पन्न बनता है।[3] यदि काव्य में अनुप्रास का लेश भी हो तो उपमा आदि से रहित होने पर भी वह शोभा प्राप्त करता है।[4] श्रुत्यनुप्रास को भोज ने अनुप्रास-नायक माना है और वैदर्भ की सनाथता इसी पर आधारित बताई है। इनके अनुसार वाग्देवी किसी प्रतिभा सम्पन्न कवि से ही पुण्यों के कारण अनुप्रास-शक्ति का सन्निवेश करती है।[5] अनुप्रास के अनेक भेदोपभेद किये गए हैं। इनका चित्रालंकार-विवेचन संस्कृत-काव्यशास्त्र में सबसे अधिक विस्तृत और सांगोपांग हुआ है। भोज ने चित्र के ६ भेद किये हैं[6]—वर्णचित्र, स्थान चित्र, स्वर चित्र, आकार चित्र, गतिचित्र और बन्धचित्र। इनके भेदोपभेद किये गए हैं। क्रीडा, गोष्ठी, विनोद आदि में प्रहेलिका की उपयोगिता स्वीकार करते हुए[7] भोज ने इसके ६ भेदों का विवेचन किया है।

सरस्वती कण्ठाभरण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि विषय को जितना विस्तार दिया जा सकता था, दिया गया है। यह संग्रह-ग्रंथ है और प्रचलित अनेक विचारधाराओं का समन्वय बड़ी ही सुरुचि-सम्पन्नता के साथ हुआ है।

---

१. सरस्वती कंठाभरण; २-५८
२ वही; २-७०
३. यथा ज्योत्स्ना चन्द्रमसं यथा लावण्यमंगनाम् ।
   अनुप्रासस्तथा काव्यमलंकर्तुमयं क्षमः ॥ —वही; २-७३
४. वही; २-१०६
५. वही; २-तथा ७३
६. वर्णस्थानस्वराकारगतिबंधान्प्रतीह्यः ।
   नियमस्तद्बुधैः षोढा चित्रमित्यभिधीयते ॥ —वही; २-१०९
७. क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे ।
   परव्यामोहने चापि सोपयोगा प्रहेलिका ॥ —सरस्वती कंठाभरण; २-१३४

(४) ध्वन्युत्तर काल

(क) मम्मट–काव्यप्रकाश (११५७ वि० के लगभग)

काव्यप्रकाश से काव्यशास्त्र में एक नया युग प्रारम्भ होता है क्योंकि मम्मट ने इसमें पूर्ववर्ती प्रायः सभी आचार्यों के मतमतान्तरों का मन्थन करके काव्य सिद्धान्तों का विवेचन किया है। इसके नवम उल्लास में वक्रोक्ति, अनुप्रास, लाटानुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास नामक सात शब्दालंकारों का विवेचन प्रस्तुत किया है। ये अलंकार को हारादि के समान सौन्दर्यवर्धक मानते हैं।[1]

आचार्य मम्मट ने वक्रोक्ति का यह लक्षण दिया है—जब वक्ता द्वारा अन्य प्रकार से अन्य अर्थ में कहा हुआ वाक्य श्रोता के द्वारा श्लेष या काकु से अन्य अर्थ में ग्रहण किया जाता है तब वक्रोक्ति अलंकार होता है।[2] इन्होंने श्लेष वक्रोक्ति के दो भेद किये हैं–सभंग श्लेष वक्रोक्ति और अभग श्लेषवक्रोक्ति। मम्मट ने अनुप्रास का रस से सम्बन्ध जोड़कर[3] संस्कृत-काव्यशास्त्र में एक नूतन अध्याय का श्रीगणेश किया है। लाटानुप्रास के ५ भेद किये हैं–अनेक पद की, एक पद की, एक समासगत प्रातिपादिक की और समासमगत प्रातिपादिक से युक्त लाटानुप्रास। हिन्दी मे कुछ आचार्यों ने इस वर्गीकरण को अपनाया है। मम्मट ने यमक प्रपंच को अधिक महत्व नही दिया। इन्होंने श्लेष के दो भेद किये हैं—शब्द श्लेष और अर्थ श्लेष। श्लेष को शब्दालकार माना जाय या अर्थालंकार—इस समस्या का सर्वप्रथम समाधान मम्मट ने ही किया है और श्लेष को शब्दालंकार सिद्ध किया है।[4] चित्रालकार को मम्मट कष्टकाव्य मानते हैं[5], अतः इसके विवेचन के प्रति इन्होंने उपेक्षा भाव प्रदर्शित किया है और केवल खड्गबंध, मुरज बंध, पद्म बंध और सर्वतोभद्र के उदाहरण दिये है। पुनरुक्त-वदाभास को उभयालकार मानते हुए[6] इसके सभंग और अभंग–दो भेद किये हैं।

---

१ हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः। —काव्यप्रकाश; ८-६७

२. यदुक्तमन्यथावाक्यमन्याऽन्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥—वही; ६-६८

३. रसाद्यनुगतः प्रकृष्टो न्यासोऽनुप्रासः। —वही; ६-७६ (वृत्ति)

४. काव्यप्रकाश, कारिका ८५; सूत्र १२०

५. कष्टं काव्यमेतदिति दिङ्‌मात्रं प्रदर्श्यते।—काव्यप्रकाश; ६-८५ (वृत्ति)

६. पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा।
एकार्थतेव शब्दस्य तथा शब्दार्थयोरयम्॥ —काव्यप्रकाश ६-८६

मम्मट को संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में युगान्तकारी विवेचक माना जाता है। इनके विवेचन का प्रभाव परवर्ती संस्कृताचार्यों पर ही नहीं, हिन्दी के आचार्यो पर भी पडा है। यहीं से यमक और चित्रालंकार के महत्व का ह्रास होता है। शब्दालंकारों की संख्या सीमित करके तथा अनुप्रास का रस से सम्बन्ध जोड़कर मम्मट ने काव्यशास्त्र की महती सेवा की है। सामान्य पाठक काव्यप्रकाश को पढ़कर पूर्वाचार्यो को भूल-सा जाता है, हिन्दी के आचार्य तो मम्मट से पूर्व वहुत ही कम गए हैं।

(ख) रूय्यक अलंकारसर्वस्व (११६२-१२१२ वि. के मध्य)

अलकार सर्वस्व के आरम्भ में ही शब्दालंकारों का विवेचन है। रूय्यक ने आश्रयाश्रयिभाव-सिद्धान्त[1] से अलंकारों का वर्गीकरण एवं विवेचन करके संस्कृत काव्यशास्त्र को नूतन-दिशा प्रदान की है। आचार्य मम्मट के अन्वयव्यतिरेक-सिद्धान्त का खण्डन करके इन्होंने अपने सिद्धान्तानुसार पुनरूक्तवदाभास, छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, यमक, लाटानुप्रास और चित्र का विवेचन किया किन्तु ये सभी इनकी दृष्टि मे शब्दालंकार नहीं हैं। पुनरूक्तवदाभास को इन्होने अर्थालंकार[2] और लाटानुप्रास को उभयालंकार[3] माना है।

रूय्यक के शब्दालंकार-विवेचन में सूत्रों से वृत्ति का महत्व अधिक है और यही इस ग्रन्थ की विशेपता है।

(ग) शोभाकर मित्र-अलंकार रत्नाकर (१२५०-१३२० वि.)

अलंकार रत्नाकर में ६ शब्दालंकारों की चर्चा है, जिनमें से तीन अनुप्रास के भेद (छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास और लाटानुप्रास) है। पुनरूक्तवदाभास-विषयक खण्डन-मण्डन इस ग्रन्थ का प्रमुख आकर्षण है। शोभाकर मित्र ने रूय्यक की मान्यता का खण्डन करते हुए वताया है कि पुनरूक्ति अर्थ का नहीं, शब्द का धर्म है अतः पुनरूक्तवदाभास को शब्दालंकार हो मानना चाहिये, अर्थालंकार नही।[4]

अलंकार रत्नाकर में उदाहरण विभिन्न ग्रन्थों से संग्रहित है। निरूपण शैली सरल है।

---

१. अलकार सर्वस्व, पृ० २५७

२. अर्थपौनरूक्त्वादेवार्थाश्रितत्वादर्थालंकारत्वं ज्ञेयम्। —अलंकार सर्वस्व; पृ० २१

३. उभयालंकारा लाटानुप्रासादयः। —वही; पृ० २५६

४. आमुखतुल्यार्थत्वस्य च शब्द धर्मत्वेन शब्दाश्रयत्वाच्छब्दालंकारोऽयम्।
न त्वर्थ धर्मः पौनरूक्त्यमलंकार इत्यर्थालंकारता वाच्या॥

—अलंकार रत्नाकर; सूत्र १ (वृत्ति)

(घ) हेमचन्द्र-काव्यानुशासन (१२५७ वि. का उत्तरार्ध)

आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन के पंचम अध्याय मे शब्दालंकारो का विवेचन किया है। अनुप्रास, लाटानुप्रास, यमक, चित्र, श्लेष, भाषाश्लेष, वक्रोक्ति और पुनरूक्तवदाभास को इनके ग्रन्थ मे स्थान प्राप्त हुआ है। अनुप्रास का विवेचन सामान्य है। लाटानुप्रास और यमक एक हो गये है। ये यमक को कष्टकाव्य कहते है। इनका कथन है कि यमकबहुल काव्य न तो किसी पुरुषार्थ का प्रदाता होता है और न रसानुभूति में सहायक होता है वरन् कष्टकाव्य होने के कारण रसभंग का ही कारण होता है।[1] चित्रालंकार के लक्षण में इन्होने इसके अनेक भेदो का उल्लेख किया है। श्लेष विवेचन मम्मट सम्मत है। पुनरूक्तवदाभास को इन्होने पुनरूक्ताभास कहा है किन्तु लक्षण में कोई नवीनता नही है।[2] वक्रोक्ति लक्षण भी मम्मट के अनुकरण पर दिया है।[3]

काव्यानुशासन मौलिक ग्रथ नही है पर लेखक की इसमे सचय-प्रतिभा का अच्छा परिचय मिलता है। यह सूत्र-शैली में लिखा गया है अत स्वय आचार्य ने 'अलकार चूड़ामणि' नामक वृत्ति और 'विवेक' नामक टीका की रचना की, उदाहरणो मे जैनाचार्यों की रचनाओं को विशेप महत्त्व दिया गया है।

(ङ) वाग्भट (प्रथम)-वाग्भटालंकार (१२५० वि.)

वाग्भटालकार के प्रथम तथा चतुर्थ परिच्छेदो मे शब्दालंकारो का विवेचन हुआ है। प्रथम परिच्छेद में प्रसगत् यमक, श्लेष एवं चित्रालंकार सम्वन्धित कुछ नियमो का उल्लेख भी किया गया है।

चतुर्थ परिच्छेद में चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक को 'ध्वन्यलंक्रिया' अर्थात् ध्वनि के अलकार माना गया है।[4] वाग्भट ने चित्रालंकार का लक्षण मौलिक दिया है— जिस पद्यवन्ध मे अङ्ग-सन्धि रूप अक्षरों से प्रसादगुणयुक्त अर्थ की कल्पना की गई हो, उसे चित्रालंकार कहते है।[5] इन्होने चित्र के तीन भेद किये है—अलकार चित्र, स्वरचित्र और व्यंजन चित्र। इनके उदाहरण भी दिये हैं। वक्रोक्ति और अनुप्रास के विवेचन मे कोई नवी-

---

१. काव्यानुशासन; ५-३ (वृत्ति)

२. भिन्नकृतेः शब्दस्यैकार्थतेन पुनरुक्ताभासः। काव्यानुशासन; ५-८

३. उक्तस्यान्येनान्यथा श्लेषादुक्तिर्वक्रोक्तिः।—काव्यानुशासन; ५-७

४. चित्रवक्रोक्त्यनुप्रासो यमकं ध्वन्यलंक्रियाः। —वाग्भटालंकार; ४-३

५. यत्रांगसन्धितद्रूपैरक्षरैर्वस्तु कल्पना।
सत्यां प्रसत्तौ तच्चित्रं तच्चित्रं चित्रकृच्च यत्॥—वही; ४-७

नता नही है। यमक में वर्गीकरणगत मौलिकता है। उनका कथन है—भिन्न अर्थ वाले पाद, पद और वर्ण की संयुक्त और असंयुक्त (व्यपेत तथा अव्यपेत) रूप से आवृत्ति में यमकालकार होता है। श्लोक के आदि, मध्य और अन्त इसके स्थान है।[1]

हेनचन्द्र के बाद चित्र को प्रथम कोटि का अलकार मानने वाले आचार्यों में ये प्रथम है। ये प्राकृत के भी कवि थे। वस्तुत. इनका नाम वाहड था। वाग्भट उसी का संस्कृत रूप है।

(च) नरेन्द्रप्रभ सूरि-अलंकार महोदधि (१२८० वि.)

अलकार महोदधि की सप्तम तरग मे नरेन्द्रप्रभ सूरि ने शब्दालकारो का विवेचन किया है। पहले इन्होंने शब्दालंकारो का महत्त्व प्रतिपादित किया है। वे कहते है कि काव्य कितना ही निर्दोष एवं गुणयुक्त हों, पर शब्दालकारो के बिना उसमें वैचित्र्य नहीं आता।[2] आगे वे लिखते हैं—नीरसवाणी भी शब्दगत अलंकारों को धारण करके हृदयहारिणी बन जाती है, जैसे कि काठ की पुतली अलंकृत होने पर मन को बलात् आकर्षित कर लेती है।[3] अनुप्रास, यमक, चित्र, वक्रोक्ति और पुनरुक्तवदाभास इनके विवेच्य शब्दालंकार हैं।

अनुप्रास की इन्होंने बड़ी प्रशंसा की है और उसे 'सकलकवि-कुलाराध्य' माना है। उसका लक्षण दिया है—नातिदूरान्तरस्थित अक्षरो की आवृत्ति को अनुप्रास कहते हैं, जिसके श्रुत्यनुप्रास, छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास और लाटानुप्रास ये चार भेद है।[4] श्रुत्यनुप्रास के तीन, छेकानुप्रास के चार और वृत्यनुप्रास के १२ भेद माने हैं। अन्य अलंकारों का विवेचन सामान्य और परम्परागत है।

नरेन्द्रप्रभ सूरि ने शब्दालंकारो की महत्ता प्रतिष्ठित की। इनके अनुप्रास के विवेचन में मौलिकता दिखाई देती है।

(छ) जयदेव-चन्द्रालोक (१३५० वि.)

जयदेव ने चन्द्रालोक के पंचममूयख में शब्दालंकारों का विवेचन किया है। इन्होंने अनुप्रास, पुनरुक्तप्रतीकाश, यमक और चित्र का विवेचन किया है।

---

१. वही; ४-२२

२. निर्दोषोऽपि गुणाढ्योपि शब्दो नालंकृति विना।
वैचित्र्यमश्नुते तादृक् तच्छब्दालंकृती ब्रुवे॥ अलंकार महोदधि; ७-१

३. इतिशब्दगतामलंकृति दधती भात्यरसापि भारती।
कटकादि विभूषणांकिता हरते कृत्रिमपुत्रिकाऽप्यलम्॥ —अलंकार महोदधि; ७-२५

४. अनुप्रासोऽक्षरावृत्तिर्नाति दूरान्तरस्थिता।
स चतुर्धा श्रुतिच्छेकवृत्तिलाटानुवृत्तिभिः॥ —अलंकार महोदधि; ७-२

अनुप्रास के इन्होंने दो मूल भेद माने है—वर्णानुप्रास और शब्दानुप्रास। शब्दानुप्रास के तीन भेद हैं—लाटानुप्रास, स्फुटानुप्रास और अर्थानुप्रास। अर्थानुप्रास और स्फुटानुप्रास संस्कृत काव्यशास्त्र के लिए नये नाम है। यदि श्लोक के पूर्वार्ध मे अथवा प्रत्येक पाद में वर्णों की आवृत्ति हो तो उसे स्फुटानुप्रास कहते हैं।[1] अर्थानुप्रास में प्रयुक्त उपमान और उपमेय में वर्ण साम्य होता है।[2] अर्थज्ञान से पूर्व ही समान वर्ण वाले पदों के ज्ञान से अर्थानुप्रास का बोध होता अत इसे शब्दालकार माना जा सकता है। पुनरुक्तप्रतीकाश, यमक एवं चित्रालकार का विवेचन सामान्य है।

चन्द्रालोक अलंकार सम्प्रदाय का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें पुनरुक्तवदाभास को नया नाम पुनरुक्तप्रतीकाश प्रदान किया गया है। पीयूषवर्षी जयदेव के इस ग्रन्थ की तीन विशेषताएँ द्रष्टव्य है। प्रथम—अनुप्रास के दो नवीन भेद—स्फुटानुप्रास और अर्थानुप्रास का विवेचन हुआ है। द्वितीय—मम्मटादि की मान्यताओं का प्रत्याख्यान करते हुए काव्य में अलंकार की नित्यस्थापना[3] की और तीसरे खण्डन-मण्डन से रहित लक्षण और उदाहरण के लिए उपयोगी सक्षिप्त शैली का उपयोग किया। चंद्रालोक एक लघु कृति होते हुए भी उत्तरकाल में आदरपात्र हुई है। अप्पय दीक्षित ने इसके आधार पर कुवलयानन्द की रचना की, जो इनकी यशस्विता की सूचक है।

(ज) विद्याधर-एकावली (१३५७-१४७० वि.)

विद्याधर ने एकावली के सातवे उन्मेष में शब्दालंकारो का विवेचन किया है। आचार्य मम्मट की ही भाँति इन्होंने यमक और चित्रालंकार को हेय माना है। इनका कथन है कि यमक और चित्रालंकार मे रसपुष्टि नही होती, अत दुष्कर और असाधु होने के कारण इन्हें काव्य के अलकार न मानकर काव्य के दोष मानना चाहिए।[4] चित्र विषयक इनके दो मत प्रसिद्ध है। प्रथम यह कि आकार चित्र की भांति वंधचित्र की उत्पत्ति भी

---

१. श्लोकस्यार्धे तदर्धे वा वर्णावृत्तिर्यदि ध्रुवा।
तदाभता मतिमतां स्फुटानुप्रासता सताम्॥ —चन्द्रालोक; ५-५

२. उपमेयोपमानादावर्थानुप्रास इष्यते।
चन्दनं खलु गोविन्दचरण द्वन्द्व वन्दनम्॥ —चन्द्रालोक; ५-६

३. अङ्गी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृति।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृति॥ —चन्द्रालोक; १-८

४. प्रायशो यमके चित्रे रसपुष्टिर्न दृश्यते।
दुष्करत्वादसाधुत्वनेकमेवात्र दूषणम्॥ —एकावली; ७-५

वर्णों के आकारोल्लास पद्मादिरूप जनक अक्षरों के लिखने से ही होती है।[1] द्वितीय—ऐसे वर्णचित्र जिनमें स्वरो का अभाव और व्यंजनों का सादृश्य होता है, उन्हे चित्रालंकार न मानकर वृत्यनुप्रास ही मानना चाहिए।[2]

विद्याधर का विवेचन मौलिक एवं नूतन दिशा-प्रदर्शक है एकावली पर कोलाचल मल्लिनाथ की तरला-टीका प्रसिद्ध है। एकावली की कारिकाएँ, वृत्ति एवं उदाहरण सभी विद्याधर-रचित है।

(झ) विश्वनाथ-साहित्य दर्पण (१३७५-१४०० वि.)

साहित्य दर्पण के दशम परिच्छेद मे पुनरूक्तवदाभास, अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, भाषासम, श्लेष, चित्रालकार और प्रहेलिका का विवेचन हुआ है।

पुनरूक्तवदाभास का लक्षण परम्परागत है। अनुप्रास का विवेचन व्यवस्थित एवं स्पष्ट है। इन्होंने स्वरों के वैषम्य होने पर भी शब्दसाम्य मे अनुप्रास माना है।[3] अनुप्रास के ५ भेद हैं—छेकानुप्रास वृत्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास और लाटानुप्रास। अन्त्यानुप्रास नवीन भेद है। इसमें पहले स्वर के साथ यथावस्था व्यजन की आवृत्ति होती है।[4] इस अनुप्रास का उपयोग पद अवस्था पाद के अन्त में होता है। यमक, वक्रोक्ति और श्लेष का विवेचन भी परम्परागत एवं सामान्य है। भाषासमक नवीन अलकार है। इसका यह लक्षण है—जहाँ एक ही प्रकार के शब्दो से अनेक भाषाओं में वही वाक्य रहे उसे भाषासमक कहते हैं।[5] चित्रालकार को इन्होने रस विरोधी माना है। प्रहेलिका को भी 'रस-परिपथि' मानकर तथा उसे केवल उक्ति वैचित्र्य स्वीकार करके इसके भेदों का सकेत मात्र कर दिया है।[6]

१, आकारचित्र इवेह बन्धचित्रेऽपि वर्णानामाकारोल्लासकत्वात् पद्मादि रूपजनकाक्षराणां लिख्यमानत्वेन चित्रसादृश्यचित्रमिदमुच्यते।
—एकावली; ७-७ (वृत्ति)

२. यत्पुनः स्वरविरहितव्यंजनमात्रसादृश्यप्रयुक्तं वर्णचित्रमपरैजल्पधापि। तदस्मिन दर्शने वृत्यनुप्रासएव। एकावली; ७-७ (वृत्ति)

३. अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्। —साहित्यदर्पण; १०-३

४. साहित्यदर्पण, —१०-६

५. शब्दैरेक विधैरेक भाषासु विविधास्वपि।
वाक्यं यत्र भवेत्सोऽयं भाषासम इतीष्यते॥ - साहित्यदर्पण; १०-१०

६. रसस्यपरिपंथित्वात् नालंकारः प्रहेलिका।
उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा च्युतदत्ताक्षरादिका॥ —साहित्यदर्पण; १०-१३

साहित्य दर्पण अपने गुणों के कारण सस्कृत काव्यशास्त्र में उच्चकोटि का ग्रन्थ माना जाता है। यह अपनी सुवोध शैली, रोचक प्रतिपादन एवं उदाहरणो के कारण अति प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। उदाहरणों में अन्य ग्रन्थों के अतिरिक्त आचार्य विश्वनाथ ने अपने पितामह, पिता एवं स्वय रचित पद्यों का भी स्थान-स्थान पर उपयोग किया है। इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का एक आधार है इसकी सर्वाङ्गीण पूर्णता। विश्वनाथ के अपने ही अन्य ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' से यह अधिक पूर्ण है।[1] साहित्यदर्पण के मूलाधार मम्मट और रूय्यक है विशेपतः अलकार प्रकरण में तो 'अलंकार सर्वस्व' ही विश्वनाथ का आदर्श रहा है।

अन्य आचार्य

आचार्य विश्वनाथ के पश्चात् भी संस्कृत काव्यशास्त्र मे शब्दालंकार-विवेचन की परंपरा चलती रही। वाग्भट (द्वितीय) केशव, कर्णपूर गोस्वामी, अच्युतराय,विद्याभूषण,अभिनव कालिदास, कृष्णकवि आदि आचार्यो-कवियों ने शब्दालकारों के विवेचन को अपने ग्रथो मे स्थान दिया, किन्तु इनके विवेचनों में केवल पिष्टपेपण ही अधिक हुआ है। नवीन-सिद्धान्त अथवा नूतन दृष्टिकोण इनमे दृष्टिगत नही होता। शब्दालकारो के विवेचन की ऐतिहासिक परम्परा में इनका कोई विशेप स्थान नहीं है।

निष्कर्ष

भरत से लेकर विश्वनाथ तक संस्कृत-काव्यशास्त्र में शब्दालंकारों के विवेचन की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। उनके स्वरूप, संख्या और स्थान के विपय में समय-समय पर मतवैभिन्य रहा है। शब्दालंकारो के क्रम एवं सख्या के विपय में आचार्यों ने अपनी-अपनी रुचि को ही आधार माना है। केवल आचार्य मम्मट और रूय्यक ने अपने-अपने सिद्धान्तों अन्वयव्यतिरेक और आश्रयाश्रयिभाव—के आधार पर इस विपय में स्वतन्त्र मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया। संस्कृत में विवेचित कुल शब्दालंकारों की संख्या २८ है। जिनके औचित्य के विपय में इस शोध-प्रबन्ध में अन्यत्र विचार किया गया है।

शब्दालकार-विवेचन आचार्यो की परम्परा विश्वनाथ के पश्चात् भी चलती रही, पर प्रायः सभी आचार्यो ने पिप्टपेपण ही किया है। हिन्दी को संस्कृत की यह विशाल परंपरा दाय के रूप मे प्राप्त हुई।

---

१. हिन्दी अलंकार-साहित्य; पृ० ४०

पंचम परिच्छेद

रीतिकालीन काव्य में शब्दालंकार

पंचम-परिच्छेद

रीतिकालीन काव्य में शब्दालंकार

रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ एवं शब्दालंकार

रीतिकाल ह्रासोन्मुख सामन्तयुग का चरमबिन्दु है। अतिशय भोगवाद एवं प्रदर्शन-प्रिय राजन्य-संस्कृति ने आत्माभिव्यक्ति के बजाय आत्मप्रदर्शन की प्रवृत्ति को जन्म दिया। इस अभिशप्त काल पर आलोचकों की वक्रदृष्टि रही है। "द्विवेदी-युग ने इसे सदाचार विरोधी कहकर नैतिक आधार पर इसका तिरस्कार किया, छायावाद की सूक्ष्म सौन्दर्यदृष्टि रीतिकाव्य के स्थूल सौन्दर्यबोध के प्रति हीन भाव रखती थी; प्रगतिवाद ने इस पर समाज विरोधी एवं प्रतिक्रियावादी होने का दोष लगाया और प्रयोगवाद ने इसकी विषयवस्तु और अभिव्यंजना प्रणाली को एक दम बासी घोषित कर दिया।"[1] इसके विपरीत कुछ आलोचकों ने रीतिकालीन काव्य को ही सर्वस्व मान लिया है। निष्पक्ष दृष्टिकोण से दोनो ही विचार धाराएँ ग्राह्य नही है। 'रीतिकालीन काव्य में कुछ ऐसा कूड़ा-कचरा भी है, जिसे साफ किये बिना सब कुछ ग्रहण कर लेना अनुपयुक्त होगा, किन्तु सम्पूर्ण अन्न-राशि को भूसी समझकर फेंक देना भी हमारे लिए आत्मघाती होगा।'[2]

वस्तुत: कला की दृष्टि से रीतिकाल का महत्त्व असंदिग्ध है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में सर्वप्रथम रीतिकवियों ने काव्य को शुद्ध कला के रूप में ग्रहण किया। शब्दालंकार की चमत्कार-पोषक संजीवनी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है।

शब्दालंकार के मूल में छिपे रीतिकालीन परिवेश एवं प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन आवश्यक है। अग्रिम पृष्ठों में हम रीतिकालीन प्रवृत्तियों का विस्तार से अवलोकन करेंगे।

रीतिकाल-नामकरण

'रीति' शब्द का साधारण रूप से अर्थ होता है—गति, पद्धति, प्रणाली, मार्ग आदि।[3] भोज भी इसी मत से सहमत हैं[4] संस्कृत काव्यशास्त्र में 'रीति' शब्द एक काव्याङ्ग के रूप

१. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (षष्ठ भाग); पृ० ५४६
२. साहित्यिक निबन्ध; पृ० २६४
३. भारतीय साहित्यशास्त्र (द्वि० खं०); पृ० १४७
४. सरस्वती कंठाभरण; २-१२

में प्रयुक्त होता रहा, किन्तु जब वामन ने इसे काव्य की आत्मा घोषित किया तो अन्य काव्याङ्गो की तरह इसकी महत्ता भी नष्ट हो गई।

हिन्दी मे 'रीति' शब्द का प्रयोग काव्य-रचना पद्धति तथा उसके निर्देशक-शास्त्र के रूप मे होता रहा है। केशव ने इसी अर्थ में पथ शब्द का प्रयोग किया है।[1] हिन्दी मे रीति का प्रयोग साधारणत: लक्षण ग्रन्थों के लिए होता है। जिस ग्रन्थ मे रचना सम्बन्धी नियमो का विवेचन हो वह रीतिग्रथ और जिस काव्य की रचना इन नियमो में आवद्ध हो वह रीति-काव्य। आजकल तो रीतिकवि या रीतिग्रन्थ मे प्रयुक्त 'रीति' शब्द का सम्बन्ध काव्यशास्त्र के साथ ही स्थापित हो गया है। अतः शृङ्गार रस समन्वित विविध अलकारों से सुसज्जित; ध्वनि, वक्रोक्ति और गुणो की मौलिकमाला धारण किए हुए जिस कविता-कामनी का सृजन जिस काल विशेष में हुआ है उसे रीतिकाल कहा जाता है। इस दृष्टि से जिसने रीतिग्रथ रचा हो वही रीति कवि नही है वरन् जिसका काव्य के प्रति दृष्टिकोण रीतिवद्ध हो वह भी रीतिकवि है। शुक्ल जी के बाद कुछ आलोचको ने उस काल को रीतिकाल की अपेक्षा अलंकार-काल या शृङ्गार-काल कहना अधिक उपयुक्त माना, पर हिन्दी मे उसका अनुसरण नही हुआ क्योंकि रीतिकाल के कवियो की कविताओं में केवल शृङ्गार या अलकारो का प्राधान्य नही है। अलकार तो उनकी काव्यकला का एक अङ्ग माना जा सकता है। एक ही काल में अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ या विचार धाराएँ प्रचलित रहती है। उनमें से जो प्रवृत्ति या विचारधारा प्रवल होकर सवसे अधिक व्याप्त हो जाती है उसी के आधार पर उस काल का नामकरण हो जाता है। उत्तर मध्यकाल में भी भक्ति-भावना का लोप नही हुआ था, किन्तु वह मुख्य स्वर नही था। रीतिकाव्य के प्राचुर्य ने भक्ति की विरलधारा को ढक लिया था। डॉ० नगेन्द्र के शब्दो में—अनेक कारणों से हमने परम्परा सिद्ध 'रीतिकाल' नाम ही ग्रहण किया है, शृङ्गारकाल नही। यों तो दोनों में कोई भेद नही, फिर भी 'शृङ्गार' की अपेक्षा 'रीति' शब्द ही हमारे दृष्टिकोण के अधिक निकट है।[2]

हम देखते है कि रीति का प्रभाव इस काल के प्रत्येक कवि पर है चाहे वह रीति वद्ध-कवि हो, चाहे रीतिसिद्ध कवि चाहे रीतिमुक्त कवि। अतः आज हिन्दी के प्रायः सभी विद्वान, आलोचक एवं इतिहासकार केशव, विहारी, देव, पद्माकर आदि के काव्य विशेष को रीतिकाव्य एव उनके काल को रीतिकाल के नाम से अभिहित करते है। हमे भी यही अभीष्ट है।

---

१. समुझे वाला वालकहूँ वर्णन पंथ अगाध। —कविप्रिया; ३-१

२. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास (षष्ठ भाग); भूमिका; पृ० १

रीतिकाल-सीमा एवं काल विभाजन

सामान्यतः हिन्दी रीतिकाव्य का आरम्भ भक्तिकाल में ही देखा जा सकता है। 'ऐसे कृष्णभक्त कवि थे जिन्होंने अलंकार या नायिका भेद को स्वीकार करके रीतिकाव्य का अप्रत्यक्ष प्रणयन किया था। सूरदास की साहित्य लहरी और नन्ददास की रस मंजरी ऐसे ही ग्रन्थ है। दूसरी ओर रस अलकार आदि काव्यांग निरूपण करने वाले कवि थे जो भक्ति की धारा मे रीति का रस घोल रहे थे। कृपाराम कृत हिततरंगिणी (१६६८) को इसीलिए प्रथम रीतिकाव्य ग्रन्थ माना जाता रहा है,[1] किन्तु इस काल का मुख्य-स्वर रीति नहीं हो पाया था। सत्रहवीं शती मे रीतिक.व्य का उदय तो हुआ किन्तु परिमाण और गुण में उस समय का रीतिकाव्य भक्ति-काव्य जैसा ही था।

केशव के पहले जिन रीतिप्रवर्तक कवियों का इतिहास-ग्रन्थो में उल्लेख है, उन पर अद्यावधि प्रामाणिक अनुसन्धान नही हो सका है। अतः केशव ही सर्वप्रथम रीतिकाव्य के सर्वाङ्ग-निरूपक प्रौढ कवि एव आचार्य सिद्ध होते है। चिन्तामणि भी उनकी तुलना में हलके ठहरते है। आचार्य केशवदास का रीतकाव्य-परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान है किन्तु उनके काल को रीतिकाल का प्रारम्भकाल ही माना जाता है क्योकि केशव के परवर्ती हिन्दी के रीतिबद्ध-कवियो ने केशव के अलकार-सिद्धान्तो को पूर्णत: स्वीकार नहीं किया। आचार्य शुक्ल ने लिखा है—'इसमे सन्देह नही कि काव्यरीति का सम्यक् समावेश पहले-पहल आचार्य केशव ने ही किया पर हिन्दी मे रीतिग्रथो की अविरल और अखण्डित परम्परा का प्रवाह केशव की कविप्रिया के प्राय. पचास वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्श को लेकर नही।'[2] केशव के प्रादुर्भाव काल से रीतिकाल का प्रवर्तन स्वीकार न करके चिन्तामणि के समय से ही रीतिकाल का प्रवर्तन मानना अधिक युक्ति सगत है। इस दृष्टि से रीतिकाल का वास्तविक आरम्भ सम्वत् १७०० वि० मे ही मानना चाहिए। शृङ्गार-प्रधान रीतिकाव्य का व्यापक प्रभाव इसी समय से प्रारम्भ हुआ और १६०० वि० तक हिन्दी-काव्य पर बना रहा। यह दो सौ वर्षो का काल रीतिकाल के नाम से जाना जाता है।

रीतिकाल के दो सौ वर्षों को तीन विभागों में बाटा जा सकता है। प्रथम उत्थान के ७० वर्षो मे सस्कृत-ग्रन्थो का अनुवाद ही अधिक हुआ। संस्कृत के अलंकार विषयक ज्ञान को ज्यों का त्यों भाषा काव्यशास्त्र में लाने की प्रवृत्ति इस काल में रही। चिन्तामणि,

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (षष्ठ भाग); पृ० १६६
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास (शुक्ल सं० २०१६ वि०) ; पृ० २२५

जसवन्तसिंह, मतिराम, कुलपति आदि आचार्य अनुवादक ही है। द्वितीय उत्थान के ७० वर्षो में मौलिकता की भावना से आचार्यो को लक्षणों मे नवीनता लाने की ओर उन्मुख किया। परिणाम यह हुआ कि अधिकतर लक्षण ग्रंथ मौलिक होने के स्थान पर शिथिल और अस्पष्ट होगए। भिखारीदास जैसे कुछ आचार्यो को छोड़कर शेष इसी कोटि के है। रीतिकाल के अन्तिम ६० वर्षो मे आलंकारिकों की विश्लेषण प्रतिभा प्रौढता ग्रहण करने लगी। रसिक गोविन्द, निहाल, ग्वाल आदि इसी समय के आचार्य है।

रीतिकाल की उत्तर-सीमा का प्रश्न भी विचारणीय है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आगमन के पूर्व तक अर्थात् सम्वत् १६५० वि० तक ऐसे अनेक रससिद्ध कवि हुए है जिन्होने रीति-वद्ध काव्यशैली को स्वीकार कर वैसी ही उत्कृष्ट रचनाएँ की जैसी रीतिकालीन कवि करते थे किन्तु इस समय के कवि शृङ्गार को इस युग की प्रमुख प्रवृत्ति बनाने मे समर्थ नही हो सके। उस युग की काव्यात्मा शृङ्गार से हटकर सामाजिक एवं राजनैतिक चेतना में प्रविष्ट हो गई थी। सन् १८५७ ई० की क्रान्ति के बाद एक विशेष प्रकार की राजनैतिक चेतना देश में व्याप्त हो गई थी। फलत शृंगार प्रधान रीतिकविता का स्थान गौण हो गया।

निष्कर्षत. हम यह कह सकते है कि रीतिकाल का सीमा निर्धारण सम्वत् १७०० वि० से १६०० वि० तक माना जाना चाहिए। केशव से ग्वाल तक फैले दो सौ वर्षो के युग को रीतिकाल कहा जा सकता है।

रीतिकालीन परिस्थितियाँ

प्रत्येक युग के भीतर से वहकर जाने वाली प्रवृत्तियो एव परम्पराओ का अपना एक इतिहास होता है। यह सत्य है कि जिस वातावरण मे रीति-काव्य लिखा गया वह ठेठ मध्ययुगीन है और आधुनिक चेतना से उसकी वहुधा असंगति दिखाई देती है परन्तु भावना और सौन्दर्य का आयाम ऐसा भी होता है जहाँ कलाकृति समय की सीमाओ से ऊपर उठ जाती है।

वैदिक काल मे राजन्य वर्ग पर ब्राह्मणवर्ग का अनेक मुखी प्रभुत्व था किन्तु कालान्तर में वह समाप्त हो गया और सर्वथा एक नये युग का विकास हुआ। ब्राह्मण क्षत्रियों के आश्रित रहकर साहित्य सृजन करने लगे। वे ऋषि, राजपण्डित या राजगुरु हो गए। राजकवि भी उनमे से एक था। सभा-साहित्य की जो धारा सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश आदि भाषाओं के प्रदेश को पार करती हुई आगे वढी, वही कालान्तर मे हिन्दी साहित्य मे

दृष्टिगोचर हुई। वीरगाथा काल और भक्तिकाल के पश्चात् रीतिकालमे राजाश्रित कवि इसी परम्परा का विस्तार करते रहे।

हिन्दी साहित्य मे रीतिकाल का आरम्भ सवत् १७०० वि० मे माना जाता है। इस समय मध्यकालीन राजनैतिक व्यवस्था का आधार था व्यक्तिवादी निरकुश-राजतन्त्र। इस प्रकार की व्यवस्था मे शासक ही राष्ट्र के भाग्य का विधाता, युग-चेतना का नियामक, तथा कुछ सीमा तक विशिष्ट जीवन-दर्शन का प्रतिपादक भी होना हे। रीतिकाल का आरम्भ शाहजहा के शासन-काल के उत्तरार्द्ध से होता है। इसका पूरा इतिहास मुगल-वैभव के पतन के साथ सम्बद्ध है। औरगजेब के व्यक्तित्व मे पूरी शुष्क-सादगी थी। मुगल दरबार मे सरक्षण के अभाव मे ये कदाचित् विभिन्न सामन्तो तथा नरेशो की शरण मे जाने लगे क्योकि वहाँ कलावन्तो और कवियो की उपस्थिति उनके गौरव का प्रतीक थी। राजस्थान, गुजरात एव महाराष्ट्र के नरेशो, सामन्तो एव ठाकुरो की छत्रछाया मे हिन्दी कविता का दरबारी रूप पनपने लगा। राजश्रय वस्तुत रीति-काव्य का मेरुदण्ड है क्योकि वही कवियो के जीवनयापन का आर्थिक आधार तथा यश एव अभ्युदय की उपलब्धि का मुख्य मार्ग था।

'मध्यकालीन राजनैतिक व्यवस्था ने राजतन्त्र तथा समाजवाद के प्राधान्य ने कला तथा साहित्य को ऐश्वर्य और अलकार के रूप मे स्वीकार किया। ऐसी स्थिति मे साहित्य सर्जना का क्षेत्र अभिव्यजनागत चमत्कार और आश्रयदाता के रुचि प्रसादन तक ही सीमित होगया।'[1] प्राचीन की पुन स्थापना का श्रेय भी तत्कालीन राजकीय सरक्षण की प्रदर्शन-प्रियता का शृङ्गार प्रधान दृष्टि को ही था। मुसलमानी दरबारो मे अरबी-फारसी के विद्वान अपनी रचनाएँ लिखते थे। वे अपने काव्य मे चमत्कारमूलक अलकारो का प्रयोग करते थे। हिन्दी कवियो मे भी फारसी की टक्कर का काव्य भाषामे लाने की होड चल रही थी, जिसके लिए काव्यशास्त्र का प्रौढज्ञान आवश्यक था। अत. सस्कृत के आचार्यो के काव्य शास्त्रीय ग्रथो की सामग्री को ब्रजभाषा के माध्यम से प्रस्तुत किया जाने लगा। 'सस्कृत के काव्य शास्त्रीय प्रवाह मे अवगाहन कर भाषा-पण्डित मणिमुक्ता चयन करने लगे। उनकी मधुकरी वृत्ति जागी।'[2] इस प्रकार पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए भारतीय-ईरानी काव्य-परम्परा एव सस्कृत-काव्यशास्त्रीय धाराओ का अनोखा सगम हुआ। इससे एक बात स्पष्ट है। लगभग दो शताब्दियो ने एक भी व्यक्ति ने लीक पीटने के स्थान पर कोई नया कदम नही उठाया कुछ कवि तो अलकार-लक्षण कुछ भी नही जानते थे। वस्तुत प्राचीनो को प्रमाण मानकर उनका यथा सम्भव

१. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास (षष्ठ भाग); पृ० १०
२. रीतिकालीन अलकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन; पृ० ६३

अनुकरण ही उस काल का युग-धर्म था। फिर भी उस युग का दृष्टिकोण सराहनीय है। संस्कृत का मोह छोड़कर भाषा का माध्यम इस युग के कवियों ने अपनाया, फलतः जनजन काव्यशास्त्र से परिचित होगया। कवियों में पारस्परिक स्पर्धा एवं काव्याभ्यास की प्रवृत्ति बढ़ी। काव्य-समस्याएँ, चमत्कारपूर्ण पूर्तियाँ एवं काव्यस्पर्धाएँ रीति कवियों की दैनिन्दिनी के अनिवार्य अङ्ग हो गए।

भक्तिकालीन माधुर्य-भक्ति की उदात्त भावनाएँ और उसके सूक्ष्म तत्त्व इस काल तक आते-आते पूर्ण रूप से तिरोहित हो चुके थे। लीलापुरुष श्रीकृष्ण की माधुर्य भक्ति अब राधाकृष्ण के स्थूल मांसल शृङ्गार का रूप धारण कर चुकी थी। मुसलिम एवं सूफी सन्तों में भी स्थूल शृङ्गार, नखशिख वर्णन एवं नायिका भेदों का समावेश होने लगा। कुछ स्वनामधन्य राजा महाराजाओं को छोड़कर शेष सभी का जीवन राजनीति से पृथक् अवकाश और विलास का जीवन था। ये भोग के सभी उपकरणों और विनोद के सभी साधनों को एकत्र करने में प्रयत्नशील रहते थे। 'सुबाला, सुराही और प्याला के साथ-साथ तान-तुक ताला और गुणीजनों का सरस काव्य भी सम्मिलित था।'[1] सामाजिक जीवन में वेश्या का प्रभाव था। जिस प्रकार आध्यात्म की चर्चा अहर्निश सुनते-सुनते भक्तिकाल की जनता किसी न किसी अंश में सांसारिकता से ऊँची उठ गई थी, उसी प्रकार इस युग का साहित्यिक ही नहीं, सामान्य पाठक भी सौन्दर्यशास्त्र की व्याख्या से परिचित हो गया था। उपमा और अनुप्रास की परख तो अशिक्षित जनों को भी थी। सौन्दर्य का यह आन्दोलन उस युग की एक प्रमुख विशेषता है। यह सब सन्तों-भक्तों की उन रचनाओं की प्रतिक्रिया स्वरूप था जिनमें उन्होंने इन्द्रियों के दमन, नारी-त्याग और जीवन की क्षण-भंगुरता पर जोर दिया था। अब जीवन के किसी उदात्त प्रेरक दृष्टिकोण का अभाव था। 'अब कला को शुद्ध कला के रूप में ग्रहण किया गया। काव्यकला का अपना स्वतन्त्र महत्व था—उसकी साधना उसी के निमित्त की जाती थी। वह अपना साध्य आप थी।'[2]

रीतिकालीन काव्य का शास्त्रीय एवम् साहित्यिक-पृष्ठाधार

वेद भारतीय ज्ञान के प्राचीनतम कोश हैं। उनमें वाणी की सभी विधाओं के दर्शन किये जा सकते हैं किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से काव्यशास्त्र का जन्म ईसा की पहली शताब्दी के आसपास माना जाता है। काव्यशास्त्र में अनेक वादों एवं सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा हुई

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (षष्ठ भाग); पृ० १८२
२. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (षष्ठ भाग); पृ० १८३

जिनमें से ५ अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध हुए। ये हैं—रस सम्प्रदाय, अलकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय और ध्वनि सम्प्रदाय। भरत से लेकर पं० जगन्नाथ तक लगभग दो सहस्त्र वर्षों की सुदीर्घ परम्परा में अलंकार को किसी न किसी रूप मे स्थान मिलता रहा। इस श्रृंखला मे शब्दालकारो का कितना महत्व रहा है एव आचार्यो ने इसका कितना स्वतन्त्र चिन्तन एव स्थापन किया है, इस विषय पर इस प्रबन्ध मे अन्यत्र विस्तार से विवेचन किया गया है। सस्कृत काव्यशास्त्र की यह विपुल सामग्री–स्तोत्र साहित्य, नायिका भेद, कामसूत्र, शतक परम्पराएँ एव मुक्तक—रीतिकालीन काव्य के शास्त्रीय परिवल है। इनसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दी रीतिकालीन-काव्य ने अपने अन्तर्तत्त्वों को ग्रहण किया।

रीतिकालीन शब्दालकार-विवेचन की अपनी एक विशिप्ट साहित्यिक पृष्ठभूमि भी है। कवीर, जायसी, तुलसी एवं अप्टछाप के कवियों की रचनाओ से मेल न खाती हुई चमत्कार मूलक अलकारो की धारा सत्रहवी शती तक पूरे हिन्दी जगत में छा गई। यह आकस्मिक घटना नही है। पूर्व मध्यकाल की सीमा में ही अर्थात् सोलहवी शती विक्रमी के आसपास ही उत्तरमध्ययुगीन-रीतिकालीन-काव्य प्रवृत्तियाँ उद्घाटित होकर साहित्य में स्वीकृति प्राप्त करने लगी थी। कृपाराम की हित तरङ्गिणी (१५९८ वि०); गोप कृत रामभूपण और अलंकारचन्द्रिका (१६१५ वि०); मोहनलाल मिश्र का शृङ्गारसागर (१६१६ वि०); करनेस रचित तीन अलंकार ग्रन्थ—कर्णाभरण, श्रुतिभूषण और भूप-भूषण; अकवर, गंग, तानसेन आदि के मुक्तक, अब्दुर्रहीम खानखाना कृत बरवै नायिका भेद, नन्ददास कृत रस मंजरी, सूरदास की साहित्यलहरी, तुलसीदास कृत बरवै रामायण–आदि ज्ञात-अज्ञात ग्रंथ-रत्नों ने रीतिकाल के लिए एक उर्वराभूमि का निर्माण किया। केशवदास हिन्दी के प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्य के सभी अङ्गों—विशेपकर अलंकार का गम्भीर एवं पाण्डित्य पूर्ण विवेचन किया। फिर तो चिन्तामणि और उनके बंधु-द्वय का ही युग आ जाता है और अलंकार ग्रन्थो की क्षीण रेखा-धारा शतशतमुखी होकर प्रवाहित होने लगती है।

रीतिकालीन कवियों का वर्गीकरण

केशव से लेकर ग्वाल तक अलंकार-निरूपक कवि-आचार्यों की संख्या अपार है। शब्दालंकार की भागीरथी मे कई आचार्यो ने अपनी काव्यांजलियाँ समर्पित की है। सहस्रों आचार्यो ने इस प्रवाह को गति दी है जिनमे से अभी भी न जाने कितने आचार्य

प्रकाश में नहीं आये हैं। अतः ज्ञात आचार्य-कवियों के आधार पर ही वर्गीकरण प्रस्तुत किया जा सकता है।

डॉ० नगेन्द्र ने रीतिकालीन सम्पूर्ण रीति-ग्रन्थों के दो व्यापक वर्ग बनाये है—(१) लक्षण लक्ष्य-वद्ध और (२) लक्ष्य-वद्ध। इनके आधार पर इनके निर्माताओ के भी दो वर्ग प्रस्तुत किये है—(१) शास्त्र-कवि और (२) काव्य-कवि। इनमें कतिपय कवि ऐसे है जो शास्त्र-कवि भी है और काव्य-कवि भी।[1]

डॉ० ओमप्रकाश ने दूलह के आधार पर रीतिकालीन साहित्यिकों के चार वर्ग वनाये है—

(१) सत्कवि—	अनेक अङ्गों का एकत्र विवेचन करने वाले, दास, देव आदि।
(२) कर्त्ता—	रीति के आश्रय से वर्णन करने वाले, मति-राम, भूपण आदि।
(३) अलंकृति—	अलंकार विषय के ज्ञाता और लेखक
(४) कवि—	रीतिविहीन-रचना करने वाले, विहारी आदि।

डॉ० ओमप्रकाश ने साथ ही आधुनिक आचार्यो—रीति कालोत्तर आचार्यो के दो वर्ग प्रस्तुत किये हैं—(१) प्राचीनों के अनुसार ही अलंकार-शास्त्र की लक्षण उदाहरण वाली शैली पर पुस्तक लिखने वाले और (२) अलंकार शास्त्र पर विचारात्मक (प्रायः अनुसधान के आधार पर) पुस्तक लिखने वाले।[2]

इन वर्गीकरणों के अतिरिक्त एक तीसरा वर्गीकरण है, जो अधिक उपयुक्त दिखाई देता है। इसके अनुसार रीतिकालीन कवियों को तीन भागो में बाँटा गया है—(१) रीति वद्ध (२) रीति सिद्ध और (३) रीति मुक्त।[3] रीति वद्ध-कवि वे थे जो रीतिग्रन्थ की रचना करते समय लक्षणानुधावन करते हुए शृङ्गार रस की कविता करते थे। रीतिग्रन्थ रचना के नियमो मे बँधे या जकड़े होने के कारण ये रीतिवद्ध कहलाये। केशव, चिन्तामणि, मति-राम, देव, दास आदि आचार्य इसी कोटि में आते है।

---

१. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास (षष्ठ भाग); पृ० २८१
२. हिन्दी अलंकार साहित्य; पृ० ५४-५५
३. घनआनन्द; पृ० १

दूसरे प्रकार के कवि थे रीतिसिद्ध जो रीतिग्रन्थ तो नहीं लिखते थे किन्तु जिनकी रचना में रीति का पूरा-पूरा प्रभाव था जैसे बिहारी, सेनापति, आदि । ये लोग रीति-परम्परा को वाह्याडम्बर से भली-भाँति आत्मसात् करने के साथ-साथ स्वतन्त्र तथा मौलिक काव्य-सृष्टि में पटु थे । रीति की सारी परम्परा उनको सिद्ध रही थी । ये वस्तुतः मध्य-मार्गी थे । रीति से बंधे भी थे और उससे कुछ स्वतन्त्र होकर भी चलते थे ।

इन दोनों से पृथक् एक तीसरी श्रेणी है उन रचनाओं की जिन्होंने तत्कालीन रीति-रूढ़ि के विरुद्ध तीव्र आक्रोश व्यक्त करते हुए भावावेगपूर्ण वस्तु प्रतिपादन में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया । इन रीतिमुक्त कवियों ने युगस्वर से मुक्त रहकर अन्तर्मन के सहज-संवेदनों को वाणी दी । ये कवि, रीति-निर्मुक्त अर्थात् रीतिपाश से मुक्त थे । ये कवि निबन्ध भावों के स्वच्छन्द गायक थे । रीतिशास्त्र की उँगली पकड़ना तो दूर, वे उसकी छाया से भी कतराते थे ।'[1] घनानन्द, आलम, ठाकुर, बोधा आदि प्रेम के मतवाले कवि इसी वर्ग के हैं । इन्हीं कवियों के काव्य में कहीं छायावादी पौधा पनप रहा था ।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि 'रीतिबद्ध कवियों में कलापक्ष प्रधान है और भावपक्ष गौण । रीतिसिद्ध कवियों में कलापक्ष और भावपक्ष का समभाव है और रीतिविरुद्ध या रीतिमुक्त कवियों में भावपक्ष प्रधान और कलापक्ष गौण । कला और भावपक्ष का यह तारतम्य तीनों धाराओं की पृथकता का सबसे अच्छा आधार है ।[2]

रीतिकालीन काव्य की सामान्य विशेषताएँ

'रीतिकाव्य गोष्ठी काव्य है । इसमें आत्मा की कराहती हुई आवाज नहीं सुनाई देती अतः इसकी मूल प्रेरणा सीधे आत्माभिव्यंजना की प्रवृत्ति में न खोजकर आत्म प्रदर्शन की प्रवृत्ति में खोजनी चाहिए ।'[3] रीतिकाव्यों की विशेषता उनके रसोद्रेक होने में इतनी नहीं है जितनी चमत्कार-क्षम होने में ।

यद्यपि रीतिकालीन काव्यों का मुख्य वर्ण्य विषय नायिका भेद, नखशिख, अलंकार आदि का लक्षण प्रस्तुत करना रहा है फिर भी उनमें इनके माध्यम से शृङ्गार का ही निरूपण हुआ है । वास्तव में यही उनका प्रतिपाद्य भी है । जब मौलिक चिन्तन का द्वार बन्द हो गया और राजा-रईसों का व्यक्तित्व चारों ओर से अवरुद्ध हो गया तो शृङ्गार के अति-

---

१. घन आनन्द; पृ० १

२. वही; पृ० १४

३. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (षष्ठ भाग); पृ० १८२-१८३

रिक्त कोई ऐसी भूमि नहीं थी जहाँ उन्हें शरण मिलती। शृङ्गारिकता के अतिरिक्त उन काव्यों में भक्ति और नीतिपरक उक्तियाँ भी है पर वे संख्या में अत्यल्प है। यह भक्ति और नीति भी उनके लिए शृंगारिकता ही थी जो उनके धार्मिक-मन को आश्वासन देती थी।' इस ह्रासोन्मुख युग में ऊर्ध्वोन्मुखी मूल्यों के प्रति आस्था नहीं रह गई थी। इसलिए विलास के प्रति उदासीनता आदि भावनाएँ नीतिपरक उक्तियों मे भरकर आई।'[1] ऋतुवर्णन को भी उद्दीपन के अन्तर्गत डालने का परिणाम यह हुआ कि रीतिकाव्यों में यह नायक-नायिका के संयोग और वियोग के साथ सम्बद्ध हो गया।

राजसमाजों में बड़प्पन पाने के लिए और तत्कालीन राजा-रईसों की रसिकता को सन्तुष्ट करने के लिए चमत्कार-क्षम काव्य सृजन की आवश्यकता हुई। ऐसी स्थिति में रीति-कवियों ने मुक्तकों को अपनाया। 'मुक्तक एक छन्द वाला अन्य निरपेक्ष पूर्वापर सम्बन्ध विरहित और रसोद्रेक क्षम होता है।[2] यह अपने आप में पूर्ण होता है।

इस काल में मुख्यतः तीन छन्द प्रयुक्त हुए—दोहा, सवैया और कवित्त। जो कवि समासपद्धति के द्वारा भावाभिव्यंजना करना अपना इष्ट समझते थे उन्होंने दोहों का प्रयोग किया। विहारी की 'सतसइया के दोहरे' अपनी उपमा आप हैं। सवैया की परम्परा भाटों और चरणों में मौलिक रूप से चली आ रही थी वह भक्तिकाल से होती हुई रीतिकाल में पूर्ण विकसित हो गई। कवियो का सर्वाधिक प्रिय सवैया मत्तगयन्द रहा है। इसके शिल्प मे शब्दार्थों पर उतना ध्यान नही दिया गया जितना ध्वन्यात्मक लहरों को कोमल और श्रुति सुखद बनाने पर। ऐसा करने के लिए कवियों ने मुख्यतः अनुप्रास-छेक, वृत्ति, अन्त्य और यमक का प्रयोग किया। 'ध्वन्यात्मक लहरों को चटुल और संयमित बनाने के लिए चरणों के अन्तर्गत ही एक प्रकार के तुकों की व्यवस्था की गई जिससे लहरों में गति आ जाती है और बलखाती हुई लहरों का सौन्दर्य द्विगुणित हो जाता है। इस नाद सौन्दर्य के कारण इनमें गहरी भावानुभूति जागरित करने की शक्ति अपने आप आगई है।'[3]

सवैया की भाँति कवित्त भी रीतिकाल में अपने उत्कर्ष की पूरी ऊँचाई पर जा

---

१. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास (षष्ठभाग) पृ० २१२
२. वही; २१२
३. वही; पृ० २२२
४. वही; पृ० २२३

पहुँचा। राजदरबारों में प्रशस्ति-पाठ के लिए इस छन्द से अधिक उपयुक्त दूसरा छन्द नहीं दिखाई पड़ता।[1] चरणों के भीतर अन्त्यानुप्रास की योजना इस छन्द की प्रमुख विशेषता है। इससे कवित्त की लय मे संगीततत्त्व का समावेश हो जाता है। कवित्तों को अलकृत करने के लिए अनुप्रास के अतिरिक्त यमक और वीप्सा का भी सहारा लिया गया। कोमल-कान्त पदावली की दृष्टि से देव, पद्माकर आदि के कवित्त रीतिसाहित्य के अमूल्य मुक्ता-माणिक्य है। प्रबन्ध मे यथास्थान उनका दिग्दर्शन कराया जाएगा।

रीतिकाव्यो में ब्रजभाषा अपनी समृद्धि के उच्चतम शिखर पर दिखाई देती है। इस भाषा को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की समस्त भाव और शब्द सम्पदा प्राप्त हुई है। विकासशील और व्यापक काव्य भाषा होने के कारण इसने अन्य विदेशी भाषाओं, प्रादेशिक भाषाओं और बोलियो को ग्रहण करके अपने को और अधिक समृद्ध बनाया, किन्तु व्याकरणिक अनियन्त्रण के कारण कुछ कवियो ने शब्दों की तोडमरोड अधिक की। ऐसे कवियों मे भूषण तथा देव का नाम खास तौर पर बदनाम है। कवि वैसे निरंकुश ही होते है, रीतिकालीन कवियो की निरंकुशता तो बहुत बढ गई। इस दुर्व्यवस्था का परिणाम यह हुआ कि गद्य के उदय के साथ ब्रजभाषा अस्त होगई।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में रीतिकालीन-काव्य का योगदान

'काव्य की दो प्रतिनिधि परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं जो काव्य के प्रति दो भिन्न दृष्टिकोणो को अभिव्यक्त करती है—एक 'वाक्यं रसात्मकं काव्य' और दूसरी, 'काव्य जीवन की समीक्षा' है। केवल भारतीय वाङ्मय में ही नहीं, विश्वभर के वाङ्मय में काव्य के ये दो पृथक्-रूप स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं।'[1] वाक्यं रसात्मक काव्यं या 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्दः काव्यम्' की कसौटी पर परखने से ही रीतिकाव्य का सच्चा मूल्याकन हो सकता है। यह सत्य है कि जीवन की उदात्त और आदर्शवादी भावनाओं की इस युग के काव्य मे परिपुष्टि नही हुई पर काव्य में सरसता एव कलात्मकता का मूल्य कम नही है। रीतिकाव्य मानव मन की इन्ही वृत्तियों का परितोष करता है और इस दृष्टि से इस काल के कवियों और उनके सरस काव्य का अवमूल्यन नहीं किया जा सकता। घोर पराभव के उस युग में समाज के अभिशप्त जीवन मे सरसता का संचार कर इन कवियों ने अपने ढङ्ग से समाज का उपकार किया। इसमे सन्देह नही कि इनके काव्य का विषय उदात्त नहीं था, उसमें जीवन के भव्य मूल्यो की प्रतिष्ठा नही थी, अतः उनके द्वारा प्राप्त आनन्द भी उतना उदात्त नहीं

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (षष्ठ भाग ; पृ० ५४६-५४७

था। फिर भी अपने युग की आत्मघाती-निराशा को उच्छिन्न करने में उसने स्तुत्य योगदान किया।

डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है—मैं इस प्रसंग में एक ऐसे सत्य का फिर से उद्घाटन करना चाहता हूं जो अनेक नैतिक, सामाजिक काव्यसिद्धान्तों के घटाटोप में आज छिप गया है और वह यह है कि कला का एक अतर्क्य उद्देश्य मनोरंजन भी है। यह मनोरंजन मानव जीवन की जितनी अपरिहार्य आवश्यकता है, इसकी पूर्ति करने वाली कला या काव्य-कला का अपना मूल्य भी निश्चित ही उतना ही असंदिग्ध है। रीति काव्य का मूल्यांकन कला के इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर करना चाहिए उसकी मूलवर्ती प्रेरणा यही थी और इसी की पूर्ति में उसकी सिद्धि निहित है। शुद्ध नैतिक दृष्टि से भी यह सिद्धि निर्मूल्य नहीं है क्योंकि कवि-शिक्षा से संयुक्त यह मनोरंजन तत्कालीन सहृदय-समाज के रुचि-परिष्कार का भी अत्यन्त उपादेय साधन था।[1]

वे आगे लिखते हैं—इसमें सन्देह नहीं कि रीतिकाव्य में आपको सूर, मीरा और रसखान जैसी आत्मा की पुकार नहीं मिलेगी, न जायसी, तुलसी या आधुनिक युग के विशिष्ट महाकाव्यकारों के समान व्यापक जीवन-समीक्षा और छायावादी कवियों का-सा सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध ही यहां उपलब्ध होगा। परन्तु मुक्तक-परम्परा की गोष्ठी-मण्डन-कविता का जैसा उत्कर्ष रीतिकाव्य में हुआ वैसा न तो उसके पूर्ववर्ती-काव्य में और न परवर्ती-काव्य में ही संभव हो सका।.... .. ..एकान्त वैशिष्ट्य की दृष्टि से भारतीय वाङ्मय में ही नहीं सम्पूर्ण विश्व के वाङ्मय में आलोचना और सर्जना के संयोग से निर्मित यह काव्य-विधा अपना उदाहरण आप ही है। किसी भी भाषा में इस प्रकार का काव्य इतने प्रचुर परिमाण में नहीं रचा गया।[2]

सारांश

रीतिकाल अतिशय भोगवाद का युग रहा है, अतः उस काल में जीवन के ऊर्जस्वित मूल्यों का परिपाक नहीं हो सकता। कला की दृष्टि से उस युग का महत्त्व असंदिग्ध है। 'रीति' शब्द का सर्व सम्मत अर्थ काव्य रचना-पद्धति तथा उसके निर्देशक शास्त्र के रूप में माना जाता है एवं ऐसी रचना का जिस काल में मुख्य स्वर रहा उसे रीतिकाल कहते हैं।

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (षष्ठ भाग); पृ० ५४८
२. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (षष्ठ भाग); पृ० ५४९

रीतिकाल का आरम्भ भक्तिकाल में ही होगया था, किन्तु उस समय का रीति-काव्य भक्ति का ही एक उच्छ्वास था। केशवदास को रीतिकाल का सर्वप्रथम आचार्य माना जाता है, यद्यपि रीति की अजस्र धारा उनके ५० वर्ष बाद चिन्तामणि के समय से प्रवाहित हुई। विक्रमी १७०० से सम्वत् १९०० वि० तक का दो सौ वर्षों का काल रीति-काल के नाम से जाना जाता है। इसे भी तीन भागों में बांटा जा सकता है। ७० वर्षो का प्रथम उत्थान जिसमें अनुवादक आचार्य हुए. ७० वर्षो का दूसरा उत्थान जिसमे मौलिक किन्तु शिथिल काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ लिखे गए एवं तीसरा उत्थान अन्तिम ६० वर्षो का है जिसमें विश्लेषणात्मक नवीन विचारो की अवतारण रीतिकाव्यो मे हुई। रीतिकाल की उत्तरसीमा भारतेन्दु के आगमन के पूर्व ही मानी जाती है क्योकि शृंगार प्रधान कविता का स्थान उस समय गौण हो गया था।

रीतिकालीन काव्य को प्रभावित करने वाली तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक एवं जीवन दर्शन सम्बन्धी अनेक प्रवृत्तियाँ थी जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से चमत्कारक्षम काव्य की पोषिका बनी हुई थी। रीतिकाव्य को दरबारी काव्य, 'राज्याश्रय का काव्य' आदि नामों से अभिहित किया जाता है। प्राचीन की पुनः स्थापना एवं ईरानी-संस्कृत-मिश्रित काव्य-शैलियो का विकास इसी राजन्य-संस्कृति की धरोहर है। भक्ति की उदात्त भावनाएँ मृत हो गई थी एवं राधाकृष्ण के स्थूल मासल-चित्र प्रस्तुत किए गए। सौन्दर्य का आन्दोलन चला जिसमे राजा-रंक सभी आकंठ मग्न थे। रीतिकाव्य की शास्त्रीय एवं साहित्यिक पृष्ठभूमि बडी सशक्त थी। सस्कृत काव्यशास्त्र के अतिरिक्त भक्तिकालीन रीति-ग्रन्थों की एक विशाल परम्परा उसको दाय के रूप मे प्राप्त थी। केशव से लेकर ग्वाल तक के कवियों के कई वर्गीकरण किये गए है पर रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध एवं रीतिमुक्त कवि के रूप में किया गया विभाजन श्रेष्ठ है।

रीतिकाव्य का मुख्य स्वर शृङ्गार था जिसके लिए चमत्कारक्षम भाषा एवं मुक्तक छन्दो का प्रयोग हुआ। दोहा, कवित्त एवं सवैया को विशेष सन्मान प्राप्त हुआ। ब्रजभाषा, काव्यभाषा बनी। रीति काव्य का सच्चा मूल्यांकन करने के लिए सरसता एवं कलात्मकता की कसौटी ही ग्राह्य है। डॉ० नगेन्द्र ने उस युग के काव्य को विश्वसाहित्य मे एकान्त वैशिष्ट्य की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट बताया है।

षष्ठ परिच्छेद

रीतिकालीन शब्दालंकार : लक्षण एवं विवेचन

षष्ठ-परिच्छेद

रीतिकालीन शब्दालंकार : लक्षण एवं विवेचन

संस्कृत काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा हिन्दी मे रीतिकालीन आलंकारिकों के साथ-साथ १६ वीं शती तक चलती रही। हिन्दी आचार्यों ने ध्वनिपूर्वकाल से शैली और ध्वन्युत्तर काल से सिद्धान्त लेकर शब्दालकारों की अमूल्य राशि सामान्य जनता को सुलभ कराई। केशव से ग्वाल तक दो शताब्दियों को अपने आंचल में समेटे रीतिकाल में जिन शब्दालंकारों का विवेचन हुआ है वे है—अनुप्रास, यमक, श्लेष, प्रहेलिका, चित्र, पुनरुक्तवदाभास, वक्रोक्ति, मुद्रा, गूढ़, प्रश्नोत्तर, कूट, विरोधाभास और तुक। इन १३ शब्दालंकारों में प्रथम ७ अर्थात् अनुप्रास, यमक, श्लेप, प्रहेलिका, चित्र, पुनरुक्तवदाभास और वक्रोक्ति ही शुद्ध एव स्वतन्त्र रीतिकालीन शब्दालंकार है—यह तथ्य हम इस शोध-प्रबन्ध में अन्यत्र स्पष्ट कर चुके हैं। शेप ६ शब्दालकारों का स्थायित्व विवादास्पद है। उनका हम 'अन्य शब्दालकार' शीर्पक मे विश्लेपण करेगे।

इस अध्याय मे रीतिकालीन शब्दालंकारो का क्रमशः लक्षण, विकास, वर्गीकरण एवं महत्त्व की दृष्टि से मूल्यांकन प्रस्तुत किया जायेगा।

(१) रीतिकालीन शब्दालंकार

(क) अनुप्रास

सभी भापाओ के सभी आचार्यों ने सब कालों मे अनुप्रास की महत्ता स्वीकार की है। संस्कृत या हिन्दी का (केशव को छोड़कर) कोई भी ऐसा शब्दालंकार-विवेचक आचार्य नहीं है जिसने अनुप्रास को अपने विवेचन मे स्थान न दिया हो। इसके विपरीत ऐसे अनेक आचार्य हुए है जिन्होने केवल अनुप्रास का ही विवेचन किया है। वेदो में भी अनुप्रास का प्रचुर प्रयोग हुआ है।[1] रीतिकाल में तो अनुप्रास विवेचक आचार्यों की विशाल परम्परा है।

---

१. (क) आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः।
—ऋग्वेद; १०-१८६-१

(ख) यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा।
यथोत् मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः॥ —अथर्ववेद; ६-१८-२

अनुप्रास–लक्षण

आचार्य दण्डी ने अनुप्रास का यह लक्षण दिया है—पादो में और पदो में होने वाली वर्णावृत्ति को अनुप्रास कहते है किन्तु यह आवृत्ति इतनी निकट हो कि पूर्वाच्चारित वर्ण का संस्कार समाप्त न हो जाय।[१] मम्मट ने वर्णसाम्य को अनुप्रास अलंकार बताया है।[२] आचार्य विश्वनाथ अनुप्रास में शब्द-साम्य अनिवार्य मानते है, चाहे स्वरो का वैषम्य हो।[३]

रीतिकाल मे देव ने दण्डी का अनुकरश किया, पर उन्होने 'अनुप्रास रसपूर' कहकर अपनी रसवादी मान्यता का भी उल्लेख कर दिया।[४] चिन्तामणि,[५] कुलपति मिश्र,[६] रस-स्वरूप[७] आदि ने वर्ण और अक्षर-साम्य की अनिवार्यता बताकर मम्मट के विचारो को ही पुष्ट किया है। आचार्य विश्वनाथ के अनुकरण पर हिन्दी के जिन रीतिकालीन आचार्यो ने अनुप्रास लक्षण मे शब्दसाम्य और स्वरवैपम्य का उल्लेख किया है उनमें हरिचरणदास,[८] गिरिधरदास[९] आदि प्रमुख है।

आचार्य मम्मट ने वर्णसाम्य को अनुप्रास मानकर भी उनका रसोपकारक होना आवश्यक माना है।[१०] विश्वनाथ ने भी रसोपकारक आवृत्ति को आवश्यक मानकर इसका वृत्ति में उल्लेख किया,[११] पर रीतिकालीन आचार्यो ने वृत्तिगत इन विचारो की ओर ध्यान

---

१. वर्णावृत्तिरनुप्रासः पादेषु च पदेषु च।
पूर्वानुभव संस्कार बोधिनी यद्यदूरता ॥ —काव्यादर्श; १-५५

२. वर्णसाम्यमनुप्रासः। —काव्यप्रकाश; ९-७९

३. अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्। —साहित्य दर्पण; १०-३

४. पर पूरब पद एक ते आवै अर्थ अदूर।
अक्षर लपटे संग लौं अनुप्रास रसपूर ॥ — शब्द रसायन; पृ० ८५

५. समता जो आखरनि को अनुप्रास सो जानि। —कविकुलकल्पतरु; २-८

६. वरण एक से फिरै जहाँ, अनुप्रास है सोय। —रस रहस्य; ७-७

७. जहँ समता अच्छरन की अनुप्रास ताहि नाम। तुलसी भूषण; दोहा-६

८. स्वर विन समता वरन की, अनुप्रासालंकार। —चमत्कार चन्द्रिका; दोहा ४७८

९. स्वरविन व्यंजन वरन की जहं समता दरसाइ।
स्वर संजुवतहु कहहि तोहि अनुप्रास कविराइ ॥ —भारती भूषण; दोहा ३५६

१०. काव्य प्रकाश; ९-७९ (वृत्ति)

११. साहित्य दर्पण; १०-३ (वृत्ति)

नहीं दिया । केवल कुमारमणि[2] और निहाल[2] ने अपने लक्षणो में इन भावो को अभिव्यक्त किया है । इस दृष्टि से इनके लक्षण पूर्ण माने जा सकते है । क्योकि इनमें अनुप्रास के दोनों प्रमुख-तत्त्वो-आवृत्त वर्णो में अधिक व्यवधान न होने और उनके रसानुगत होने—का उल्लेख है ।

अनुप्रास-वर्गीकरण

संस्कृत और हिन्दी काव्यशास्त्रों में अनुप्रास में वर्गीकरण में बड़ा वैविध्य रहा है । दो से लेकर सात से भी अधिक भेद मानने वाले आचार्य हुए है । यह विविधता सख्या की दृष्टि से ही नही, उनके नामान्तर की दृष्टि से भी है । संस्कृत एवं रीतिकाल में कुल २३ अनुप्रास भेदो का विवेचन हुआ है । वे है—

ग्राम्यानुप्रास, परूषानुप्रास, उपनागरिकानुप्रास, मधुरानुप्रास, प्रौढ़ानुप्रास, ललितानुप्रास, भद्रानुप्रास, वृत्यनुप्रास, यमकानुप्रास, वीप्सानुप्रास, सिहावलोकानुप्रास, पुनरूक्तप्रकाशानुप्रास, पुनरूक्तवदाभासानुप्रास, वर्णानुप्रास, पदानुप्रास, नामानुप्रास, स्फुटानुप्रास, षोडशानुप्रास, लाटानुप्राम, श्रुत्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास, छेकानुप्रास और अर्थानुप्रास ।

उपर्युक्त भेदो मे प्रथम सात भेद, अर्थात्-ग्राम्यानुप्रास, परूपानुप्रास, उपनागरिकानुप्रास, मधुरानुप्रास, प्रौढ़ानुप्रास, ललितानुप्रास, और भद्रानुप्रास ये सब वृत्तियाँ है अतः वृत्यनुप्रास के अन्तर्गत आजाते है । यमकानुप्रास, वीप्सानुप्रास, सिहावलोकानुप्रास, पुनरूक्तप्रकाशानुप्रास और पुनरूक्तवदाभासानुप्रास—अनुप्रासभेद न होकर स्वतन्त्र अलकार हैं जो कमश. यमक, वीप्सा, सिहावलोकन (यमक-भेद) पुनरूक्तप्रकाश (पुनरुक्ति) और पुनरूक्तवदाभास के अन्य नाम है ।

वर्णानुप्रास[3] को छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास में समाहित किया जा सकता है क्योकि इसमे दोनो अनुप्रास भेदो के लक्षण प्राप्त होते है । इसी तरह पदानुप्रास[4] को यमक और

---

१. तुल्य आखरनि को जहां रस अनुगुन है न्यास । —रसिक रसाल; दोहा १

२. बरनन की समता बहुत, आवै फिरि फिर जाहि ।
पड़त सवादल कान रस, अनुप्रास कहै ताहि ।। —साहित्य शिरोमणि; दोहा १५

३. यथाभ्रातक पुष्पादिस्रगादेर्वर्ण उच्यते ।
वर्णावृत्तिस्तथा वाचां वर्णानुप्रास उच्यते ।। सरस्वती कंठाभरण; २-२६

४. समग्रस्समग्रं वा, यस्मिन्नावर्तते पदम् ।
पदाश्रयेण स प्रायः पदानुप्रास उच्यते । —सरस्वती कंठाभरण; २-६३

लाटानुप्रास में, नामानुप्रास[1] को वीप्सा या पुनरुक्तिप्रकाश मे तथा स्फुटानुप्रास[2] को श्रुत्य-नुप्रास में अन्तर्भूत किया जा सकता है। षोडशानुप्रास का केवल लेखराज ने उल्लेख किया है। मलयालम मे इसे अनुप्रास का भेद माना जाता है। वह एक वर्ण या अनेक वर्ण का जितनी वार प्रयोग होता है, वह अनुप्रास उसी के नाम से पुकारा जाता है। यथा अष्टा-नुप्रास, द्वादशानुप्रास, षोडशानुप्रास आदि।[3] लेखराज ने षोडशानुप्रास के उदाहरण स्वरूप जो कवित्त दिया है[4] उसमे 'आम' शब्द की सोलह वार आवृत्ति हुई है। इसे वृत्यनुप्रास के अन्तर्गत लिया जा सकता है।

लाटानुप्रास को स्वतन्त्र अलकार भी माना जाता है अनुप्रास भेद भी। चूँकि इसमे शब्द या पद की आवृत्ति होती है इसलिए हमने इसे अनुप्रास–भेद ही माना है। श्रुत्यनुप्रास और अन्त्यानुप्रास को भी हमने स्वतन्त्र अनुप्रास भेद ही माना है, क्योंकि श्रुत्यनुप्रास मे वर्णसाम्य भले ही न हो ध्वनि-साम्य तो होता ही है। इसी तरह अन्त्यानुप्रास को भी किसी अन्य भेद मे तिरोहित नही किया जा सकता है क्योंकि इसकी सत्ता किसी चरण के अन्त में ही होती है अत' ये स्वतन्त्र भेद है।

---

१. स्वभावतश्च गौण्या च वीप्साभीक्ष्ण्यादिभिश्च सा।
नाम्ना द्विरुक्तिभिर्वाक्ये तदनुप्रास उच्यते॥ —सरस्वती कंठाभरण; २-६६

२. श्लोकस्यार्धे तदर्धे वा वर्णावृत्तिर्यदि ध्रुवा।
तद मता मतिमतां स्फुटानुप्रासता सताम्॥ —चन्द्रालोक; ५-५

३. रातदिन ग्राम वीच कलित अरामता में,
करत अराम परे छरे जे वेराम से।
मंत आठों जाम रङ्ग रंगे रङ्ग धाम हिय,
हर्ष विसराम दाग सने सुस वाम से।
हेरि कटि छाम अङ्ग-अङ्ग ललाम करै,
कोक के कलाम और काम-रति काम से।
तेऊ तेरो नाम गंगे लेत विन काम तिन्हे,
करत सलाम सुर सकल गुलाम से॥ —गंगाभरण; छन्द ३४५

४. छेक शब्देन कलाभिरतानां पक्षिणामभिधानम्।.......अथवा
छेकाविदग्धास्तद्वल्लभत्वादस्य छेकानुप्रासता।
—काव्यालंकार सार संग्रह; १-३ (वृत्ति)

एतदर्थ हमारी दृष्टि मे अनुप्रास के ५ भेद तर्कसंगत है। ये है—छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, लाटानुप्रास, श्रुत्यनुप्रास और अन्त्यानुप्रास । अब क्रमशः इन भेदो का विवेचन करेगे।

(१) छेकानुप्रास

छेकानुप्रास का सर्वप्रथम विवेचन आचार्य उद्भट के काव्यालंकारसार-संग्रह में प्राप्त होता है। इसके नाम में प्रयुक्त 'छेक' शब्द से उनका तात्पर्य क्या है, इसे स्पष्ट करते हुए लघुवृत्ति में प्रतिहारेन्दुराज ने कहा—घोंसले में बैठे हुए पक्षी छेक कहलाते है। जिस प्रकार पक्षी अपने घोंसले मे बैठकर अपने स्वाभाविक कलरव से श्रोताओ को आकर्षित कर लेते, हैं, उसी प्रकार इस अलकार में भी बिना किसी प्रयत्न के स्वर और व्यजनो की संयोजना रहती है जो पाठक या श्रोताओं का चमत्कृत कर देती है। छेक का दूसरा अर्थ विदग्ध भी होता है। विदग्धजनों और विद्वानों को प्रिय होने के कारण इसे छेकानुप्रास या विदग्धानुप्रास कहते है। संस्कृत और हिन्दी के प्रायः सभी आचार्यो ने इस व्याख्या को स्वीकार किया है।

लक्षण

आचार्य उद्भट ने छेकानुप्रास का विवेचन स्वतन्त्र अलंकार के रूप में प्रस्तुत करके उसका यह लक्षण दिया है—जहाँ दो-दो अच् और हल (स्वर और व्यंजन) का सुन्दर सादृश्यता से उच्चारण हो वहाँ छेकानुप्रास होता है।[१] मम्मट ने इसे अनुप्रास–भेद माना है और समान अनेक वर्णो की एक बार आवृत्ति मे इसकी उपस्थिति स्वीकार की है। ([२]क) विश्वनाथ ने क्रमबद्धता को छेकानुप्रास मे आवश्यक माना। ([२]ख)

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यो मे छेकानुप्रास-विवेचन की तीन परम्पराएँ है। कुलपति[३] तथा ग्वाल[४] आदि आचार्यो ने बहुत वर्णो की एक बार आवृत्ति का उल्लेख किया

---

१. काव्यालंकार सार संग्रह; १-२

२. (क) सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः। —काव्यप्रकाश; ७-७९

(ख) छेकश्छेकानुप्रासः। अनेकधेति स्वरूपतः क्रमतश्च।

—साहित्य दर्पण; १०-३ (वृत्ति)

३. बहुत बरण इक बार जहँ फिरै विदग्धा होय। —रस रहस्य; ७-७

४ बरन अनेकन की सुजंहि समता हो इक बेर। —अलंकार भ्रम भंजन; दोहा १८

है। इसके विपरीत चिन्तामणि,[१] जनराज[२] आदि ने दो-दो वर्णों की एक बार आवृत्ति का निरूपण किया है। आचार्य जसवन्तसिंह[३], भूषण[४] तथा हरिचरणदास[५] आदि अनेक आचार्यो ने अनेक वर्णों के स्वरसाम्य या स्वर-वैषम्य को एक साथ आवृत्ति में छेकानुप्रास माना है। निहाल[६] ने अपने लक्षण में व्यवधान रहितता का भी उल्लेख किया है।

इस प्रकार संस्कृत की ही तरह हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों का छेकानुप्रास-लक्षण सर्वांगीण रूप से पूर्ण नहीं है। इन सभी लक्षणो के आधार पर छेकानुप्रास की यह परिभाषा दी जा सकती है—जिस अलंकार मे दो-दो या अनेक समान व्यंजनों की, चाहे उनमें स्वर साम्य न हो, क्रमवद्ध तथा व्यवधान रहित एक बार आवृत्ति होती है उसे छेकानुप्रास कहते है। यथा—वर तरुनी के वैन सुनि, चीनी चकित सुभाय। दाख दुखी मिसिरी मुरी, सुधा रही सकुचाय।[७]

वर्गीकरण

आचार्य नरेन्द्रप्रभ सूरि ने छेकानुप्रास के चार भेद माने है—क्रमशाली, विपर्यस्त, वेणिका, और गर्भित।[८] रीतिकालीन आचार्यो में केवल भिखारीदास का ही वर्गीकरण प्राप्त है। उन्होने छेकानुप्रास के दो भेद किये हैं—आदि वर्ण की आवृत्ति से युक्त छेकानुप्रास और अन्तवर्ण की आवृत्ति से युक्त छेकानुप्रास।[९] अन्य आचायों ने इस ओर ध्यान नही दिया।

---

१. ललित द्वै आखरनि की वारक समता होय। —कविकुल कल्पतरु; १-६
२. दोय दोय जिहाँ वर्न की आवृत समता होइ।
   समता विनहू होत पुनि, छेका कहिए सोइ॥ कविता रस विनोद; दोहा १६८
३. आवृत्ति वर्न अनेक की दोय दोय जब होय।
   है छेकानुप्रास स्वर समता विनहू सोय॥ —भाषा-भूषण; ५-१६८
४. स्वर समेत अच्छर पदनि आवत सहज प्रकाश। —शिवराज भूषण; दोहा ३५५
५. जहाँ सुवर्न अनेक की एक विर समता होय।
   है छेकानुप्रास स्वर समता विनहू सोय॥ —चमत्कार चन्द्रिका; दोहा ४७६
६. वरन बहुन विवधान सों छेका कहिए तास। —साहित्य शिरोमणि; दोहा १७
७. काव्यनिर्णय; १६-३७
८. क्रमशाली क्रमोपेतः विपर्यस्तः क्रमात्ययी।
   अवाक्यान्तगतानेक वर्णवृत्तिस्तु वेणिका॥
   गर्भितस्त्वपरो वर्णरतामो यत्रान्यगर्भितः। —अलंकार महोदधि; ७-८ तथा ६
९. काव्यनिर्णय; १६-३७ तथा ३८

(२) वृत्यनुप्रास

वृत्तियों के आधार पर विवेचन होने के कारण इस अनुप्रास-भेद का नाम वृत्यनुप्रास पड़ा। 'वृत्ति' शब्द के कई अर्थ होते हैं। कोश मे इसका अर्थ शब्द-सत्ता, स्वभाव, दशा, व्यवहार जीविका, पारिश्रमिक, पहिये या वृत्त की परिधि आदि है।[1] व्याकरण-शास्त्र में उस गूढ़ शब्द-रचना को वृत्ति कहते है जो एक अर्थ के भीतर नवीन अर्थ को छिपाये रखती है। साहित्य-शास्त्र में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना को वृत्ति माना गया है। नाट्यशास्त्र में रचना-शैली को वृत्ति कहते है। इनके चार भेदों—भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी को काव्य की माता माना जाता है। किसी ग्रंथ की टीका को भी वृत्ति कहते हैं; किन्तु काव्यशास्त्र में मान्य परुषा, उपनागरिका और कोमला—इन तीन वृत्तियों के आधार पर ही वृत्यनुप्रास का जन्म हुआ।

लक्षण

उद्भट ने सर्वप्रथम वृत्यनुप्रास का विवेचन किया।[2] रूद्रट ने वृत्तियों को ५ मानकर अनुप्रास के मधुरानुप्रास, प्रौढानुप्रास परुषानुप्रास, ललितानुप्रास और भद्रानुप्रास—ये पांच भेद किये।[3] भोज ने सर्वप्रथम इस अलंकार को वृत्यनुप्रास नाम दिया।[4] मम्मट ने इसका लक्षण दिया है - जिस अलंकार मे एक या एक से अधिक व्यजनों का अनेक वार सादृश्य हो उसे वृत्यनुप्रास कहते हैं।[5] परवर्ती आचार्यों में विश्वनाथ को छोड़कर सभी ने मम्मट का ही अनुकरण किया। विश्वनाथ ने इसके अतिरिक्त एक वर्ण की एक वार आवृत्ति में भी वृत्यानुप्रास माना है।[6]

---

१. हिन्दी साहित्य कोश; पृ० ७३५

२. सरूपव्यंजनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।
पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा॥ —काव्यालंकारसारसंग्रह; १-६

३. काव्यालंकार; २-१८

४. सरस्वती कंठाभरण; २-७१

५. एकस्याप्यसकृत्परः। —काव्यप्रकाश; ७-७६

६. अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाप्यनेकधा।
एकस्य सकृदप्येष वृत्यनुप्रास उच्यते॥ —साहित्य दर्पण; १०-४

रीतिकालीन आचार्यों में जसवन्तसिंह[१], सोमनाथ[२], ग्वाल[३], आदि ने मम्मट के आधार पर ही वृत्यानुप्रास के लक्षण दिये है। प्राय. सभी ने एक या अनेक वर्णो की अनेक आवृत्ति को वृत्यनुप्रास माना है। गिरिधरदास[४] ने एक वर्ण की एक बार आवृत्ति मे भी वृत्यानुप्रास मान कर विश्वनाथ का अनुकरण किया।

वर्गीकरण

सस्कृत मे वृत्तियो के आधार पर ही वृत्यनुप्रास का वर्गीकरण हुआ है। उद्भट ने ३, रुद्रट ने ५ तथा भोज ने १२ वृत्तियो का उल्लेख किया है।[५] नरेन्द्रप्रभ सूरि ने चित्र और विचित्र इन दो भागो मे वृत्तियों का वर्गीकरण किया है।[६]

रीतिकालीन आचार्य जसवन्तसिंह ने भी वृत्तियो के आधार पर वृत्यनुप्रास के उप-नागरिकानुप्रास, परुपानुप्रास तथा कोमलानुप्रास—ये तीन भेद किये है।[७] भिखारीदास ने दो प्रकार के वृत्यनुप्रास वताए है—आदि वर्ण एक की अनेक वार आवृत्ति तथा आदि वर्ण अनेक की अनेक वार आवृत्ति से युक्त वृत्यनुप्रास।[८] भिखारीदास के द्वारा दिया गया परु-पावृत्ति का उदाहरण[९] दर्शनीय है। आचार्य गिरिधरदास ने वर्णो की आवृत्ति के क्रम के

---

१. प्रति अक्षर आवृत्ति वहु वृत्ति तीनि विधि जानि।
—भाषा भूषण; दोहा २०३

२. एकौ बरन अनेकहु लगालगी जहँ होत।
—रस पीयूष निधि; २१-२८

३. इक या बहु सुबरन की बहुबिरियाँ समताहि।
—अलंकार भ्रम भंजन; दोहा २१

४. एकहु व्यंजन की जहाँ समता करति निवास।
एक वार बहुबार कहि तहाँ वृत्यनुप्रास ॥ —भारतीभूषण; दोहा ३६१

५. (क) काव्यालंकार सार संग्रह; १-७
(ख) काव्यालंकार; २-१६
(ग) सरस्वती कंठाभरण; २-७१

६. अलंकार महोदधि; ७-१३

७. भाषा भूषण; दोहा २०३

८, काव्य निर्णय; १६-३६

९. मर्कट जुद्ध विरुद्ध क्रुद्ध अरिठट्ट दपट्टहि।
अव्द शव्द करि गर्जि तर्जि झुकि झर्पि झपट्टहि। काव्य निर्णय; १६-४६

आधार पर भेद किये हैं—एक वार वह व्यंजन-आवृत्ति, क्रम से वहुत वार व्यंजनावृत्ति, एक व्यजन की एक वार आवृत्ति तथा एक व्यजन की वहुत वार आवृत्ति।[1] यही वर्गीकरण उचित दिखाई देता है।

वृत्यनुप्रास एवं अन्य अलंकार

छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास में वहुत साम्य है, किन्तु दोनो मे अन्तर भी स्पष्ट है। वृत्यनुप्रास में आवृत्त वर्णों के स्थान का महत्व नहीं है, महत्व है आवृत्त सख्या का अर्थात् अनेक वार आवृत्ति का होना। इसके अतिरिक्त वृत्यनुप्रास मे वर्गो की आवृत्ति वृत्तियो के अनुकूल होती है। छेकानुप्रास में केवल सादृश्य होता है और वह भी अनेक वर्णों का केवल एक वार सादृश्य। वृत्यनुप्रास में एक अथवा अनेक वर्गो की एक वार या अनेक वार सादृश्यता होती है। यही इन दोनों अनुप्रास-भेदो मे अन्तर है।

(३) लाटानुप्रास

लाटदेशीय कविता की एक विशेष शैली मे अनुप्रास-भेद का जन्म हुआ है उसे काव्य-शास्त्र मे लाटानुप्रास कहा जाता है।[2] अब प्रश्न उठता है कि यह लाट देश कौन-सा है? इस सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि यह लाट देश मालव के पश्चिम मे कही था। भोज ने 'लटम्' का अर्थ मनोज्ञ किया है और यह माना है कि लाट और गुर्जर पृथक् पृथक् सत्ता वाले देश थे।[3] कोश में भी 'लाट' का अर्थ—गुजरात के एक भाग का प्राचीन नाम के रूप में दिया है।[4] अतः यह लाट देश गुजरात-वड़ौदा नगर और उसके निकटवर्ती क्षेत्र का नाम रहा होगा। इस देश की विशेषता कोशगत 'लटा' शब्द और लट् वाल भावे'-धातु से मानी जाय तो कुछ अशों में स्वभाव मधुरोक्ति और पुन-पुन कथन मानी जा सकती है। वैसे हम देखते हैं कि समस्त अलंकारो मे देश के नाम पर यही अलकार प्रसिद्ध हुआ है। सम्भव है यह प्रभाव वैदर्भी, गौड़ी, पाचाली आदि रीतियो के ससर्ग से आया हो, क्योकि वहाँ इस आधार पर लाटीरीति को भी स्थान मिला है। 'इनके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि इस अलकार की कल्पना किसी लाट देशवासी ने की हो।'[5] संस्कृत और हिन्दी के अधिकांश आचार्यो ने अपने विवेचन मे लाटानुप्रास को स्थान दिया है।

---

१. भारती भूषण; दोहा ३६१ से ३६५
२. लाटजनवल्लभत्वाच्च लाटानुप्रासः। —काव्यप्रकाश; ९-८१ (वृत्ति)
३. सरस्वती कंठाभरण. २-१३
४. वृहत् हिन्दी कोश; पृ० ११८८
५. सस्कृत साहित्य में शब्दालंकार; पृ० ५५

लक्षण

संस्कृत में लाटानुप्रास का सर्वप्रथम लक्षण उद्भट के काव्यालंकार सार संग्रह में इस प्रकार मिलता है—अपने रूप और अर्थ में अभिन्न होते हुए भी तात्पर्य भेद से अन्य अर्थ के द्योतक शब्दों एवं पदों की पुनरावृत्ति में लाटानुप्रास होता है।[१] उद्भट का यह लक्षण अपने आप में इतना पूर्ण एव शुद्ध है कि संस्कृत एवं हिन्दी के अधिकांश आचार्यों ने इसी का अनुसरण किया। भोज[२], मम्मट[३], विश्वनाथ[४] आदि के लक्षण शब्द भेद से उद्भट के लक्षण की ही पुनरावृत्ति है।

रीतिकालीन आचार्यों में जसवन्तसिंह[५], चिन्तामणि[६], रसिक सुमति[७], निहाल[८] आदि ने किसी नवीन तत्त्व का उद्घाटन नही किया। प्राय. सभी ने लाटानुप्रास के तीन तत्त्वो की स्थापना की। ये तत्व है—शब्दावृत्ति, पदावृत्ति और इनकी तात्पर्य से अर्थ भिन्नता।

वर्गीकरण

समास के आधार पर उद्भट ने लाटानुप्रास के ५ भेद किये है-(१) स्वतंत्रपदात्मक एकैकपदाश्रित (२) स्वतंत्रपदाश्रय पादाभ्यास (३) पद द्वितीयपरतंत्र शब्द द्वयाश्रित

---

१. स्वरूपार्था विशेषेऽपि पुनरुक्तिः फलान्तरात्।
शब्दानां वा पदानां वा लाटानुप्रास इष्यते ।। —काव्यालंकारसारसंग्रह; १-८

२. अर्थ भेदे पदावृत्तिः प्रकृत्याभिन्नयेह या।
स सूरिभिरनुप्रासो लाटीय इति गीयते ।। —सरस्वती कण्ठाभरण; २-१०२

३. शब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्य मात्रतः।
— काव्य प्रकाश; ९-८१

४. शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्य मात्रतः।
— साहित्य दर्पण; १०-७

५. सो लाटानुप्रास जब पद की आवृत्ति होय।
शब्द अर्थ के भेद सौ भेद विना हूं सोय ।। —भाषाभूषण; दोहा २००

६. तात्पर्यं के भेद ते दीहों जो पद देइ। —कविकुल कल्पतरु; २८१९

७. शब्द अर्थ न फिरै, फिरै फिरै भाव सु लाटा जानि।
—अलंकार चन्द्रोदय; दोहा १८४

८. अरथ सहित जो पद फिरै भाव भिन्न हो जाय।
—साहित्य शिरोमणि; दोहा २०

(४) परतत्रशब्दद्वितीयवर्ती और (५) स्वतंत्र परतंत्र पदाश्रित ।[1] मम्मट ने भी इसके ५ भेद किये हैं—अनेक पद की आवृत्ति से युक्त, एक पद की आवृत्ति से युक्त, एक ही समास मे पद की आवृत्ति, दो समासो मे एक ही पद की आवृत्ति और समास और असमास में एक ही पद की आवृत्ति ।[2]

रीतिकालीन आचार्य कुलपति ने लाटानुप्रास के ५ भेद किये हैं–एक शब्द, वहु शब्द, एक समास, भिन्न समास और वचन समासगत लाटानुप्रास[3] ।

रीतिकालोत्तर एव आधुनिक काल के आचार्यों ने हिन्दी भाषा की असामासिक प्रवृत्ति को लक्ष्य करके लाटानुप्रास के २ भेद किये है—शब्दावृत्ति मूलक और वाक्यावृत्ति मूलक[4] । शब्दावृत्ति का एक उदाहरण है—

मन मृगया कर मृग दृगी मृगमद बेंदी भाल ।
मृगपति लंक मृगांक मुखि अंक लिये मृग वाल ।।[5]

लाटानुप्रास काव्यशास्त्र मे विवादग्रस्त अलंकार रहा है । भामह, उद्भट, मम्मट, विश्वनाथ आदि संस्कृत काव्यशास्त्रीय आचार्यो ने इसे शब्दालकार माना है पर रुय्यक ने इसे उभयालकार माना है ।[6] यद्यपि लाटानुप्रास में शब्द तत्त्व और अर्थ तत्त्व दोनों का ही समान चमत्कार है पर संस्कृत एवं हिन्दी के अधिकांश आचार्यो ने इसे शब्दालंकार ही माना

---

१ स पदद्वितीयस्थित्या द्वयोरेकस्य पूर्ववत् ।
तदन्यस्य स्वतत्रत्वाद्द्वयोर्वैकपदाश्रयात् ।।
स्वतंत्रपदरूपेण द्वयोर्वापि प्रयोगतः ।
भिद्यते नेकधाभेदैः पादाभ्य स क्रमेण च ।। —काव्यालंकारसारसंग्रह; १-९ तथा १०

२ पदानां च पदस्यापि वृत्तावन्यत्र तत्र वा ।
नाम्नः स वृत्यवृत्त्योश्च तदेवं पंचधामत ।। —काव्य प्रकाश; ९-८२

३. एक शब्द बहु शब्द को एक रु भिन्न समास ।
वरनै बचन समास हूँ पांच भांति सुप्रकाश ।। —रसरहस्य; ७-१४

४. (क) भारती भूषण; पृ० १७-२२
(ख) साहित्य पारिजात; पृ० ४७९-४८०
(ग) अलंकार मंजरी; पृ० ७०

५. काव्यनिर्णय; १९-४९

६. उभयालंकारा लाटानुप्रासादयः । —अलंकार सर्वस्व; पृ० २५६

है। इस अनुप्रास-भेद की रमणीयता शब्दाश्रित ही अधिक होने के कारण हमने भी इसे शब्दालंकार ही माना है।

लाटानुप्रास एवं अन्य शब्दालंकार

लाटानुप्रास और यमक मे अत्यधिक साम्य है। इन दोनों में मूल अन्तर यही है कि यमक में आवृत्त पद या शब्द भिन्नार्थक होते है पर लाटानुप्रास मे भिन्नार्थक नही होते वरन् तात्पर्य या अन्वय से अर्थ बदल जाता है। इसी तरह वीप्सा, पुनरुक्ति प्रकाश और अनन्वय अलंकार से भी इसकी बड़ी समानता है। किन्तु वीप्सा मे जिन शब्दों की आवृत्ति होती है, उनके अर्थ मे कोई परिवर्तन नही होता वरन् अर्थ की पुनरुक्ति होती है, जो मन के भावों को उत्तेजित करती है, किन्तु लाटानुप्रास में आवृत्त शब्दों का तात्पर्य मात्र से अर्थभेद होता है। पुनरुक्तिप्रकाश मे शब्दों की आवृत्ति वक्तव्य की पुष्टि के लिए होती है पर इसमे भी अर्थ वैभिन्य नही होता। जैसे—

> **मधुमास में दास जू बीस बिसे,**
> **मनमोहन आइहै आइहै आइहै।**[1]

इन पंक्तियो में 'आइहै' की आवृत्ति प्रियतम के आगमन की पुष्टि करता है। अनन्वय में एक ही वस्तु का उपमान और उपमेय के रूप मे कथन किया जाता है जैसे—

> **सागर है सागर सदृश, गगन गगन सम जानु।**
> **है रन रावन राम को, रावन राम समानु॥**[2]

अनन्वय मे अन्वय का अभाव होता है, उपमेय उपमान एक रहते हैं एव चमत्कार अर्थ तत्व पर अवलम्बित रहता है, किन्तु लाटानुप्रास मे केवल तात्पर्य की भिन्नता होती है।

(४) श्रुत्यनुप्रास

यह अनुप्रास-भेद 'श्रुति' या 'वर्णेन्द्रीय' से सम्बन्ध रखने वाला है। जिस प्रकार कानों को गीतादिको के स्वर, ताल एवं लय आदि का ज्ञान केवल सुनने से ही हो जाता है तथा जिस प्रकार मधुर, कटु, कठोर अथवा कोमल वर्णो को अभ्यस्त कान शीघ्र ही पहचान जाते है उसी प्रकार कुछ ही अभ्यास से यह भी पहचाना जा सकता है कि उक्त वर्ण कण्ठ, तालु, दन्त आदि किस स्थान से बोले जा रहे है। अत. यह अनुप्रास-भेद व्याकरण के

---

१. काव्य निर्णय; पृ० १७६
२. अलंकार मंजरी; पृ० १२६

वर्ण-विचार अथवा उच्चारण सूचक वर्णों के वर्गीकरण से सम्बन्ध रखता है। उसी का सिद्धान्त इसका मूलाधार है।[1]

लक्षण

श्रुत्यनुप्रास का सर्वप्रथम विवेचन आचार्य दण्डी ने काव्य मार्ग के रूप में करते हुए कहा है कि वैदर्भी-विद्वान इसे बहुत चाहते हैं किन्तु गौडीय विद्वान उतना महत्त्व नहीं देते।[2] इसका स्वरूप है—जिस पद-समूह मे समान कंठादि स्थान-जन्य वर्णो का व्यवधान-रहित श्रुति-उच्चारण किया जाता है उसे श्रुत्यनुप्रास कहते है।[3] नरेन्द्रप्रभ सूरि ने भी यही लक्षण दिया है।[4] परवर्ती आचार्यों ने इसी स्वरूप को स्वीकार किया है।

संस्कृत की ही तरह रीतिकालीन—आचार्यो ने भी इस अनुप्रास-भेद के विवेचन के प्रति उपेक्षा भाव प्रदर्शित किया है। आचार्य हरिचरणदास[5] और गिरिधरदास[6] ने इसका विवेचन किया है पर इनके लक्षणो में कोई नवीनता नहीं है।

वर्गीकरण

आचार्य भोज ने इसके ग्राम्य, नागर और उपनागर—तीन भेद किये हैं। ग्राम्य श्रुत्यनुप्रास के चार भेद हैं—मसृण वर्ण मसृण, वर्णोत्कट और वर्णानुकट।[7] नागर, उपनागर के भी अनेक उपभेद हैं। नरेन्द्रप्रभ सूरि ने श्रुत्यनुप्रास के तीन भेद किये हैं—शुद्ध, संकीर्ण और नागर।[8]

---

१. संस्कृत-साहित्य में शब्दालंकार; पृ० ७२

२. इतीदं नादृतं गौडैरनुप्रासस्तु तत्प्रियः।
अनुप्रासादपि प्रायो वैदर्भैरिदमिष्यते ॥ —काव्यादर्श; १-५४

३. यया कयाचिच्छ्रुत्या यत्समानमनुभूयते।
तद्रूपाहि पदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा ॥ —वही; १-५२

४. तुल्यस्थान भवैर्वर्णैरावृत्तैः श्रुतिहारिभिः।
विश्रुतः श्रुत्यनुप्रासः सर्वस्यं कवि कर्मणः ॥ —अलंकार महोदधि; ७-३

५. अनुप्रास श्रुत वर्ण जहँ एक वर्ग के हौय। —चमत्कार चन्द्रिका; दोहा ४८४

६. तानु रदादिक थाकृत व्यंजन को उच्चार।
जहं सादृश अनुप्रास श्रुति वरनिय करि निरधार ॥ —भारती भूषण; दोहा ३६६

७. सरस्वती कंठाभरण; २-७३ (वृत्ति)

८. स एव त्रिविधः शुद्धः संकीर्णो नागरस्तथा। —अलंकार महोदधि; ७-६ (वृत्ति)

रीतिकालीन आचार्यों मे से किसी ने भी इसका वर्गीकरण नही किया है।

श्रुत्यनुप्रास एवं अन्य अलंकार

श्रुत्यनुप्रास और वृत्यनुप्रास में बड़ा साम्य है। कन्हैयालाल पोद्दार[1] ने तो श्रुत्यनुप्रास को स्वतंत्र अलकार भेद न मानकर इसका अन्तर्भाव वृत्यनुप्रास में किया है। किन्तु श्रुत्यनुप्राय और वृत्यनुप्रास की प्रकृति में भारी अन्तर है। वृत्यनुप्रास की स्थिति समान व्यजनो की आवृत्ति पर निर्भर है किन्तु श्रुत्यनुप्रास का अस्तित्व समान स्थानीय वर्णो मे निहित है।

(५) अन्त्यानुप्रास

संस्कृत-काव्य में अतुकान्त रचना की परम्परा होने के कारण काव्यशास्त्र में अन्त्यानुप्रास को कोई विशेष स्थान नहीं मिला। आचार्य विश्वनाथ के समय देशी भाषाओं मे तुकान्त-रचनाएं प्रचुर मात्रा में हो रही थीं अतः उन पर इसका अप्रत्यक्ष प्रभाव अवश्य पड़ा है। हिन्दी में तो आदिकाल से लेकर आज तक इसका पूर्ण साम्राज्य रहा है। तुक का मोह उर्दू-काव्य में भी अत्यधिक रहा है। सच तो यह है कि अन्त्यानुप्रास से काव्य में जो शोभा, रुचिरता और प्रभावोत्पादकता आती है उसे कोई अस्वीकार नही कर सकता। यह भावो के पैरो का बन्धन नही है, मधुर-ध्वनि करने वाला नूपुर है।

लक्षण

अन्त्यानुप्रास का अर्थ है, किसी पद अथवा चरण के अन्त में स्वर-व्यंजन का साम्य। इसी आधार पर आचार्य विश्वनाथ ने इसका यह लक्षण दिया है—पहले स्वर के साथ ही यदि यथावस्था व्यंजन की आवृत्ति हो उसे अन्त्यानुप्रास कहते है।[2]

रीतिकालीन आचार्यों मे गिरिधरदास[3] ने विश्वनाथ के लक्षण का ही अनुकरण किया है। भिखारीदास ने अन्त्यानुप्रास को तुक नाम से सम्बोधित किया है।[4] तुक एवं अन्त्यानुप्रास के पार्थक्य की दृष्टि से दो प्रकार के मत प्रचलित है। रीतिकालोत्तर आचार्यों

१. अलंकार मंजरी; पृ० ७१
२. व्यंजनं चेद्यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु।
आवर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वादन्त्यानुप्रास एव तत्॥ —साहित्य दर्पण; १०-६
३. आदि स्वर संजुत जहां व्यंजन आवृत होइ।
सो अन्त्यानुप्रास है, कहिय तुकांतहि जोइ॥ —भारती भूषण; दोहा ३६८
४. काव्य निर्णय; २२-१

में लाला भगवान दीन[1], जगन्नाथ प्रसाद भानु[2] आदि विद्वानों ने अन्त्यानुप्रास और तुक मे कोई भेद नहीं माना हैं । डा० रसाल इन दोनों में अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

तुक को अन्त्यानुप्रास का एक विशिष्ट रूप ही मानना चाहिये । चरण के सभी शब्दों में अन्त्यानुप्रास व्याप्त हो सकता है किन्तु तुक छन्द के चरणों के अन्तिम शब्दों में प्राप्त होता है ।[3]

हमारी दृष्टि में अन्त्यानुप्रास और तुक में कोई भेद नहीं है क्योंकि 'तुक' अन्त्यानुप्रास का ही फारसी नाम है ।

वर्गीकरण

आचार्य भिखारीदास ने तुक का वर्गीकरण शब्दगत आधार पर किया है ।[4] इन्होंने तुक के उत्तम, मध्यम और अधम तीन भेद माने हैं । उत्तम तुक के समसरि, विषमसरि और कष्टिसरि तीन भेद किये हैं । इन्होंने इनके लक्षण न देकर उदाहरण ही दिये हैं । विषमसरि का उदाहरण द्रष्टव्य है जिसमें नीरनी, भीरनी, धीरनी और तीरनी जैसी तुकें मिली हैं ।[5] इनके अतिरिक्त वीप्सा, यामकी और लाटीया - इन तीन तुक भेदों का भी वर्णन किया है ।[6] अन्य आचार्यों ने अन्त्यानुप्रास के वर्गीकरण की ओर ध्यान नहीं दिया । उत्तर रीतिकाल में कई आचार्यों ने इस पर स्वतन्त्र चिन्तन किया है । प्रबन्ध में यथास्थान इसका भी निरुपण किया गया है ।

अन्त्यानुप्रास और अन्य अलंकार

अन्त्यानुप्रास एवं पादान्त यमक,पादान्त वीप्सा और पादान्त लाटानुप्रास में अत्यधिक साम्य है यही कारण है कि भिखारीदास ने इन्हें अन्त्यानुप्रास के भेद ही मान लिया है । किन्तु इनमें अन्तर भी है । पादान्त यमक में आवृत्त शब्द भिन्नार्थक होते हैं किन्तु अन्त्यानु-

१. व्यंजन स्वर युत एक से जो पदान्त में होंहि ।
सो अन्त्यानुप्रास है, अरु तुकान्त हू ओहि ।। —अलंकार मंजूषा; पृ० १०

२. काव्य प्रभाकर; पृ० ४७८

३. अलंकार पीयूष (पूर्वार्द्ध); पृ० २००

४. काव्य निर्णय; २२-२ से १७ तक

५. वही; २२-४

६. होत वीपसा जामकी, तुक अपने ही भाउ ।
उत्तमादि तुक आगे ही, है लाटिया बनाउ ।। —वही; २१-१४

प्रास में नहीं। पदान्त वीप्सा में आवृत्त शब्दों का उद्देश्य भावों का उत्तेजित करना है पर अन्त्यानुप्रास में आवृत्त शब्दों का मूल उद्देश्य संगीतात्मकता होती है। पादान्त लाटानुप्रास में आवृत्त शब्दों में अन्वय से अर्थ भिन्नता होती है किन्तु अन्त्यानुप्रास मे अर्थ भिन्नता नही होती।

अनुप्रास : महत्त्व एवं मूल्याँकन

अनुप्रास शब्दालंकारों में सर्वाधिक लोकप्रिय और महत्त्वपूर्ण शब्दालंकार है। यद्यपि अनुप्रास में कुछ कृत्रिमता का पुट रहता है तथापि ऐसा मानव द्वारा निर्मित कोई भी काव्य नहीं है जिसमें इसकी उपेक्षा की गई हो। अनुप्रास सर्वप्रिय एवं सर्वव्यापी है। यह रसानुभूति में बहुत योग देता है। अनुप्रास की व्याख्या से ही यह स्पष्ट है कि इसमें उन्हीं वर्णों का न्यास होता है जो रसानुभूति में सहायक होते हैं।[1] भोज ने अनुप्रास का महत्व इन शब्दों में व्यक्त किया है—

'जिस प्रकार चन्द्रिका से चन्द्रमा और लावण्य से युवती की शोभा होती है, उसी प्रकार अनुप्रास से काव्य शोभा सम्पन्न बनता है।[2]' यदि काव्य में अनुप्रास का लेश भी हो तो वह उपमा आदि के बिना भी सुशोभित होता है।[3]

सारांश

संस्कृत या हिन्दी में (केशव को छोड़कर) कोई भी ऐसा आचार्य नहीं है जिसने अनुप्रास को अपने विवेचन मे स्थान न दिया हो। ऐसे कई आचार्य हुए हैं जिन्होने केवल अनुप्रास का ही विवेचन किया है। रीतिकालीन आचार्यो ने अनुप्रास-लक्षण-विवेचन में दण्डी, मम्मट और विश्वनाथ का अनुसरण किया। संस्कृत और हिन्दी में कुल २३ अनुप्रास भेदो का विवेचन हुआ है। इनमें से १८ तो अन्य शब्दालंकारों में समाविष्ट हो जाते हैं। केवल ५ भेद शेष रहते है–छेकानुप्रास, वृत्तनुप्रास,लाटानुप्रास, श्रुत्यनुप्रास और अन्त्यानुप्रास। कुछ विद्वान लाटानुप्रास को स्वतंत्र अलंकार मानते है तथा कुछ वृत्यनुप्रास को एक ही मानते हैं किन्तु इन तीनों अनुप्रास—भेदो का अपना अलग-अलग अस्तित्व है।

अनुप्रास शब्दालंकारों का मुख्य द्वार है। प्रत्येक भाषा के साहित्य में अनुप्रास-

---

१. काव्य निर्णय; १९-३४

२, यथा ज्योत्स्ना चन्द्रमसं यथा लावण्यमंगनाम्।
अनुप्रासस्तथा काव्यमलंकर्तुमयं क्षमः॥ —सरस्वती कंठाभरण; २-७६

३. उपमादि वियुक्तापि राजते काव्यपद्धतिः॥
यद्यनुप्रासलेशोऽपि हन्त तत्र निवेश्यते॥ —सरस्वती कंठाभरण; २-१०६

प्रयोग मिलते हैं। अनुप्रास रसोपकारक भी होते हैं। काव्य में केवल अनुप्रास की स्थिति से भी चमत्कारोत्पत्ति हो सकती है।

(ख) यमक

'यमक' योगरूढ़ शब्द है जिसका अर्थ शब्दों की आवृत्ति होता है। यह 'यम्' धातु से बना है जिसका प्रयोग युग्म के रूप में रूढ़ हो गया है। 'कन्' प्रत्यय लगकर इसका अर्थ होता है—एक का कई बार प्रयोग। इसकी शाब्दिक व्युत्पत्ति 'यम्यते गुण्यते आवर्त्यते पदमक्षरंवेति यमः' की जाती है, अर्थात् पद या अक्षर की जहाँ आवृत्ति हो उसे यमक कहते हैं।

लक्षण

भरत ने शब्दाभ्यास को ही यमक बताया है।[1] आचार्य भामह ने सर्वप्रथम यमक का परिष्कृत एवं शुद्ध लक्षण दिया—सुनने में समान किन्तु अर्थों में परस्पर भिन्न वर्णों की आवृत्ति से यमक अलंकार होता है।[2] रुद्रट ने अपने लक्षण में यमक के सभी तत्त्वों का उल्लेख कर दिया है—यमक में ऐसे वर्णों की आवृत्ति होती है जो सुनने में समान प्रतीत होते हैं, जिनका क्रम समान होता है और जिनके अर्थ भिन्न-भिन्न होते हैं।[3] मम्मट ने निरर्थक शब्दावृत्ति मे भी यमक माना है।[4]

रीतिकालीन आचार्यों—जसवन्तसिंह[5], भिखारीदास[6], हरिचरणदास[7], निहाल[8]

---

१. शब्दाभ्यासस्तु यमकं पादादिषु विकल्पितम्। —नाट्यशास्त्र; १६-५६

२. तुल्य श्रुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम्।
वर्णानां यः पुनर्वादो यमकं तन्निगद्यते॥ —काव्यालंकार (भामह); २-१७

३. तुल्य श्रुतिक्रमाणामन्यार्थानां मियस्तु वर्णानाम्।
पुनरावृत्तिर्यमकं प्रायश्छन्दांसि विषयोऽस्य॥ —काव्यालंकार (रुद्रट); ३-१

४. काव्यप्रकाश; ६-८३

५. यमक शब्द को फिरि स्रवन अर्थ जुदा सो जानि। —भाषा भूषण; ५-२०२

६. वहै सब्द फिरि फिर परै अर्थ औरई और। —काव्यनिर्णय; १६-५४

७. जमक सब्द सोही रहै रहे अर्थ जुदो ह्वै जाय। —चमत्कार चन्द्रिका; दोहा ४८६

८. एक बार जो पद रह्यो, आवै फिरि फिरि सोइ।
अर्थ भिन्न सब पदन के, यमक विलोकति सोइ॥ —साहित्य शिरोमणि; दोहा २२

आदि काव्यशास्त्रियो ने भामह के लक्षण से ही प्रभाव ग्रहण किया है। आचार्य केशव ने यमक का स्वतन्त्र लक्षण दिया है—जिसमे पद तो समान हो किन्तु उनके अर्थ भिन्न-भिन्न हो और उन अर्थो को पाठक अपनी बुद्धि के अनुसार ग्रहण करें वहाँ यमक होता है।[1] देव का लक्षण शिथिल है क्योंकि उन्होने पदों की आवृत्ति मे अनन्त अर्थो की कल्पना की।[2]

संस्कृत एवं रीतिकालीन आचार्यो के यमक लक्षणो का परिशीलन करके हम यमक की यह परिभाषा दे सकते है—जहाँ सार्थक या निरर्थक, समानाकार या समान श्रुति वाले भिन्नार्थक पदो या अक्षरों की व्यवधान या अव्यवधान से क्रमश. आवृत्ति होती है वहाँ यमकालंकार होता है।

वर्गीकरण

संस्कृत में सर्वप्रथम विष्णुधर्मोत्तरपुराण में यमक-भेद प्राप्त होते है। वहाँ यमक के दो भेद किये गए है सुकर और दुष्कर। इनमे आदि यमक, मध्य यमक, अन्त यमक और समुद्ग सुकर है तथा समस्त-पाद यमक दुष्कर।[3] रुद्रट ने इस वर्गीकरण को व्यवस्थित करके यमक के दो भेद किये—समस्त पादज और एक देशज।[4] समस्त पादज के ११ भेद और एक देशज के असंख्य भेद मानकर २० भेदो का उल्लेख किया है।[5] भोज ने यमक के सव्यपेत, अव्यपेत और व्यपेताव्यपेत—तीन भेद मानकर फिर इसके अनेक भेदो का विवेचन किया है।[6]

रीतिकालीन अधिकांश आचार्यो ने यमक वर्गीकरण के प्रति कोई उत्साह नही प्रकट किया। आचार्य केशव ने दण्डी के आधार पर यमक के सुकर और दुष्कर[7] तथा अव्यपेत

---

१. पद एकै नाना अरथ, जिनमें जेतो वित्त ।
   तामें ताको काढ़िए, यमक माहि दै चित्त ।। —कविप्रिया; १६-६
२. शब्द रसायन; पृ० ८५
३. समस्तपाद यमकं दुष्करं परिकीर्तितम् । —विष्णुधर्मोत्तरपुराण; ३-१४-४
४. पूर्वद्विभेदमेतत्समस्तपादैकदेशजत्वेन । —काव्यालंकार (रुद्रट); ३-२
५. वही; ३-१३ एवं २२
६. तदव्यपेत यमकं व्यपेत यमकं तथा ।
   स्थानास्थान विभागाभ्यांपादभेदाश्चभिद्यते ।।—सरस्वती कंठाभरण; २-५६
७. सुखकर दुखकर भेद है.... ...। —कविप्रिया १५-११६

और सव्यपेत—दो-दो भेद किये है।[1] केशव ने दुष्कर यमक का जो उदाहरण दिया है उसमें दो-दो पदों में यमक है।[2]

केशव ने सकर चित्र के अन्तर्गत यमक का विवेचन किया। इसके उन्होंने दो भेद किये शब्द यमक और अर्थ यमक। काशिराज ने यमक को उभयालंकार मम्मट-सम्मत बताया।[3]

यमक का एक भेद–सिंहावलोकन

यमक के वर्गीकरण में 'सिंहावलोकन' की खोज रीतिकालीन आचार्यों की एक मौलिक देन है। उस काल में इस यमक भेद का इतने विस्तार से विवेचन हुआ कि इसे स्वतन्त्र शब्दालंकार भी माना जा सकता है। 'सिंहावलोकन' का शाब्दिक अर्थ है—सिंह का देखना। अर्थात् जिस प्रकार सिंह चलते समय अपने आगे पीछे देखकर चलता है उसी प्रकार इस यमक-भेद में शब्दों की आगे-पीछे आवृत्ति होती हुई चलती है।

इस अलंकार का सर्वप्रथम विवेचन देव ने किया है पर इसका लक्षण न देकर एक उदाहरण दिया है।[4] आचार्य भिखारीदास ने इसका लक्षण दिया है जिसमें इसे मुक्तकपद-ग्राह्य यमक माना है।[5] जनराज ने इसके तीन भेद किये हैं—आद्यन्त, आद्यन्तमध्य और यनक।[6]

आद्यन्त मध्य सिंहावलोकन में आद्यन्त की भाँति तो शब्दावृत्ति होती ही है, इसमें मध्य मे भी शब्दावृत्ति होती है, जैसे—

> धरनी न असी न कहूँ तरनी, तरनी तुव मो वृजि में वरनी।
> वरनी रजनैन प्रभाकरनी, करनी गति है कहि कै हरनी॥

---

१. कवि प्रिया; १४-६५

२. सुरतरवर नें रम्भा वनी, सुरत रव रमै रम्भा वनी।
सुर तरङ्गिनी कर किंनरी, सुरत रङ्गिनी कर किंनरी। —वही; १५-१२८

३. शब्द अरु अर्थ दुहुँ न को चमत्कार सम देखि।
यमक चित्र संकर लखौ मम्मटमत अवरेखि॥ —चित्र चन्द्रिका; ६-७

४. शब्द रसायन; पृ० ८६

५. चरण अन्त अरु आदि के यमक कुण्डलित होइ।
सिंह विलोकत है उहैं, मुक्तकपदग्रस सोइ॥ —काव्यनिर्णय; १६-६१

६. सिंहविलोकनि त्रिविधि सो प्रथमआदि कहि अन्त।
आदि अन्तहू-मद्धि पुनि जमैक जमक भनन्त। —कवितारसविनोद; २२-१८

हरनी मति सों तिनकी उरनी, उरनी जनराज न की टरनी।
छरनी छल छन्द किते भरनी, भरनी रस पुंज प्रभाधरनी ॥[१]

यमक एवं अन्य अलंकार

यमक और लाटानुप्रास में बहुत समानता है किन्तु इनमें मूल अन्तर यह है कि यमक में आवृत्त पद या शब्द भिन्नार्थक होते है जब कि लाटानुप्रास में केवल अन्वय से अर्थ बदल जाता है। जहाँ तक यमक और वाक्यावृत्तिमूलक लाटानुप्रास का सम्बन्ध है, इन दोनों को सहज ही पृथक् किया जा सकता है किन्तु शब्दावृत्तिमूलक लाटानुप्रास और यमक का पार्थक्य सहज नहीं। वीप्सा और पुनरुक्तिप्रकाश मे भी समान आकार वाले शब्दों की आवृत्ति होती है पर उनका यमक से अन्तर यह है कि उन दोनो मे आवृत्त शब्द या पद भिन्नार्थक नही होते। अर्थालंकारो के पदावृत्ति दीपक और यमक मे भी साम्य है क्योकि दोनो मे भिन्नार्थक पदों की आवृत्ति होती है किन्तु इनमें अन्तर यह है कि यमक में आवृत्ति पद क्रियात्मक नहीं होते जबकि पदावृत्ति दीपक ने क्रियात्मक होते है।

सिंहावलोकन का आद्यन्तानुप्रास और कुण्डलियाँ से कुछ साम्य है किन्तु आद्यन्तानुप्रास या आद्यन्त तुक मे एक ही चरण के आदि-अन्त समान होते है और सिंहावलोकन नें दो चरणों के आदि अन्त समान होते है। इसी तरह कुण्डलिया मे दूसरी पक्ति के अर्धांश की तीसरी पंक्ति में आवृत्ति होती है, अन्तिम पक्ति का अन्तिम पदांश तथा प्रथम पंक्ति का प्रथम पद्यांश समान होता है। चौथी तथा पाँचवी पंक्ति में कोई आवृत्ति नही होती। इसीलिए डॉ० रसाल कुण्डलियाँ को सिंहावलोकन का संकीर्ण रूप मानते हैं।[२]

यमक का महत्व एवं मूल्यांकन

अनुप्रास के समान ही यमक भी वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है।[३] यमक को शब्दालंकारो का जनक माना गया है अत. इसे आदि अलकार भी कहते है। भरत ने जिन चार अलंकारो का प्रारम्भ मे विवेचन किया है, उनमे से यह भी एक है। संस्कृत के आचार्यो ने इसके विवेचन में विशेष रुचि दिखाई है। रीतिकाल मे यह धारा अभिराम चलती रही। कई आचार्यो और कवियो ने अलकारों ने उपवन से यमक के पुष्प चयन कर

---

१. कवितारसविनोद; २२-२१

२. कुण्डलियां नामी छन्द में सिंहावलोकन का एक संकीर्ण रूप रहता है।
—अलंकार पीयूष (पूर्वार्द्ध) पृ० २११

३. परीमेग्निमर्षत परीमे गामनेषत। —ऋग्वेद; १०-१५५-५

काव्य के कलकंठ में मालार्पण किया है । इसी अलंकार ने चित्रालंकार को जन्म दिया। आचार्य देव ने यमक के स्वाभाविक प्रयोग को महत्त्व दिया है, जो कवि-रीति को सनाथ बनाने वाली है ।[1]

सारांश

यमक ध्वन्यर्थमूलक शब्दालंकार है। अलंकारशास्त्रों में यमक सर्व प्राचीन शब्दालंकार है ! इसका सर्वप्रथम विवेचन आचार्य भरत ने किया है। भरत के पश्चात् संस्कृत काव्यशास्त्र मे इसके विवेचन की विशाल परम्परा दृष्टिगोचर होती है। विष्णुधर्मोत्तर-पुराणकार भामह, रुद्रट, भोज, मम्मट आदि इस परम्परा के प्रमुख आचार्य रहे है। हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यो मे केशव, जसवन्तसिह, चिन्तामणि, भूषण आदि ने यमक-विवेचन को अपने ग्रन्थो मे स्थान दिया। यमक का पूर्ण लक्षण संस्कृत या हिन्दी मे नही मिलता। सभी लक्षणो के आधार पर उसका लक्षण होगा—जहाँ सार्थक या निरर्थक समानाकार वाले या समानश्रुति वाले भिन्नार्थक पदों या अक्षरो की अव्यवधान से आवृत्ति होती है वहाँ यमक होता है। यमक वर्गीकरण भी सर्वांश मे कोई पूर्ण नही। वर्गीकरणो के आधार आवृत्ति का स्थान, सुकरता या दुष्करता रहे। रीतिकाल में यमक का एक नवीन भेद 'सिंहावलोकन' मिलता है, देव भिखारीदास, जनराज आदि आचार्यो ने इसका विवेचन किया। यमक का महत्त्व कई आचार्यो ने स्वीकार किया। देव ने इसको कवि रीति सनाथ बनाने का साधन माना है। यमक का कई अलंकारों से साम्य एवं वैषम्य है। यमक का स्वाभाविक प्रयोग रसवृद्धि मे सहायक होता है।

(ग) श्लेष

'श्लेष' शब्द की व्युत्पत्ति है—'श्लिष्यन्तीतिश्लेषः' अर्थात् शब्द जहाँ एक दूसरे से अभिन्न हो जाते है वहाँ श्लेष होता है। दूसरे शब्दो मे अनेकार्थ बोध को श्लेष कहा जाता है। एकाधिक अर्थ ही श्लेष का जीवातु है। संस्कृत काव्यशास्त्र में श्लेष का प्रयोग चार रूपो में हुआ है—अलकार के सामान्य तत्त्व के रूप में, काव्य गुण के रूप मे, शब्दालंकार के रूप में एवं अर्थालकार के रूप में। विष्णुधर्मोत्तरपुराण से लेकर कृष्णकवि तक अधिकांश सस्कृत आचार्यो ने इसे शब्दालकार माना है। रीतिकालीन आचार्यो मे चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, भिखारीदास आदि ने श्लेष को शब्दालंकार माना है। आचार्य जसवंतसिंह, भूषण, देव आदि इसे अर्थालंकार मानते है।

---

१. शब्दरसायन; पृ० ८५

लक्षण

विष्णुधर्मोत्तरपुराण में श्लेप का लक्षण दिया है—दो या तीन अर्थों के वाचक शब्दों को श्लेप कहते है। श्लेष का यह लक्षण आज भी उतना ही मान्य है जितना पहले कभी था। मम्मट ने इससे भिन्न लक्षण दिया है—अर्थ का भेद होने से भिन्न-भिन्न शब्द उच्चारण के कारण जब परस्पर मिलकर एक हो जाते है तब श्लेषालंकार होता है।[२]

रीतिकालीन आचार्यों में पदुमनदास[३], सोमनाथ[४] आदि ने दो या तीन अर्थ बताने वाले शब्दों में श्लेष माना है। चिन्तामणि ने मम्मट के अनुकरण पर भिन्नार्थक शब्दों की अभिन्नता में श्लेष स्वीकार किया है।[५] श्लेष का सर्वशुद्ध लक्षण यह हो सकता है—श्लिष्ट शब्दों से अनेक अर्थों का अभिधान (कथन) किये जाने को श्लेष अलंकार कहते हैं।[६] भिखारीदास ने द्वयर्थी श्लेष के उदाहरण में बनिता और सुलतान की सेना को एक रूप कर दिया है।[७]

वर्गीकरण

संस्कृत में श्लेप के कई वर्गीकरण प्राप्त होते है। आचार्य दण्डी ने श्लेष के दो भेद किये है—अभिन्नपद और भिन्न पद।[८] आचार्य रुद्रट ने श्लेप के आठ भेद किये है—वर्णश्लेष, पदश्लेप, लिंगश्लेप, भाषाश्लेष, प्रकृतिश्लेष, प्रत्ययश्लेष, विभक्तिश्लेष, और वचन-

---

१. द्वि त्र्यर्थ वाचकैः शब्दैः श्लेष इत्यभिधीयते।
—विष्णुधर्मोत्तरपुराण; ३-१४-६

२. वाच्यभेदेन भिन्नापद् युगपद्भाषणस्पृशः।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा॥ —काव्यप्रकाश; ६-८४

३. एक शब्द उच्चार में अर्थ मिले दुई तीन। — काव्य मंजरी; १०-३१

४. एक अर्थ के होत जहँ अर्थ अनेक सुभाय।
श्लेष कवित्त सुजानिये, प्रगट कह्यौ समुझाय॥ —रसपीयूष निधि; २१-३२

५. पदअभिन्नभिन्नारथक कहत तहाँ अश्लेष। —कविकुलकल्पतरु; २-२४

६. अलंकार मंजरी; पृ० ७८

७. बनिता बख·नि है कि सेना सुलतानी है। —काव्य निर्णय; २०-५

८. तदभिन्नपदं भिन्नपदप्रायमिति द्विधा। —काव्यादर्श; २-३१०

श्लेष ।[1] आचार्य मम्मट ने इन सभी वर्गीकरणों का समन्वय करके इसके दो भेद किये- अभंग श्लेष और समंग श्लेष ।[2]

रीतिकालीन आचार्यों में केवल कुलपति ने श्लेष का वर्गीकरण प्रस्तुत करके उसके आठ भेद किये है पर साथ ही वे यह भी स्वीकार करते है कि ये हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुकूल नही है ।[3]

श्लेष एवं अन्य अलंकार

श्लेष हमेशा किसी न किसी अन्य अलकार से वाधित रहता है । इसकी स्वतत्र उपस्थिति नहीं होती है । श्लेष और समासोक्ति में साम्य है किन्तु उनमें अन्तर यह है कि समासोक्ति मे अवर्ण्य विषय व्यंग्य से निकलता है केवल वर्ण्य विषय वाच्य होता है पर श्लेष मे वर्ण्य और अवर्ण्य दोनो वाच्य होते है ।

श्लेष का महत्त्व एवं मूल्यांकन

श्लेष को विद्वानों ने 'ध्वन्यर्थमूलक' के साथ 'गोपनमूलक' अलंकार माना है । भाव प्रगोपन से जिज्ञासा बढती है और कौतूहल की अभिवृद्धि होती । अर्थ-बोध के पश्चात् होने वाली आनन्दानुभूति से वर्णरहस्य का ज्ञान हृदय को चमत्कृत करने में पूर्ण सहायक होता है । इस अलंकार का प्रयोग वैदिक-काल से प्रारम्भ हो गया था । लौकिक-संस्कृत-साहित्य और हिन्दी-काव्यो मे श्लेष का प्रचुर प्रयोग हुआ है जिसे कवि स्वयं परिलक्षित नही करता है किन्तु उनके टीकाकारों एव आलोचको ने उन्हे स्पष्ट किया है । श्लेषालंकार की इस व्यापकता में कोशकारों का भी बहुत अधिक योगदान है क्योंकि कोशकार एक शब्द के अनेक अर्थों को सूचित करके कवि की वाणी को व्यापक बनाने मे सहयोग देता है । संस्कृत में तो एक दो अर्थों की बात सामान्य है, एक-एक शब्द के असंख्य अर्थ करने के साक्ष्य भी समुपलब्ध होते है ।[4]

---

१. वर्णपदलिंग भाषाप्रकृतिप्रत्यय विभक्ति वचनानाम् ।
अत्रायं मतिमद्भिर्विधीयमानोऽष्टधा भवति ॥ —काव्यालंकार; ४-२

२. काव्यप्रकाश; ६-८४ (वृत्ति)

३. जिसमें वरण सलेष भाषा नें दुर्लभ हैं । वचन; लिंग
विभक्ति का एक ही उदाहरण है । —रसरहस्य; ७-२८ (टिप्पणी)

४. 'राजानौ ददते सौख्यम्'— पद के एक लाख अथवा आठ लाख
अर्थ समय सुन्दर गणि ने बताये हैं । —संस्कृत साहित्य में शब्दालंकार; पृ० २२६

सारांश

श्लेष ध्वन्यर्थमूलक शब्दालंकार है। संस्कृत मे श्लेष का चार रूपो में वर्णन हुआ है। अलंकार के रूप में इसका सर्वप्रथम लक्षण विष्णुधर्मोत्तरपुराण में मिलता है। रीतिकालीन आचार्यो में पद्मनदास, सोमनाथ, चिन्तामणि आदि ने अपने लक्षण दिये। वर्गीकरण केवल कुलपति ने प्र तुत किया है साथ ही हिन्दी भाषा की प्रकृति से संस्कृत काव्यशास्त्र में उल्लेखित श्लेप-भेदो का साम्य नही है – इस तथ्य का भी निर्देश किया है। श्लेप और समासोक्ति में अन्तर है। यह शब्दालकार कवि और टीकाकारो के मध्य दुभाषिये का काम करता है। कोशकारो ने भी इस शब्दालंकार के स्थायित्व में पूर्ण योग दिया है।

(घ) प्रहेलिका

विश्व के समस्त साहित्य मे प्रहेलिका को स्थान मिला है। साहित्य में इसका प्रयोग दूसरे के ज्ञान की परीक्षा के लिए और लोक में इसका उपयोग मनोरजन के लिए किया जाता है। संस्कृत मे इसे 'प्रवल्हिका' भी कहते है।[१] हिन्दी में इसे पहेली, बुझौवल[२], फारसी मे 'चीस्ता', उर्दू में 'मुअम्मा'[३] और अंग्रेजी में इसका नाम 'पजल (Puzzle)[४] है। प्रहेलिका का मूल-तत्त्व अर्थ को दुःसाध्य या गोपनीय बनाना है। दण्डी ने कहा है कि प्रहेलिका का प्रयोग आमोद गोष्ठी में, विचित्र प्रकार के वाग्व्यवहारो से मनोविनोद मे, लोगो की भीड़ में, गुप्तभाप करने में तथा दूसरों को अर्थ से अनभिज्ञ बनाकर उपहास पात्र बनाने के लिए किया जाता है।[५] संस्कृत एवं हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने इसका पर्याप्त विवेचन किया है।

लक्षण

प्रहेलिका का लक्षण अग्निपुराण मे प्राप्त होता है--जहाँ द्वयर्थक गुह्य-शब्दो का

---

१. अमर कोश; १-६-६

२. वृहत् हिन्दी कोश; पृ० ७८६

३. अलंकार मंजूषा; पृ० २१

४. इंगलिश संस्कृत डिक्शनरी; पृ० ६४७

५. क्रीडागोष्ठी विनोदेषु तज्जेराकीर्णमन्त्रणे।
पव्यामोहने चापि सोपयोगाः प्रहेलिकाः ॥ --काव्यादर्श; २-९६

प्रयोग हो, उसे प्रहेलिका कहते है।[१] रीतिकालीन आचार्यो में केशव[२], और काशिराज[३] ने अर्थ की गोपनीयता में ही प्रहेलिका को माना है। प्रहेलिका का यही लक्षण शुद्ध है।

वर्गीकरण

अग्निपुराण में प्रहेलिका को आर्थी और शाब्दी दो भागो में बाटा है और शाब्दी के गुप्त, च्युत, दत्त, च्युतदत्त, समस्या और दुष्कर—छः भेद किये है।[४] भोजने भी अग्निपुराणकार के अनुकरण पर प्रहेलिका के ६ भेद किये है—च्युताक्षर, दत्ताक्षरा, अक्षरमुष्टि, विन्दुमती और अर्थमत्ती।[५]

रीतिकालीन आचार्य काशिराज ने प्रहेलिका के चार भेद बताये है—दृष्टकूट, शास्त्रोक्त, सनाम और वर्णप्रहेलिका।[६] इसमें अनुभव के आधार पर उत्तर निकलने पर शास्त्रोक्त, जहाँ प्रहेलिका मे ही उत्तर छिपा हो वहाँ सनाम और वर्णो के त्याग से उत्तर प्राप्त होने पर वर्ण प्रहेलिका होती है।[७]

प्रहेलिका के वर्णगत, शब्दगत और अर्थगत भेद भी हो सकते है। इनके उदाहरण नीचे दिये जा रहे है—

१. शंकरजी के साथ है चार चरण गिन लेव।
मध्य युगाक्षर छौड़िकै, हमें कृपा करि देव॥[८] (पाती)

---

१. द्वयोरप्यर्थयोर्गु ह्यमान शब्दाप्रहेलिका।—अग्निपुराण; ३४३-२५

२. वरनिय वस्तु दुराय जहँ कौन हूँ एक प्रकार।
तासों कहत प्रहेलिका कविकुल वुद्धि उदार॥ —कविप्रिया; १२-३०

३. चित्रचन्द्रिका; ८-७

४. सा द्विधार्थी च शाब्दी च तत्रार्थी चार्थबोधतः।
शब्दावोधतः शाब्दी प्राहुषोढा प्रहेलिका॥ —अग्निपुराण; ३४३-२२

५. सरस्वती कंठाभरण; २-१३४

६. दृष्टिकूट शास्त्रोक्त पुनि सहितनाम पुनि जानु।
अक्षर में ते काढ़िए, चार जात उर भानु॥ —चित्रचन्द्रिका; ८-८

७. दृष्टकूट नाम देखी भई पहेली, शास्त्रोक्त नाम शास्त्ररीति की पहेली, सनाम नाम वाही पहेली में वाको नाम कह देना, अक्षर में ते काढिए नाम एक एक वर्ण निकास कै नाम निकसे ये चार जाति उनमें आनिये। —चित्रचन्द्रिका; ८-८ (टीका)

८. साहित्य सागर; १०-७१

२. करण नहीं गुण करण को पद बिनु चलनो वेस ।
सुमनस को आहार करि, कहि कवि नाम विशेष ।।[१] (शेषनाग)

३. ऐसो फूल मंगाव सखि, जिह जानै सब कोय ।
दिन के तो नारी बने, रात बसे नर होय ।।[२] (बेला)

अन्य अलंकार और प्रहेलिका

अन्तर्लापिका और प्रहेलिका में साम्य है किन्तु प्रहेलिका में जहाँ प्रायः एक प्रश्न और एक ही उत्तर होता है, वही अन्तर्लापिका में एक से ज्यादा प्रश्न और उत्तर होते हैं, इसी तरह प्रश्नोत्तर अलंकार में भी प्रश्न और उत्तर एक ही छन्द मे होते है पर शब्दगत प्रहेलिका में जहाँ प्रश्न के शब्द और होते हैं और उत्तर के और, वहीं प्रश्नोत्तर में प्रश्न के शब्दों में ही उत्तर छिपा रहता है। अर्थगत प्रहेलिका और वहिर्लापिका—दोनो मे उत्तर वाहर से ही ढूंढना पडता है पर अर्थगत प्रहेलिका में जितने प्रश्न होंगे, उनके उत्तरो के लिए उतने ही शब्द समूह होंगे किन्तु वहिर्लापिका के लिए ऐसा शब्द समूह खोजना पड़ता है जिससे उन सभी प्रश्नो के उत्तर मिल जाये। मुकरी भी प्रहेलिका की ही तरह मनोरंजन करती है पर दोनो में अन्तर है। मुकरी में जो वाते कही जाती है वे द्वयर्थक होती है। उनमें एक अर्थ प्रधान और दूसरा गौण होता है। इस अलंकार का चमत्कार यही है कि प्रधान अर्थ मुकर कर, उसे अस्वीकार करके गौण अर्थ को स्वीकृति दी जाती है। प्रहेलिका मे अर्थ-गोपन तो किया जाता है पर उसका निषेध नहीं किया जाता।

प्रहेलिका का महत्त्व एवं मूल्यांकन

प्रहेलिका का जितना महत्त्व समाज मे रहा है उतना किसी भी शब्दालंकार या अर्थालंकार का नही रहा है। दण्डी या भोज के युग में इसे जो मान्यता प्राप्त थी आज भी उतनी ही प्राप्त है। अमीर खुसरो तो इसी के कारण प्रसिद्ध रहे हैं। वस्तुत प्रहेलिका का क्षेत्र साहित्य के वजाय लोक-जीवन अधिक है। इससे मनोरंजन के साथ-साथ शक्ति भी वढ़ती है।

सारांश

प्रहेलिका हर युग एवं प्रत्येक साहित्य में समादृत रही है। संस्कृत में दण्डी, भोज,

---

१. चित्रचन्द्रिका; ८-१२
२. साहित्य सागर; १०-७४

अग्निपुराणकार आदि तथा रीतिकालीन आचार्यों में केशव, कविराज आदि ने इसका विवेचन किया है। इसके शब्दगत एवं अर्थगत वर्गीकरण हुए हैं। अन्तर्लापिका, प्रश्नोत्तर, बहिर्लापिका एवं मुकरी से प्रहेलिका भिन्न है। यह अलंकार साहित्य के बजाय लोक-जीवन के निकट अधिक है। यह मनोरंजन के साथ ही मानसिक शक्तिवर्धन भी करती है।

(ङ) चित्रालंकार

कवियों में चित्रकला—नैपुण्य एवं चित्रकारों में काव्यकला का उत्कर्ष प्रायः देखने में नहीं आता, फिर भी कवियों में वर्णचित्रात्मकता एवं चित्रकारों में है रंग-लयात्मकता होना अपेक्षित है। कवियों के अन्तर्पटल पर चित्रों की रंग-रेखाएँ उभरती है एवं वे वर्णों का संपर्क पाकर मुखर होकर भाव संप्रेषण करती हैं। इस प्रकार कविता एवं चित्र का मणिकांचन संयोग वाग्देवता के लिए नूतन अर्घ्य बनता है।[1]

संस्कृत में 'चित्र' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में प्राप्त होता है। भरत ने चित्र का प्रयोग अभिनय के अर्थ में किया है।[2] काव्य-भेद के रूप में इसका प्रयोग आचार्य आनन्दवर्द्धन ने किया।[3] शब्दालंकार के रूप में इसका सर्वप्रथम विवेचन किसने किया, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। आचार्य राजशेखर ने इसे चित्रांगद विरचित माना है।[4] कुछ विद्वान इसे यन्त्रकुण्डाकृतियों एवं तन्त्रशास्त्र से उद्भूत मानते हैं।[5] नमि साधु ने रुद्रट के काव्यालंकार की टीका करते हुए यह लिखा है कि इसे शब्दालंकारों में सर्वप्रथम स्थान आचार्य रुद्रट ने दिया है।[6] इसके पश्चात् तो शब्दालंकार-विवेचन में चित्रालंकार को स्थान देना परम्परा का एक अंग बन गया। हिन्दी के रीतिकालीन काव्य में भी यह परम्परा अक्षुण्ण रही। आचार्यों ने 'चित्र' शब्द से तात्पर्य अद्भुत, आश्चर्य अथवा

---

१ ... ... Both poetry and picture combined together, Supplied a new offering to the Goddess of Learning.

—सारस्वत शतकम्; भूमिका पृ० १७

२. अनुक्त उच्यते चित्रः स चित्राभिनयः स्मृत। —नाट्यशास्त्र; २५-१

३. ध्वन्यालोक; ३-४३ (कारिका)

४. चित्रं चित्रांगदः। —काव्यमीमांसा; पृ० १

५. सारस्वत शतकम्; भूमिका पृ० ८

६. अन्यैरुक्तं चित्रं शब्दालंकारमध्ये समुच्चीयते।

—काव्यालंकार (नमिसाधु); २-१५

विचित्र आलेख्यगत वर्ण-विन्यास को स्वीकृत किया। चित्र शब्द की व्युत्पत्ति 'चित्तराति' करते हुए चित्र को आकृष्ट करने वाली विधा माना गया है।

चित्रालंकार समुद्र के समान है जिसमें बड़े बड़े प्रतिभा सम्पन्न कवि भी डूब जाते हैं।[1] इस पर सांगोपांग विवेचन के लिए शतशः पृष्ठ चाहिए, इसलिए इस प्रबन्ध की सीमा में रहकर उस सागर की कुछ लहरों का ही संस्पर्श किया जा सकेगा।

लक्षण

संस्कृत में चित्रालंकार का सर्वप्रथम लक्षण रुद्रट ने यह दिया है—जहाँ वस्तुओं के रूप अपने चित्र के साथ इस प्रकार रचे जाते हैं कि इनमें इनका क्रम भंग्यन्तर से—वर्णों के द्वारा किया गया हो वहाँ चित्रालंकार होता है।[2] मम्मट ने चित्र का लक्षण दिया है—चित्रालंकार उसे कहते है जिसमे वर्णविन्यास के द्वारा खड्ग आदि की आकृति का निर्माण किया जाता है।[3] संस्कृत काव्यशास्त्र में मम्मट का अनुकरण ही सर्वाधिक हुआ है।

रीतिकालीन आचार्यो मे चिन्तामणि[4] और रसरूप[5] ने खड्गादि बंध-चित्रो में चित्रा-लंकार मान कर मम्मट के मत की पुष्टि की है। कुलपति ने नया लक्षण दिया है। वे कहते है—जिसमे केवल लेखन-चातुरी से काव्य को अनेक प्रकार के चित्रो से युक्त बना दिया गया हो उसे चित्रालकार कहते है।[6] ईश्वर कवि ने सुनने और देखने मे विचित्र रचना को चित्रालकार माना है।[7]

---

१. केशव चित्र समुद्र में बूड़त परम विचित्र।
   ताकै बूंदक के गणे बरनत हों सुनि मित्र॥ —कविप्रिया; १६-१

२, भंग्यन्तरकृततत्क्रमवर्ण निमित्तानि वस्तुरूपाणि।
   सांकानि विचित्राणि च रच्यन्ते यत्र तच्चित्रम्॥ —काव्यालंकार; ५-१

३. तच्चित्र यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृति हेतुता। —काव्य प्रकाश; ९-८५

४. खड्ग आदि ह्वै कर सुरज कामधेनु है आदि।
   चित्रालंकृत बहुत विधि, बरनत सुकवि अनादि॥ —कविकुल कल्पतरु; २-२३

५. खड्गाद्याकृत बंध बहु, कामधेनु है आदि। —तुलसीभूषण; दोहा ४७

६. लिखिबे ही की चतुरई, उपजै भेद अनेक।
   जहाँ सुचित्र कवित्त है, वहु विधि बन्धु विवेक॥ —रस रहस्य; ७-३४

७. सुनत और देखत सु जिहि; रचना गति सु विचित्र।
   ताही सों सब कहत कवि; ईस्वर उत्तिम चित्र॥ —चित्र चमत्कृत कौमुदी: १-४

उपरोक्त सभी लक्षणों से चित्रालंकार के विषय में यह तथ्य प्राप्त होता है कि इसमें वर्ण विन्यास का चातुर्य होता है। लिपि के आश्रित होते हुए भी यह शब्दालंकार माना जा सकता है—इसका समर्थन रुय्यक ने इन शब्दों में किया है—लिपि के अक्षर को श्रोत्र समवायी शब्द की भांति सामान्य जन शब्द ही समझते हैं। शब्द और लिपि की एकात्मकता के कारण चित्रालंकार को शब्दालंकार मानना चाहिए।[1]

चित्रालंकार के नियम

चित्रालंकार-रचना को कष्टसाध्य माना जाता रहा है। कवि वैसे ही निरंकुश होते हैं, फिर चित्रालंकार में तो उन्हें कई छूट प्राप्त हो जाती हैं। वाग्भट (प्रथम) ने कुछ नियमों का उल्लेख किया है—यमक, श्लेष और चित्रालंकार में ब व और ड, ल में कोई भेद नहीं माना जाता और इनमें अनुस्वार-विसर्ग के कारण भी कोई व्याघात नहीं पड़ता।[2] विद्याधर[3] ने इन नियमों की और सीमाएं बढ़ा दीं।

रीतिकाल में केशव ने इन नियमों का उल्लेख इस प्रकार किया—चित्रालंकार में विसर्ग और अनुस्वार रहित अक्षर को यदि विसर्ग या अनुस्वार सहित करना पड़े अथवा यति भंग, रसहीन, बधिर, अन्ध और अगम दोष आवें तो वे दोष नहीं हैं। इसी तरह दीर्घ को लघु और लघु को दीर्घ, ब व और ज, य को एक समझना भी दोष नहीं है।[4] अन्य

---

1. यद्यपि लिप्यक्षराणां वर्णविन्यासेन विशिष्टत्वं तथापि श्रोत्राकाशसमवेतवर्णात्मक शब्दाभेदेन तेषां लोके प्रतीतेश्चित्रशब्दालंकारत्वम्।

अलंकार सर्वस्व; पृ० ३८

2. यमक श्लेष चित्रेषु बवयोर्डलयोर्न भित्।
नानुस्वार विसर्गौ च चित्रभङ्गाय सम्मतौ ॥ —वाग्भटालंकार; १-८

3. रलयोर्डलयोस्तद्वल्लकारबवयोरपि
तन्नोर्णयोश्च न स्यात् सविसर्गाविसर्गयोः ॥
सबिन्दुकाबिन्दुकयोः स्यादभेदेन कल्पनम्। —एकावली; ७-६ और ७

4. दीरघ लघु बिंदु बिन्दुतन, जति रसहीन अपार।
बधिर अन्ध, गन, अगन, को न चित्त गनत विचार ॥
केशव चित्र समुद्र में इनके दोष न देख।
अक्षर मोटे पातरे ब व ज य एक लेख ॥ —कविप्रिया; १६-२ तथा ३

आचार्यों ने भी इन नियमों का उल्लेख किया है। इन सभी नियमों में शब्दों की समता विषयक चर्चा ही अधिक है।

वर्गीकरण

संस्कृत एवं रीतिकालीन आचार्यों ने चित्रालंकार का विवेचन तो पर्याप्त किया है पर वर्गीकरण कुछ आचार्यों के ही प्राप्त होते हैं। संस्कृत में आचार्य भोज का वर्गीकरण ही व्यवस्थित है। वह इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।

१. वर्णचित्र— चतुर्व्यंजन, त्रिव्यंजन, द्विव्यंजन, एकव्यंजन, क्रमस्थ सर्वव्यंजन, छन्दोऽक्षर व्यंजन, षड्जादि स्वर व्यंजन, मुक्ताक्षर व्यंजन।

२. स्थान चित्र— निष्कंठ्य, निस्तालव्य, निर्दन्त्य, निरोष्ठ्य, निर्मूर्धन्य, दन्त्यकंठ्य, कंठ्य।

३. स्वरचित्र— ह्रस्वैकस्वर, दीर्घैकस्वर, ह्रस्वद्विस्वर, ह्रस्वत्रिस्वर, दीर्घचतुःस्वर, प्रतिव्यंजनविन्यस्तस्वर, अपास्तसमस्वर।

४. आकारचित्र— अष्टदल कमल, द्वितीय अष्टदल कमल, तृतीय अष्टदलकमल, चतुष्पत्र कमल, षोडशपत्र कमल, अष्टपत्रकविनामांक कमल, नामांकचक्र कमल।

५. गतिचित्र— गतप्रत्यागत, तदक्षरगत, श्लोकान्तर, भाषान्तरगत, अर्धानुगत, तुरगपद, अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र।

७. बन्धचित्र— द्विचतुष्क चक्रबंध, द्विश्रृङ्गाटक बन्ध, त्रिविडित बन्ध, शरयन्त्र बन्ध, व्योमबन्ध, मुरजबन्ध, गोमूत्रिका, गोमूत्रिका धेनु।

भोज ने इनके और भी अनेक भेदोपभेद माने हैं पर अन्य विद्वानों के विवेचन के बाद उनके उल्लेख की आवश्यकता नहीं समझी।[1] रीतिकालीन आचार्यों में कासिराम का वर्गीकरण वैज्ञानिक है, जो इस प्रकार तालिका के रूप में दिया जा सकता है—

शब्दचित्र

१. वर्णचित्र— एकाक्षर, द्वयाक्षर, त्र्यक्षर, चतुरक्षर, सर्वव्यंजन, स्वर व्यंजन।

---

१. दिङ्मात्रं दर्शितं चित्रं शेषमूह्यं महात्मभिः। —सरस्वती कंठाभरण; २-१३०

२. स्थानचित्र—	निष्कंठ्य, निस्तालव्य, निर्मूर्धन्य, निर्दन्त्य, निरोष्ठ्य, कंठ्य, तालव्य, मूर्धन्य, दन्त्य, ओष्ठ्य ।
३. स्वरचित्र—	सर्वगुरु, सर्वलघु, अमात्रिक ।
४. आकार चित्र—	अष्टदल कमलाकर, कदली, वृक्षाकार ।
४. गतिचित्र—	पादानुपादगतागत, अर्धगतागत, तदक्षरतदर्थगतागत, द्वितीयगतागत, पदार्थगतागत, भाषान्तरगतागत, समस्त-व्यस्त गतागत, नवकोष्ठगति, व्यस्तगतागत, सर्वतोभद्र, रक्षगति, अश्वगति ।
६. बन्धचित्र—क—	आकृति बन्ध-कमल बन्ध, चामरबन्ध, हल की कूंडीबन्ध मुष्टिकाबन्ध कमठबन्ध, त्रिपदीबन्ध गोमूत्रिका बन्ध, कपाटबन्ध, शरयन्त्रबन्ध, मध्यादिमध्यान्तत्रिपदीबन्ध, अग्नि-कुण्डबन्ध पर्वतबन्ध, चक्रबन्ध, त्रिचतुष्कबन्ध, विविडित-चक्रबन्ध, विडिकाबन्ध, द्विश्रृंगाटकबन्ध, छत्रबन्ध, द्विदण्ड छत्रबन्ध, पताकाबन्ध, ध्वजाबन्ध, चरणगुप्तोत्तरनिरोठ्य, मुरजबन्ध, धनुपबन्ध, खड्गबन्ध, मालाबन्ध, मयूरबन्ध, कामधेनुबन्ध ।
ख—	गुणबन्ध-नामबन्ध, भाषाछलबन्ध, अनेक भाषाबन्ध, कल्प-वृक्षबन्ध, अन्तर्गतपाठबन्ध, शतधेनुबन्ध ।

अर्थचित्र

एकाक्षर, द्वयाक्षर, चतुरक्षर, प्रहेलिका, गूढ, सूक्ष्म, वहिर्लापिका, अन्तर्लापिका, गूढोत्तर, शासनोत्तर, एकानेकोत्तर, एकानेक श्रृंखलागति, व्यस्तसमस्तोत्तर, व्यस्तसमस्त-गतागत, अपह्नुति, श्लेप ।

संकरचित्र

यमक (सव्यपेत, अव्यवेत, सव्यपेताव्यपेत)

इस प्रकार हम देखते हैं कि काशिराज का वर्गीकरण अधिक बोझिल एव व्यापक है क्योंकि इसमें श्लेप, प्रहेलिका और यमक का भी समावेश कर दिया है एवं शब्दचित्र, अर्थचित्र एवं संकरचित्र नामक तीन विभाग करके चित्रालंकार की परिव्याप्ति शब्दालंकार, अर्थालंकार में की गई है ।

रीतिकालीन काव्य मे जिन चित्रालंकारों एवं उनके भेद का विवेचन हुआ है उनका सिंहावलोकन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि केशव से ग्वाल तक विवेचित चित्रालंकार के समस्त भेदों को ८ बड़े वर्गों में बाँटा जा सकता है। ये वर्ग है अक्षर चित्र, वर्णचित्र, स्वरचित्र, स्थानचित्र, गतिचित्र, प्रश्नोत्तरचित्र, भाषाचित्र और बन्धचित्र।

अब क्रमशः इन वर्गों का विवेचन करेंगे।

(१) अक्षर चित्र

अक्षरचित्रों का विवेचन केशव ने किया है। उन्होंने इसका लक्षण दिया है—जहाँ एकादिवर्ण मे बहुत से अक्षरो की रचना हो उन्हें अक्षरचित्र कहते है।[१] यथा—

एकाक्षरचित्र—	गो, गौ, गं, गो, गी, अ, आ, श्री, धी, ह्री, भी, भा, न।
द्वयक्षर—	रमा उमा वाणी सदा हरि हर विधि संग वाम।
त्र्यक्षर—	श्रीधर भूधर केशिहा केशव जगत प्रमाण।
चतुरक्षर—	सीतानाथ सेतुनाथ सत्यनाथ रघुनाथ व्रजनाथ दीनानाथ देव गति।

इसी तरह नियमित वर्ण पर आवृत चित्र भी होते है, यथा एकवर्णचित्र—नोनी नोनी नौनि नै नोने नोने नैन। द्विवर्णचित्र—हरि हीरा राहै हरो हेरि रही ही हारि। भिखारीदास ने दूसरे प्रकार के नियमित वर्ण चित्रों का विवेचन किया है जिसमे वर्ण सख्या छब्बीस तक मानते हुए केवल सातवर्णों तक के उदाहरण दिये है।[२] केशव ने २६ अक्षरों का एक उदाहरण दिया है।[३]

(२) वर्णचित्र

संस्कृत में इसका उल्लेख दण्डी ने किया है।[४] रीतिकालीन आचार्यों मे अधिकाश

---

१. एक आदि दै बरण बहु बरणै शब्द बनाय। कविप्रिया; १६-६

२. इकतें ते छब्बीसलगी होत बरन अधिकार।
तदपि कह्यो हौं सातलौं जानि ग्रन्थ विस्तार॥ —काव्य निर्णय; २१-४८

३. चोरी माखन दूध घी ढूँढ़त हठी गोपाल।
टरौं न जनथल भटकि फिरि झगरत छबि सों लाल॥ —कविप्रिया; १६-१५

४. काव्यादर्श; ३-२६

ने इसे अक्षरचित्र के अन्तर्गत मान लिया है। इसमें व्यंजनों की संख्या के आधार पर इसके उपभेद किये जा सकते है। काशिराज ने लिखा है—जहाँ एक ही अक्षर से छन्द की रचना की जाय वहाँ एक व्यजन वर्णचित्र होता है[1] और जहाँ सभी वर्णो एवं मात्राओं का प्रयोग हो वहाँ सर्वव्यजन वर्णचित्र माना जाता है।[2] इसी तरह सरगम के वर्णो से—सा रे ग म प ध नि सा छन्द की रचना होने पर स्वरव्यंजन चित्र कहा जाता है।[3]

वर्ण लुप्त एव वर्ण परिवर्तन से भी इसी चित्र की उपस्थिति रहती है। भिखारी-दास ने वर्णलुप्त का लक्षण दिया है—जहाँ वर्ण लोप से छन्द में चमत्कार आ जाता है वहाँ वर्णलुप्त चित्र होता है।[4] उसका उदाहरण है—

मत्तगमै निलिबो भलो नहि बातुल सौं लाल।
नहि समझ्यो दुहुं सब्द को मध्य लोपिये हाल ॥[5]
(मग में मिलिबो भलो न हीं बाल सों)

(३) स्वर चित्र

ह्रस्व और दीर्घ स्वरों के आधार पर स्वरचित्र होते है। रीतिकालीन काव्य में अमात्रिक, सर्वगुरु, सर्वलघु और लघुमात्रिक का विवेचन हुआ है। भिखारीदास के काव्य निर्णय में अ युक्त स्वरचित्र के उदाहरण मिलते है।[6]

(४) स्थानचित्र

कण्ठ्यादि स्थानीय वर्णों का सद्भाव या अभाव होने पर स्थान चित्र का निर्माण होता है। रीतिकाल में निरोष्ठ्य, निरोष्ठ्यामात्रिक, अजिह्व, निष्कण्ठ्य, निस्तालव्य, निर्दन्त्य, कण्ठ्य, तालव्य और दन्त्य का विवेचन हुआ है।

केशव ने निरोष्ठ्य का यह लक्षण दिया है—जिसको पढ़ते समय अधर से अधर

---

१. एकौ अक्षर को जहाँ, कीजै छन्द सुबन्ध। चित्रचन्द्रिका; १-९
२. एक छन्द में सब बरन, अरु सब सब मात्रा होइ। —वही; १-१९
३. वही; १-२१
४. काव्यनिर्णय; २१-३४
५. वही; २१-३७
६. वही; २१-४३ तथा ४४

न लगें उसे निरोष्ठ्य स्थान चित्र कहते हैं ।[1] इस चित्र में उ, ऊ, और प वर्ग के अतिरिक्त शेष सभी वर्णो का प्रयोग हो सकता है । इसी प्रकार वर्णो के स्थान के आधार पर अन्य स्थानचित्रों को भी समझा जा सकता है ।

(५) गतिचित्र

यदि वर्णो को गतागत (उलटे-सीधे) रीति से पढ़ने पर चमत्कार उत्पन्न हो तो वहाँ गति चित्र होता है । इसके उपभेदों में अभिन्नार्थकगतागत भिन्नार्थक गतागत, तदर्थ-गतागत, भापन्तर गतागत, समस्तव्यस्तगतागत, नवकोष्ठगति, व्यस्तगतागत, अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र, अश्वगत आदि का विवेचन हुआ है । अर्धभ्रम गतागत का एक मनोरम उदाहरण केशव ने दिया है ।[2]

रीतिकाल मे सर्वतोभद्र एवं अश्वगति अधिक लोकप्रिय रहे हैं । काशिराज ने सर्वतो-भद्र के दो उपभेद किये हैं । किसी छन्द को चारों ओर से पड़ने पर जहाँ एक सा पाठ होता है वहाँ सर्वतोभद्र (प्रथम भेद) होता है और जहाँ दो-दो अक्षरो को छोड़कर तथा अन्त में छूटे हुए अक्षरो को जोड़कर पढ़ने से विविध छन्द निकले वहाँ सर्वतोभद्र (द्वितीय-भेद) होता है ।[3]

इसी तरह अश्वगति (तुरगगति) का भी काशिराज ने लक्षण दिया हैं— जहाँ ढाई-ढाई घर के अक्षरो को पढ़ने से दूसरा छन्द निकल आता है वहाँ अश्वगति चित्र होता है ।[4] इनका उदाहरण भी दर्शनीय है ।[5]

(६) प्रश्नोत्तर चित्र

कुछ आचार्य प्रश्नोत्तर को स्वतन्त्र शब्दालंकार के रूप में मानते हैं इसकी चर्चा इसी प्रवन्ध में अन्यत्र की गई है चित्रालकार भेद के रूप में वहिर्लापिका और

१, पढ़त न लोग अधर सौं, अधर वरण त्यों मंडि ।
और वरण वरणो सवै, उ प वर्गहि सब छंडि ॥ —कविप्रिया; १६-५

२. मासम सोइ सजै वन बीन, नवीन बजै सह सोम समा ।
मानव हीरहि मोरत मोद, दमोदर मोहि रही वन मा ॥ —कविप्रिया; १६-६६

३. (क) चहूँ ओर तें वांचिये पाठ एक सो होय । —चित्रचन्द्रिका; ५-२२
(ख) दो दो अक्षर छोड़िये जोड़ि दीजिये अन्त । —वही; ५-२४

४. ढाई-ढाई घरन सों, अक्षर लीजै वांचि ।
जहाँ छन्द दूजो वनै; सो हयगति है सांचि ॥—वही; ५-२६

५. देखिये परिशिष्ट—१ चित्र क्र० २६

अन्तर्लापिका नामक दो उपभेदों को रीतिकाल में बडा मान मिला है। केशव ने बहिर्लापिका का यह लक्षण दिया हैं—जहाँ पूछे गये प्रश्न का उत्तर बाहर से निकले वहाँ बहिर्लापिका अलंकार होता है।[1] प्रवीणसागर में बहिर्लापिका के चार भेद दिये गए है—प्रश्नोत्तर बहिर्लापिका, वर्गवर्णोपरिअंकभेद बहिर्लापिका, वर्णभेदबहिर्लापिका और वर्णभेदोभिधान बहिर्लापिका। वर्गवर्णोपरिअंक भेद का यह उदाहरण दृष्टव्य है—

छन्द	वर्ग	वर्ण	स्वर
अष्ट चक्र अरुएक	८	४	१=ह
षष्ठ अरुपंच एक कहि	६	५	१=म
पच एक अरु एक	५	१	१=त
षट पचरु एकह वही	६	५	१=म
उभय् एक अरु पंच	२	१	५=कु
एक एकह एकह पुनि	१	१	१=अ
पंच एक अरु तीन	५	१	३=ति
तीन एक ही युगल सुनि	३	१	२=चा
पुनि अष्ट चक्र अरु एक गनि	८	४	१=ह
पंच एक एकहु गहे	५	१	१=त
अष्ट चक्र सप्त अकर परखि	८	४	७=हे
यो प्रवीन सागर कहे।[2]			

इस छन्द से उत्तर निकला—हम तमकु अति चाहत हैं।

इसी तरह केशव ने अन्तर्लापिका का यह लक्षण दियाहै —जहाँ प्रश्न में ही उसका उत्तर निहित हो वहाँ अन्तर्लापिका अलकार होता है।[3] केशव ने अन्तर्लापिका का सुन्दर उदाहरण दिया है।[4] प्रश्नोत्तर चित्र के अन्य भेदों में गुप्तोत्तर, एकानेकोत्तर, व्यस्तसमस्तोत्तर, व्यग्तगतागतोत्तर, शासनोत्तर, नागपाशोत्तर, कमलबधोत्तर, शृ खलाबधोत्तर आदि का विवेचन भी विभिन्न आचार्यों ने किया है।

---

१. उत्तर बरन जु बाहिरै बहिर्लापिका होय। —कविप्रिया; १६-४३

२. प्रवीण सागर; ६१-७

३. अन्तह अन्तर्लापिका यह जानै सब कोय। —कविप्रिया; १६-४३

४. कौन जाति सीता सती, दई कौन कह तात।
कौन ग्रंथ बरनी हरी, रामायण अवदात॥ —वही; १६-४५

(७) भाषाचित्र

जहां सुनने और देखने में आनन्द प्राप्त होता है वहाँ ईश्वर कवि भाषा-चित्र मानते हैं।[1] उन्होंने इसके ६ भेद—देववाणी, नागवाणी, प्रेतवाणी, नरवाणी; यवनवाणी, और राक्षसवाणी किये हैं। इसके अतिरिक्त तीन, चार, पांच और छः भाषाओं के मिश्रित रूपों में भी भाषाचित्र मान्य किये हैं। इस तरह रीतिकोत्तर अलंकारों में भाषासमक का अन्तर्भाव इसमें किया जा सकता है।

(८) बंधचित्र

रीतिकाल मे यदि सबसे अधिक विस्तार प्राप्त हुआ है तो बंधचित्र को। एक हाथ में लेखनी और दूसरे हाथ में तूलिका लेकर कवि कलाकार के रूप में दृश्य और श्रव्य काव्य का सृजन करता था। बंध-चित्रों को हम कई उपवर्गों में बांट सकते हैं—

(१) दैवीबंध—	वासुदेव, गणपति, परमेष्ठी, पिनाकी, हनुमान शारदा आदि।
(२) शस्त्रबंध—	खड्गबंध, धनुषबंध, त्रिशूलबंध, चक्रबंध, गदा-बंध, नागपाशबंध आदि।
(३) वनवैभवबंध—	पर्वत, कदली, कमल, चन्द्र, नारिकेल चतुर्गुच्छ-गृहलता आदि।
(४) पशुबंध—	गज, केहरी, अश्व, कामधेनु, शतधेनु आदि
(५) ऐश्वर्यबंध—	हार, छत्र, चामर, मुरज, ध्वजा, कंकण, घड़ी, चौपड़, मुकुट, हौज आदि।
(६) वाद्ययंत्रबंध—	डमरू, वीणा, सितार आदि।
(७) पक्षी बंध—	मयूर, गरुड, मराल, सारिका आदि
(८) कीटबंध—	अहिराज, नागशिशु, नवफणनाग, अष्टनाग-शिशु आदि।
(९) लोकचित्र—	सरोता, चटाई, हल की कूंडी, चौकी आदि।
(१०) अमूर्तचित्र—	सर्वतोमुख, मंत्रीगति, अश्वगति, गोमूत्रिका, स्वस्तिक, त्रिपदी, अर्धगुप्त, चरणगुप्त आदि।

---

१. चित्रचमत्कृत कौमुदी; २-१

यहाँ कुछ बहुप्रचलित एवं प्रसिद्ध बंध चित्रों का विवेचन अप्रासगिक नहीं होगा।[1]

काशिराज ने खड्गबंध का यह लक्षण दिया है—इसमें चारों चरण के आदि अन्त में और तृतीय चरण के मध्य मे; चतुर्थ चरण का पाचवाँ, बारहवाँ तथा उन्नीसवाँ अक्षर एक ही होना चाहिए।[2] इसके पढने की रीति यह है कि पहले कील और फिर कब्जा पढ़ना चाहिए। कील, खड्ग की नोक और घुंडी में एक ही वर्ण होना चाहिए।[3] रीतिकाल में चक्रबंध भी बहुत प्रचलित रहा है। रूपसाहि ने इसका लक्षण दिया है—मध्य वर्ण को लेकर सारे वर्णो को पढने से चक्रबध होता है।[4]

पर्वतबध का लक्षण काशिराज ने यह दिया है—शिखर की मध्य पंक्ति को गतागत रीति से पढकर फिर शिखर से ही सीधी रीति मे पढने पर पर्वतबंध बनता है।[5] कपाटबंध के उदाहरण भी कई आचार्यो ने दिये हैं। रूपसाहि ने कपाटबंध का यह लक्षण दिया है—पहले प्रथम पट के वर्ण पढ़े जावे फिर द्वितीय पट के वर्णो को विपरीत पढ़ा जावे तो कपाट-बंध होता है।[6] भिखारीदास द्वारा प्रणीत पर्वतबंध एवं कपाट बंध दर्शनीय है।[7] मुष्टिका-बंध का काशिराज ने यह लक्षण दिया है—कनकी उंगली के पोरवा, मध्य एव नख के अक्षर और इसी क्रम से सभी उंगलियों के अक्षर पढ़ने के बाद शेष अक्षर हथेली के मध्य में पढ़िये और अन्त का अक्षर कनिष्ठा के मध्य में पढिये। इस प्रकार बनने वाले चित्र को मुष्टिका बंध कहते हैं।[8] प्रवीण सागर में भी मुष्टिका बंध दिया गया है।[9]

---

१. कुछ महत्त्वपूर्ण बंधचित्रों के चित्र परिशिष्ट (१) में दिए गए है।

२. आदि अन्त्य चारों चरण, तृतीय चरण के बीच।
 बारह पाँच उनीसवाँ, अन्त्य चरण में सीच॥ —चित्र चन्द्रिका; ६-५७

३. देखिये परिशिष्ट—१ चित्र क्र० २०

४. मध्य बरन लै बरन सब बाचहुँ चक्र सुबंध। —रूप विलास; १३-२६

५. मध्य पंक्ति पढ़ सिखर सों, सुलटी उलटी मित्र।
 सूधे पढ़ पुनि सिखर तें, पर्वतबंध विचित्र॥ —चित्र चन्द्रिका, ६-२५

६. प्रथम अरर के बरन कहि सुद्ध दुतिय विपरीत। —रूप विलास; १३-२१

७. देखिए परिशिष्ट—१ चित्र क्र० ६ एवं ७

८. कन अंगुली घड़ी मध्य नख, मध्य रु धाई बीच।
 शेष हथेली में पढ़ो. मुष्टिबंध सो सांच॥ —चित्र चन्द्रिका; ६-६

९. देखिए परिशिष्ट—१ चित्र क्र० १३

कामधेनु एवं शतधेनु के उदाहरण रीतिकालीन काव्य में मिलते है। चिन्तामणि ने कामधेनु का यह लक्षण दिया है—जहाँ एक छन्द में अनेक छन्दो की उत्पत्ति हो वहाँ कामधेनु चित्र होता है।[1] शतधेनु का लक्षण काशिराज ने दिया है—जिस छन्द मे सौ छन्द प्रकट हो उसे शतधेनु कहते है। यह चित्रबंध अनेक अर्थो का देने वाला होता है।[2] मुरज-बंध का काशिराज ने लक्षण दिया है—इस बंध में जो वर्ण आदि में आते है वे ही अन्त में आते हैं और सम्पूर्ण छन्द में एक-एक अक्षर दो-दो वार आता है। इसके अक्षर इस प्रकार पढ़े जाते हैं जिस प्रकार मृदग की रस्सी खिचती है।[3] भिखारीदास के द्वारा दिया गया यह बंध दर्शनीय है।[4]

शतरंज के नियमानुसार डेढ़-डेढ़ घर के अक्षरों से मंत्री गतिवध और ढ़ाई-ढ़ाढ घरो के अक्षरो से अश्वगतिबंध होता है।[5] गोमूत्रिका के भी अत्यधिक उदाहरण मिलते है। काशिराज ने इसका लक्षण यह दिया है—दो सीधी पक्तियाँ लिखकर उन्हें तिर्यक रीति से पढ़ने पर यदि सीधे और तिर्यक शब्द समान हों तो वहाँ गोमूत्रिका बंध होता है।[6] गोमूत्रिका का एक सरस उदाहरण दयाराम सतसई में दिया गया है।[7]

चित्रालंकार महत्व एवं मूल्यांकन

चित्रालकार को विद्वानों ने चमत्कृति-मूलक अलंकार माना है। आत्मा की चमत्कृति पूर्ण स्थिति का नाम आनन्दानुभूति है। जैसे संगीत में तानों, खट्को और मुरकियों का प्रयोग चमत्कार के लिए हुआ है, वैसे ही वर्ण योजना, शब्द गुम्फन, वाक्यविन्यास आदि मे

---

१. एक छन्द में छन्द वहु, काम धेनु है सोइ।
—कविकुल कल्पतरु; २-३१

२, शतछन्द प्रगटत यत्र, शतधेनु कहियत तत्र।
वहुअरथ दायिक चित्र, कहि काशिराज पवित्र॥ —चित्रचन्द्रिका; ७-४८

३. आदि अन्त मे इक वरन, जुग जुग वरन जु एक।
छाली क्रम ते वांचिये, मुरजबंध कहि टेक॥ —चित्रचन्द्रिका; ६-५२

४. देखिये परिशिष्ट-१ चित्र क्र० १६

५. रूप विलास; १३-१८ एवं १६

६. सूधी पंक्ति जुगल लिखो, तिर्यक वांचि सुजान।
सूधे तिर्यक शब्द इक, गोमूत्रिका प्रमान॥ —चित्रचन्द्रिका; ६-१६

७. देखिये परिशिष्ट-१ चित्र क्र० १७

चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति चित्रालंकार के मूल में है। वस्तुतः साहित्य में दृश्य और श्रव्य-दोनों विधाओं की एकत्र स्थिति चित्रालंकार में होती है। चित्रालंकार का क्षेत्र अत्यन्त विशाल है एवं वह प्रतिपल गतिमान भी है अतः इस प्रबन्ध के आकार में उसका समग्र संकलन कदापि संभव नहीं है।

चित्रालंकार रस का उपकारक है या नहीं—यह प्रश्न अत्यधिक विवादास्पद रहा है। संस्कृत एवं हिन्दी के कई आचार्यों ने इसकी दिल खोलकर निंदा की है। मम्मट ने चित्र को कष्टकाव्य कहकर इसके प्रति उपेक्षाभाव व्यक्त किया है।[1] विश्वनाथ ने इसे काव्य-प्रपंच की संज्ञा दी।[2] रीतिकालीन आचार्यों में चिन्तामणि[3], कुलपति[4], देव[5], रसरूप[6] आदि ने चित्रालंकार के अलंकारत्व का निषेध किया है।

चित्र में अलंकार के सभी तत्त्व तथा चमत्कार, अलंकृतिकार की आत्मा का उल्लास, रस के सम्बन्ध, मानसिक चित्रों की स्पष्टता, भाषागत सजीवता, शब्दमाधुर्य आदि रहते हैं अतः इसे अलंकार मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। हाँ, सम्प्रदायगत दुराग्रह की बात अलग है।

चित्र पर और आक्षेप और लगाया जाता है कि यदि इसे अलंकार मान भी लिया जाय तो शब्दालंकार में कैसे स्थान दिया जाय क्योंकि शब्दालंकार में चमत्कार शब्दाश्रित होता है जब कि चित्रालंकार में लिप्याश्रित होता है। इस आक्षेप का उत्तर आचार्य रुय्यक ने दिया —लिपि के अक्षर को श्रोत्रसमवायी शब्द की भाँति सामान्यजन शब्द ही समझते है।

---

१. कष्टकाव्यमेतदिति दिङ् मात्र प्रदर्श्यते। —काव्यप्रकाश; ९-८५ (वृत्ति)

२. काव्यान्तर्गड्डुभूततया तु नेह प्रपंच्यते। —साहित्य दर्पण; १०-१३ (वृत्ति)

३. सब्दचित्र ए सबै, अधम करित्त पहिचानि।

—कविकुल कल्पतरु; २-३६

४. जमक चित्र और स्लेष में रस को नहिं हुलास।

—रस रहस्य; ७-४४

५. मृतक काव्य बिनु अर्थ को, कठिन अर्थ के प्रेत।

—शब्द रसायन; पृ० ९०

६. भ्रष्टकाव्य याको कहत हैं: पण्डित सुमति नेवास।

—तुलसीभूषण: दोहा ४८

शब्द की लिपिवर्ण के साथ इस ऐकात्मप्रतीति को लेकर औपचारिक रूप से चित्रालंकार को शब्दालकार मानना चाहिये ।

अलकार का धर्म काव्य की शोभा वढ़ाना और रस का उपकार करना है, किन्तु चित्र न तो काव्य शोभा का वर्धक है और न रस का उपकारक । यह तो एक प्रकार की चातुर्यपूर्ण लेखनकला या 'लिखने की चतुराई' है। इतना सब होते हुए भी शब्दालकारो मे इसका विवेचन सबसे अधिक हुआ है । यहाँ तक की रीतिकालीन आचार्यों ने इस शब्दालकार का जितना स्वतन्त्र चिन्तन किया है उतना किसी भी अन्य अलंकार का नही । अतः चाहे यह रसोपकारक न हो पर कवियो एवं पाठको को आनन्दित अवश्य करता है । कवि बुद्धिबल एव चातुर्य का प्रदर्शन करके तथा पाठक उसके गूढ रहस्य को जानकर मत्रमुग्ध हो जाते है । यही चित्रालकार के आकर्षण का कारण है ।

सस्कृत महाकाव्यो मे तो किसी एक सर्ग में चित्रालंकार के समावेश की एक प्रणाली ही बन गई थी । उपमा, अर्थगौरव और पदलालित्य के सम्राट कवि माघ ने अपने शिशुपाल वध मे चित्रालंकार के कई भेदो—सर्वतोभद्र[२], गोमूत्रिका, गतागत आदि का प्रयोग किया है । किरातार्जुनीय मे महाकवि भारवि ने भी एकाक्षर, सर्वतोभद्र आदि को स्थान दिया है । कृष्णमूर्ति कवि ने कंकण रामायण में पूरी रामकथा का निर्वाह बड़े ही सुचारू रूप से किया है । उन्होने जो पद्य दिया है उससे गृहमुक्त-पद्धति के अनुलोम पाठ से वत्तीस पद्य वनते हैं तथा विलोमपाठ द्वारा पूर्वोक्त क्रम से वत्तीस पद्य और वन जाते है । इन चौसठ पद्यो मे क्रमशः छः काण्डो का विभाजन है जिनमें रामायण की कथा संगृहीत है । 'विश्व साहित्य में ऐसी अपूर्व रचना की महत्ता सदा स्मरणीय है ।[३]' काव्य निर्णय मे भी कंकण बंध का एक उदाहरण दिया गया है[४], इसी तरह—प्रवीणसागर, चित्रचन्द्रिका, चित्रचमत्कृत कौमुदी

---

१. यद्यपि लिप्यक्षराणां खड्गादिसन्निवेश विशिष्टत्वं तथापि श्रोत्राकाश समवेतवर्णात्मकशब्दोभेदेन तेषां लोके प्रतीतेर्वाच्चिशब्दालंकारोऽयम् ।
—अलंकार सर्वस्व; पृ० ३०

२. एकारनानारकास कायसाददसायक ।
रसाहवावाहसार नादवाददवादना ।। —शिशुपालवध; १९-२९

३. संस्कृत साहित्य में शब्दालंकार; पृ० ३७६

४. देखिए परिशिष्ट-१ चित्र क्र० ३

आदि रीतिकालीन ग्रंथ तो चित्रालकार के अनुपम भण्डार है जिनमें चित्रालंकार के विकास ने चरम सीमा स्पर्श की है । इस प्रवन्ध मे यथा स्थान इनका विवेचन किया जायेगा ।

अतः हम कह सकते है कि चाहे काव्यशास्त्रीय दृष्टि से चित्रालंकार अधम काव्य का द्योतक है तथापि इसकी विविधता सागर तरंगो की भाँति है जो उषा-सन्ध्या की सप्त-वर्णी चूनर को सहस्त्र-सहस्त्र रगों में भिगोकर तट पर खड़े चन्द्र, सूर्य तथा तारकगण को आश्चर्य चकित कर देती है । बौद्धिक कौशल के लिए लिखे गए रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय ग्रंथ इस युग की विशिष्ट देन है ।

सारांश

'चित्र' शब्द के कई अर्थ प्रचलित हैं । चित्रालंकार का शब्दालंकार के रूप में सर्व-प्रथम विवेचन आचार्य रुद्रट ने किया किन्तु रीतिकाल में मम्मट द्वारा दिए गए लक्षण को ही अधिक मान्यता प्राप्त हुई । चित्रालंकार के नियमो का प्रतिपादन आचार्य केशव, काशि-राज आदि ने किया । इसका वर्गीकरण संस्कृत में भोज ने एवं रीतिकाल में भिखारीदास ने प्रस्तुत किया है ।

रीतिकालीन काव्यों में जिन चित्रालंकार भेदो को स्थान प्राप्त हुआ है उनके आठ वर्ग बनाये जा सकते है । ये वर्ग हैं—अक्षरचित्र, वर्णचित्र, स्वरचित्र, स्थानचित्र, गतिचित्र, प्रश्नोत्तरचित्र, भाषाचित्र और बंधचित्र । अक्षरचित्र में एकाक्षर, द्वयक्षर, त्र्यक्षर, चतुरक्षर आदि; स्वरचित्र में नियमित वर्ण वर्णलुप्त, वर्णपरिवर्तन आदि; स्वरचित्र मे अमात्रिक, सर्व-गुरु, सर्वलघु, लघुमात्रिक आदि; स्थानचित्र में अजिह्व, तालव्य, आदि; गतिचित्र मे समस्त व्यस्तगतागत, व्यस्तगतागत आदि; प्रश्नोत्तर में गुप्तोत्तर, एकानेकोत्तर, व्यस्तसमस्तोत्तर, शासनोत्तर, नागपाशोत्तर आदि, भाषाचित्र मे देववाणी, नागवाणी, प्रेतवाणी आदि का सर्वाधिक विवेचन हुआ है ।

बंधचित्र को १० उपवर्गो में बाँटा गया है। ये उपवर्ग है—दैवीबंध, शस्त्रबंध, वन-वैभव बंध, पशुबंध, ऐश्वर्यबंध, वाद्ययंत्र बंध, पक्षीबंध, कीटबंध, लोकचित्र और अमूर्तचित्र । इन बंध-चित्रो मे भी खड्गबंध, चक्रबंध, पर्वतबंध, कपाटबंध, मुष्टिकाबंध, कामधेनु, शतधेनु, मुरजबंध, मंत्री गतिबन्ध और अश्व गतिबंध आदि को विशेष सुरुचिसम्पन्नता से अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है ।

चित्रालकार चमत्कृतिमूलक शब्दालंकार है जिसके मूल मे दृश्य और श्रव्य दोनों विधाओं का संगम होता है । चित्रालंकार एक महासागर के समान है जिसके अतल का पता

अकल्पनीय है। चित्रालंकार के अलंकारत्व पर कई आक्षेप लगाये जाते है। इसे अधम काव्य कष्ट काव्य, लिखने की चतुराई आदि शब्दों से विभूषित किया जाता रहा है किन्तु चित्रालंकार कवि और पाठकों के आकर्षण का मुख्य केन्द्र रहा है। सस्कृत एवं रीतिकालीन काव्यों में इस शब्दालंकार को सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। इसके आलोचक भी इसका विवेचन रस लेकर करते हैं।

(च) पुनरुक्तवदाभास

श्रोताओं को पहले भ्रम में डालकर वाद में उसकी निवृत्ति करने से एक प्रकार का चमत्कार उत्पन्न होता है। इस प्रवृत्ति से ही पुनरुक्तवदाभास का जन्म होता है। इस अलंकार में दो पर्यायवाची शब्दों का इस तरह प्रयोग होता है कि पहले तो पाठक या श्रोत भ्रमवश उन्हें समानार्थी समझ लेता है, किन्तु जब उसे उनके भिन्न-भिन्न अर्थो का ज्ञान होता है तब वह चमत्कृत हुए विना नही रहता। इस दृष्टि से इस शब्द की व्युत्पत्ति 'पुनरुक्तवद्-आभासो-ज्ञानम् इति पुनरुक्तवदाभास' की जा सकती है।

कुछ आचार्य इसे शब्दालंकार नहीं मानते क्योंकि इस अलंकार मे शब्द की आवृत्ति आकार भिन्न होने के कारण नहीं होता अपितु अर्थ की आवृत्ति का आभास होता है जो वाद में स्थिर नहीं रहता कित्तु पौनरुक्त्य अर्थ का धर्म नही हो सकता, आमुख में तुल्यार्थ का होना शब्द का धर्म है अतः शब्दाश्रित होने के कारण इसे शब्दालंकार माना जा सकता है।[1] वैसे संस्कृत में इसे शब्दालंकार, अर्थालंकार एवं उभयालंकार मानने की परम्पराएं रही है। रीतिकालीन आचार्य कुलपति मिश्र[2] इसे ने शब्दालंकार ही माना है। अधिकांश आचार्यों ने इसके प्रति उपेक्षा भाव ही वताया है।

लक्षण

उद्भट ने पुनरुक्तवदाभास का सर्वप्रथम उल्लेख किया एवं अपने शब्दालंकार-विवेचन में इसे प्रथम स्थान दिया। उनके अनुसार जहाँ पुनरुक्तवत् आभास हो अर्थात् पुनरुक्ति तो न हो पर ऐसा आभासित हो पर वहाँ पुनरूक्तवदाभास होता है।[3] संस्कृत मे प्रायः सभी आचार्यों ने उद्भट का ही अनुकरण किया।

---

१. आमुख तुल्यार्थत्वस्य च शब्दधर्मत्वेन शब्दाश्रयत्वात् शब्दालंकारोऽयम्।
—अलंकार रत्नाकर सूत्र-१ (वृत्ति)

२. रस रहस्य; ७-४२

३. पुनरुक्ताभासमभिन्नवस्त्विवोभ्दासि भिन्न रूपपदम्।
—काव्यालंकारसारसंग्रह; १-३

रीतिकालीन आचार्यों में चिन्तामणि ने सर्वप्रथम पुनरुक्तवदाभास का लक्षण दिया— भिन्न् पदो मे जहाँ एक-सा अर्थ आभासित हो उसे पुनरुक्तवदाभास कहते हैं।[1] कुलपति ने इसका दूसरा लक्षण दिया है। उनके अनुसार—जहाँ पद के द्वारा पुनरूक्ति-सी उद्भासित हो पर वस्तुतः वह पुनरुक्ति न हो वहाँ पुनरुक्तवदाभास होता है। इसके दो भेद है शब्दनिष्ठ, अर्थनिष्ठ।[2] इनका अनुकरण भूपण, खण्डनकवि, भिखारीदास, ग्वाल आदि आचार्यों ने किया है। भिखारीदास ने पुनरूक्तवदाभास का यह सरस उदाहरण दिया है—

अलीभंवर गुंजन लगे, होन लगे दलपात।
जंह तंह फूले वृक्ष तरु, प्रिय प्रियतम कित जात॥[3]

वर्गीकरण

आचार्य मम्मट ने इसके शब्दगत और अर्थगत दो भेद किये हैं।[4] शब्दगत के पुनः सभंग और अभंग दो भेद माने हैं। मम्मट के इस वर्गीकरण को संस्कृत और रीतिकालीन आचार्यों ने माना है। आचार्य कुलपति ने पुनरुक्तवदाभास के शब्दगत और अर्थगत[5] दो भेदों का उल्लेख किया है पर उदाहरण एक ही दिया है।

पुनरुक्तवदाभास और अन्य अलंकार

पुनरुक्तवदाभास, यमक और अनुप्रास मे साम्य दिखाई देता है किन्तु इनमें अन्तर है। अनुप्रास में वर्ण या शब्द आवृत्ति होती है पर पुनरूक्तवदाभास मे पर्याय-साम्य होता है। इसी तरह यमक (शब्दावृत्तिमूलक) और पुनरूक्तवदाभास में अन्तर है। यमक में आवृत्त शब्द निरर्थक भी हो सकते है पर पुनरुक्तवदाभास मे उनकी सार्थकता होना अनिवार्य है।

पुनरुक्तवदाभास-महत्त्व एवं मूल्यांकन

पुनरुक्ति मन, रसना और मस्तिष्क को सरलता एव प्रसन्नता प्रदान करती है।

---

१. भिन्नपदम में एक सो जहां अर्थ आभास।
चिन्तामनि कवि कहत सो पुनरूक्तवदाभास॥ —कविकुल कल्पतरु; २-३४
२. भासै पद पुनरूक्ति सो, पै पुनरूक्ति न सोय।
सो पुनरुक्तवदाभास है, शब्द अर्थ ते होय॥ —रस रहस्य; ७-४२
३. काव्य निर्णय; २०-१९
४. काव्य प्रकाश; ९-८६
५. रस रहस्य; ७-४२

यद्यपि पुनरुक्ति काव्य मे दोष मानी जाती है किन्तु यदि स्वाभाविक गुणों के साथ-अर्थ-सौन्दर्य की वृद्धि करती हो तो वह अलंकार की कोटि मे आती है। पुनरुक्तवदाभास को शब्दार्थधर्म का प्रतिनिधि अलंकार माना गया है। यह एक ओर यमक एव दूसरी ओर श्लेष के धर्म का निर्वाह करता हुआ प्रतीत होता है। यह ऐसा उभयालकार है जो परम्परा से शब्दालंकार माना गया है।

सारांश

श्रोता की भूल एवं उसका सुधार इस अलंकार का मूल है। संस्कृत और रीतिकालीन आचार्यो ने पुनरुक्तवदाभास के लक्षण-विवेचन मे प्रायः उद्भट का ही अनुकरण किया मम्मट ने इसे दो भागों मे वर्गीकृत किया—शब्दगत और अर्थगत। यही वर्गीकरण अन्य आचार्यों ने मान्य किया। पुनरुक्तवदाभास, यमक तथा अनुप्रास मे बड़ा अन्तर है। यह ऐसा उभयालंकार है जिसे परम्परा से शब्दालकारों में परिगणित किया जाता रहा है।

(छ) वक्रोक्ति

वक्रोक्ति का अर्थ है वक्र-टेढी उक्ति। संस्कृत मे वक्रोक्ति का प्रयोग दो अर्थो मे हुआ—सामान्य अर्थ मे और विशेष अर्थ मे। भामह ने वक्रोक्ति को सभी अलंकारो का मूल तत्त्व माना है किन्तु वहाँ उनका तात्पर्य वक्रउक्ति से ही है।[1] दण्डी ने सारे वाङ्मय को दो भागों मे विभाजित किया है—स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति।[2] यहाँ भी वक्रोक्ति का अलंकारत्व प्रतिपादित न होकर केवल उक्तिगत वैशिष्ट्य को ही महत्त्व प्राप्त हुआ है। कुन्तक ने तो वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा[3] ही मान कर वक्रोक्ति-सम्प्रदाय की स्थापना की।

संस्कृत शब्दालंकार के रूप में वक्रोक्ति का सर्वप्रथम विवेचन आचार्य रुद्रट ने किया। मम्मट ने भी अपने 'अन्वयव्यतिरेक सिद्धान्त[4]' के आधार पर इसे शब्दालकार

---

१. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥
—काव्यालंकार (भामह); २-६५

२. भिन्नं द्विधा स्वभावोक्ति वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्। —काव्यादर्श; २-३६३

३. यत्रालंकार वर्गोऽसो सर्वेऽप्यन्तर्भविष्यति। —वक्रोक्ति जीवित; १-२०

४. काव्यप्रकाश; १०-१४१ (वृत्ति)

माना । रुय्यक ने अपने आश्रयाश्रयिभाव के आधार पर वक्रोक्ति को अर्थालंकार माना है । संस्कृत एवं हिन्दी में ये दोनों ही धारणाएँ चलती रहीं । रीतिकालीन आचार्यों में केशव, जसवन्तसिंह, देव आदि ने इसे अर्थालंकार माना है । चिन्तामणि, कुलपति, भिखारीदास, रसरूप आदि ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार स्वीकृत किया है । रीतिकालोत्तर आचार्यों में भगवानदीन, अर्जुनदास केडिया आदि ने इसे उभयालंकार माना है ।

लक्षण

आचार्य मम्मट ने अपना लक्षण यह दिया है—जहाँ वक्ता के किसी वाक्य का श्रोता श्लेपवल अथवा काकुबल से अन्यार्थ ग्रहण करता है, वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है ।[2] किन्तु यह लक्षण अपूर्ण है क्योंकि इसमे उत्तर देने का उल्लेख नहीं है । वाग्भट (प्रथम) ने अपने लक्षण में इस कमी को पूरा किया ।[3]

रीतिकालीन आचार्यों में अधिकांश ने मम्मट का ही अनुकरण किया है अतः उनके लक्षण के दोष भी स्थानान्तरित हो गए है । वक्रोक्ति के लक्षण आचार्य चिन्तामणि[4], पद्मुनदास[5] आदि ने दिए हैं पर वे सब अपूर्ण है । आचार्य भिखारीदास ने शुद्ध एवं निर्दोष लक्षण दिया है—जहाँ श्लेषबल और काकुबल से पुनः उत्तर देने वाला अन्यार्थ ग्रहण करता है, वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है ।[6]

वर्गीकरण

रुद्रट ने वक्रोक्ति के दो भेद किये हैं—श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति । जहाँ

---

१. अलंकार सर्वस्व; (विवृत्ति) पृ० २५७

२. यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते ।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥ —काव्य प्रकाश; ६-७८

३. प्रस्तुतादपरं वाच्यमुपादायोत्तरप्रदः ।
भंग श्लेषमुखेनाह यत्र वक्रोक्तिरेव सा ॥ —वाग्भटालंकार; ४-१४

४. और भांति को वचन जो और लगावै कोइ ।
कै सलेष कै काक सो, वक्रोक्ति है सोइ ॥ —कविकुल कल्पतरु; २-५

५. और बचन में बूझिकै करै औरई उक्ति । —काव्यमंजरी; १०-३८

६. द्वयर्थ काकु तें अर्थ को, फेरि लगावै तर्क ।
वक्रउक्ति तासों कहैं, जे बुधि अम्बुज अर्क ॥ —काव्य निर्णय; २०-१४

वक्ता के एक विशिष्ट अभिप्राय से कहे हुए वचन को सुनकर उत्तरदाता जानबूझ कर उस वचन के पदों को भंग करके अन्य रूप में उत्तर देता है वहाँ श्लेष वक्रोक्ति होती है।[१] इसी प्रकार जहाँ अत्यन्त स्पष्ट रूप से किये गए विशेष प्रकार के स्वर अर्थात् उच्चारण से अन्य अर्थ की प्रतीति होती है वहाँ काकु वक्रोक्ति अलंकार होता है।[२] मम्मट ने इन्हीं भेदों को मानकर श्लेष वक्रोक्ति के सभंगपद और अभंगपद दो उपभेद किये।

रीतिकालीन आचार्यों ने रुद्रट और मम्मट का ही अनुकरण किया है। आचार्य चिन्तामणि[३], भिखारीदास[४] आदि ने इन्ही दो भेदो का उल्लेख किया। भिखारीदास द्वारा दिये गए इन दोनो भेदो के उदाहरण दर्शनीय है।[५] रसरूप ने तीन भेद माने हैं—श्लेष, काकु और शुद्ध।[६]

संस्कृत रीतिकालीन आचार्यों ने श्लेप वक्रोक्ति का ही वर्गीकरण किया है, काकु का नहीं। काकु वक्रोक्ति के अलंकारत्व पर आपत्ति करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने दो बाते कही है—प्रथम, काकु पाठ धर्म है। किसी भी अलंकार के लिए शब्द और अर्थ का होना आवश्यक है। काकु न शब्द है न अर्थ वरन् एक प्रकार का कंठध्वनि है। द्वितीय, काकु को अर्थान्तर की प्रतीति होने के कारण गुणीभूत व्यंग्य का ही एक भेद मानना चाहिये।[७]

विचार करने पर प्रतीत होता है कि काकु वक्रोक्ति में काकु के द्वारा ही चमत्कार आता है अत. चमत्कार इसके मूल में होने के कारण यह अलंकार है। दूसरे, गुणीभूत व्यंग्य मे वक्ता स्वयं अपने वक्तव्य का भिन्नार्थ करता है किन्तु काकु मे अन्यार्थ दूसरे व्यक्ति के द्वारा किया जाता है।

---

१. काव्यालंकार (रुद्रट); २-१४
२. वही; २-१६
३. कविकुल कल्पतरु; २-५
४. काव्यनिर्णय; १९-१४
५. (क) गहिये न कर होत लाखन का ज्यादा लाल।
   चाहिये तो आपनो पदुम हमें दीजिये। —वही; २०-१९
   (ख) झूठी सवै तुम सांचे लला यह सूठी तिहारहु पाग की चोठी।
   —वही; २०-१७
६. तुलसीभूषण दोहा; २६
७. काव्यानुशासन; पृ० ३३३

शुद्ध वक्रोक्ति का लक्षण न देकर आचार्य रसरूप ने रामचरित मानस से यह उदाहरण दिया है—

अब कहु कुसल बालि कह अहई ।
बिहसि बचन तब अङ्गद कहई ॥
दिन दस गये बालि पहँ जाई ।
पूछेउ कुसल सखा उर लाई ॥[१]

इस उदाहरण से शुद्ध वक्रोक्ति की परिभाषा की जा सकती है—जहाँ कुछ हेतु के आधार पर स्वाभाविक रूप से कोई बात युक्ति पूर्वक कही जाती है, वहाँ शुद्ध वक्रोक्ति अलंकार होता है ।

वक्रोक्ति महत्त्व एवं मूल्यांकन

संस्कृत-काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति का महत्त्व रहा है, किन्तु यह सामान्य अलंकार के रूप में ही । भामह ने वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का मूल माना है । कुन्तक ने इसे काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया । इसको अलंकार-सामान्य से निकालकर शब्दालंकार के रूप में मुख्यता देने वाले दो आचार्य रुद्रट और मम्मट ही इसका विवेचन कर सके । अन्य आचार्य दोलायमान स्थिति में रहने के कारण विशेष विवेचन करने में असमर्थ रहे । फलतः वक्रोक्ति का शब्दालंकार के रूप में कम से कम प्रचार हुआ । रीतिकालीन आचार्यों की भी यही धारणा रही है । शब्दालंकार के रूप में कम ही आचार्यों ने इसका विवेचन किया ।

सारांश

संस्कृत में वक्रोक्ति का प्रयोग दो अर्थों में हुआ—सामान्य अर्थ में और विशेष अर्थ में । सामान्य अर्थ में इसे काव्य की आत्मा माना गया है और विशेष अर्थ में अलंकार मान्य किया गया । अलंकार में भी इसे शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार मानने वाले आचार्यों के वर्ग हुए हैं । शब्दालंकार के रूप में सर्वप्रथम आचार्य रुद्रट ने इसका विवेचन किया । मम्मट ने रुद्रट का ही अनुकरण किया । रीतिकालीन आचार्यों में चिन्तामणि, भिखारीदास, रसरूप आदि ने वक्रोक्ति का शब्दालंकार के रूप में विवेचन किया है । वक्रोक्ति का शुद्ध लक्षण भिखारीदास का माना जाता है । इसका वर्गीकरण रुद्रट ने प्रस्तुत किया, जिसमें श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति—ये दो भेद माने गए हैं । श्लेष वक्रोक्ति

---

१. तुलसी भूषण; छन्द ३६

के दो भेद—सभंग और अभंग मम्मट ने स्वीकार किए है। काकु वक्रोक्ति के वर्गीकरण के विषय में आचार्यो ने उदासीनता दिखाई है। रसरूप ने वक्रोक्ति का तीसरा भेद शुद्ध वक्रोक्ति माना है। काकु वक्रोक्ति के अलंकारत्व पर हेमचन्द्र ने जो आक्षेप किये वे सभी औचित्यपूर्ण नही है। शब्दालंकार के रूप में वक्रोक्ति का प्रचार-प्रसार कम हुआ है।

(२) अन्य शब्दालंकार

शब्दालंकार-विवेचन की सुदीर्घ-परम्परा में रीतिकालीन शब्दालंकारों के पश्चात् भी कुछ ऐसे शब्दालकारो के नाम लिये जा सकते है जिनका औचित्य विवादास्पद है या जिनका अन्तर्भाव अन्य शब्दालंकारो या अर्थालकारो में हो जाता है, किन्तु कुछ रीतिकालीन आचार्यो ने उन्हे स्वतन्त्र शब्दालकार माना है, अतः इस प्रबन्ध में उनका विश्लेषण आवश्यक है।

अग्रिम पृष्ठों में हम अन्य शब्दालंकारों का विवेचन करेंगे।

मुद्रा

मुद्रा का शब्दालंकार के रूप में सर्वप्रथम विवेचन अग्निपुराण में मिलता है। उसका लक्षण है—किसी विशेष अभिप्राय से कवि की बुद्धि-शक्ति को प्रकट करने वाली तथा पाठकों का मनोरजन करने वाली उक्ति को मुद्रा कहते हैं। इसे शय्या भी कहते है।[1]

भोज ने भी इसे शब्दालंकार मानते हुए ऐसे ही लक्षण को स्वीकार किया है।[2] इन लक्षणों के अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्ति इस अलंकार का साम्य है और साभिप्राय शब्द योजना साधन है। अतः उक्ति आश्रित होने के कारण मुद्रा को शब्दालकार नहीं माना जा सकता।

रीतिकालीन आचार्यो में मुद्रा अलंकार का शब्दालंकार के रूप मे विवेचन केवल भिखारीदास ने किया है। उन्होने इसका लक्षण दिया है—छन्द का प्रकृत अर्थ तो और हो, किन्तु शब्दों के छलपूर्ण प्रयोगो से उसमें कोई नाम या गण (छन्द) भी झलकता हो,

---

१. अभिप्राय विशेषेण कविशक्ति विवृण्वती।
मुत्प्रदायिनीति सा मुद्रा सैव शय्याऽपि नो मते॥ —अग्निपुराण; ३४२-२६

२. साभिप्रायस्य वाक्ये यद्वचसो विनिवेशनम्।
मुद्रां तां मुत्प्रदायित्वात्काव्यमुद्रा विदो विदुः॥ —सरस्वती कंठाभरण; २-४०

वहाँ मुद्रा अलंकार होता है,[1] किन्तु इनके उदाहरणों में अप्पय दीक्षित का अनुकरण है, जो इसे अर्थालंकार मानते हैं।[2] अतः 'भिखारीदास ने जिस मुद्रालंकार का विवेचन किया है वह अर्थालंकार की श्रेणी में आता है, शब्दालंकार की में नहीं।'[3]

गूढ़

गूढ़ का विवेचन संस्कृत में भोज ने किया है किन्तु केवल उदाहरण ही दिये हैं। इसके छह भेदों—क्रिया गुप्त, कारक गुप्त, सम्बन्ध गूढ़, पाद गूढ़, अभिप्राय गूढ़ और वस्तु गूढ़—के उदाहरणों से यह लक्षण स्पष्ट होता है—जहाँ कोई बात कुशलता से गुप्त रखी जाती है, और पाठक या श्रोता अपने बुद्धिबल से उसी छन्द में उसका रहस्य ढूँढ़ लेता है, वहाँ गूढ़ अलकार होता है। भोज का एक उदाहरण लें—

पानीयं पातुमिच्छामि, त्वत्तः कमललोचने ।
यदि दास्यसि नेच्छामि, न दास्यसि पिबाम्यहम् ॥[4]

वस्तुगूढ के इस उदाहरण का सामान्य अर्थ इस प्रकार है—हे कमल के समान आँखों वाली ! मैं पानी पीना चाहता हूँ। यदि तू देगी तो मुझे अच्छा नहीं है और यदि नहीं देगी तो मैं जल अवश्य पीऊँगा। इस श्लोक में 'दास्यसि' शब्द का सन्धि-विच्छेद करने पर उसका गूढ़ार्थ प्रकट होता है—दास्यसि=दासी+असि। इससे दूसरी पंक्ति का गुप्त अर्थ यह होगा—यदि तू दासी है तो मुझे जल पीने की इच्छा नहीं है और यदि दासी नहीं है तो मैं पीऊँगा।

हिन्दी में इस अलंकार का विवेचन पदुमनदास ने अपनी काव्यमंजरी में किया है। उसका लक्षण यह दिया है—*जहाँ किसी अर्थ को इस प्रकार गूढ़ रखा जाता है कि मूर्ख* तो किंकर्तव्यमूढ़ हो जाते हैं और समझदार अपने बुद्धिबल से उसका रहस्य जान लेते हैं, वहाँ गूढ अलंकार होता है।[5] इसका उदाहरण उन्होंने यह दिया है—

---

१. औरे अर्थ कवित्त को सब्दौछल व्यौहारु।
झलकै नाम कि नाम गनः औरस मुद्रा चारु ॥ —काव्यनिर्णय; २०-११
२. कुवलयानन्द; श्लोक १ ६
३. हिन्दी में शब्दालंकार-विवेचन; पृ० ४६
४. सरस्वती कंठाभरण; २-३७१
५. अर्थ दुरायो होत जहँ, बूझत हूँ जे मूढ़।
भाव मेटिए बुद्धिबल, तासो कहिए गूढ।—काव्यमंजरी; १०-१६

भेद कहै जो देह को, तासो कहिय न भेद।
जदपि प्रेम परिचारिका, तदपि निवारत वेद ॥[1]

इस दोहे का सामान्य अर्थ यह होगा—'जो शरीर का भेद वताता है उससे भेद मत कहो। चाहे वह प्रेम की आराधिका ही हो पर वह (ऐसा करके) वेदाज्ञा का निवारण करती है।' इसका गूढ़ार्थ जानने के लिए 'भेद कहै' को 'भेदक है' तथा 'निवारत वेद' को 'निबा रत वेद' करना पड़ेगा, तदनन्तर यह अर्थ प्रकट होगा—जो शरीर को कष्ट पहुँचाने वाला हो, उससे अपना भेद मत कहो! चाहे वह प्रेम की आराधिका ही क्यो न हो, पर वह रति ज्ञान का वध (निवा=निवह=वध) करती है।

आचार्य भोज और पद्मनदास द्वारा विवेचित गूढ़ालंकार पर विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि यह अलंकार विरोधाभास का ही एक रूप है। अतएव इसे स्वतंत्र शब्दालंकार नही माना जा सकता।

प्रश्नोत्तर

संस्कृत में भोज[2] और केशव मित्र[3] ने प्रश्नोत्तर नामक शब्दालंकार का विवेचन किया है, किन्तु इनके लक्षणों को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये अन्तर्लापिका और वहिर्लापिका से प्रथक नहीं है जो चित्रालंकार के भेद हैं। हिन्दी में पद्मनदास ने भी प्रश्नोत्तर के अन्तर्लापिका और वहिर्लापिका नामक दो भेद किए है।[4] खण्डन कवि ने अपने लक्षण मे अन्तर्लापिका और एकानेकोत्तर का समन्वय कर दिया है।[5]

अतः यह स्पष्ट है कि प्रश्नोत्तर चित्रालंकार का ही एक भेद है। इसे प्रथक् शब्दालंकार नहीं माना जा सकता।

कूट

हिन्दी में कूट का विवेचन रीतिकालोत्तर आचार्यो ने किया। जानकीप्रसाद ने अपने काव्य सुधाकर में इसे स्वतन्त्र शब्दालकार मानते हुए अर्थ क्लिष्टता को कूट का मूल

---

१. काव्य मंजरी; १०-३०
२. सरस्वती कंठाभरण; २-१३७
३. प्रश्नोत्तरमपि द्विविधं बहिरन्तश्च। —अलंकारशेखर; पृ० २६
४. दुइ विधि को प्रश्नोत्तरा अन्तर्लापिका एक।
   वहिर्लापिका दूसरो, बूझहु सहित विवेक ॥ —काव्यमंजरी; १०-३५
५, जहाँ वात बूझै कछू, उत्तर सोई होइ।
   वातें वहु उत्तर इकै, प्रश्नोत्तर विधि दोइ ॥ भूषणदास; दोहा ४८

जीवातु बताया है।[1] उन्होंने इसके दो भेद किये हैं—शब्दकूट और अर्थकूट।[2] दोनों भेदों का लक्षण देते हुए उन्होंने लिखा है—जिसमें शब्द गुप्त रहता है वहाँ शब्दकूट और जिसमें अर्थ अगोचर होता है वहाँ अर्थकूट माना जाता है।[3] शब्द गुप्त के पुनः दो भेद किये हैं—चरणगुप्त और वर्णगुप्त।[4] किन्तु ये सब भेद-उपभेद, चित्रालंकार के अमूर्तबंधचित्र, वर्णगुप्त बन्धचित्र में तथा प्रहेलिका में समाहित हो जाते हैं।

लाला भगवानदीन ने कूट का विवेचन किया है किन्तु उसको दृष्टिकूटक के नाम से सम्बोधित किया है एवं स्वतन्त्र अलंकार न मानकर चित्रालंकार का ही एक भेद माना है।[5] हमने भी इसे पृथक् शब्दालंकार नहीं माना है।

विरोधाभास

विरोधाभास को संस्कृत-आचार्यों ने अर्थालंकार ही माना है। यद्यपि रुद्रट इसे श्लेषमूलक वर्ग का मानते हैं, तथापि अर्थश्लेष का एक भेद होने के कारण वे विरोधाभास को अर्थालंकार ही मानते हैं।[6] रीतिकालीन आचार्य भिखारीदास ने इसे शब्दालंकार मानते हुए यह लक्षण दिया है—जहाँ विरोधी शब्दों का प्रयोग हो, किन्तु पद के समस्त अर्थ में कोई विरोध न हो, वहाँ विरोधाभास अलंकार होता है।[7] इस लक्षण में भी विरोधाभास का मूल विरोधी शब्द समूह न होकर विरोधी अर्थ का आभास है, अतः यह अर्थालंकार ही सिद्ध होता है क्योंकि इसका अलंकारत्व शब्द पर नहीं, वरन् अर्थ पर आधारित है।

---

१. कूट कहत है ताहि को, जामें मति अकुलाय।
—काव्य सुधाकर; १४-५२

२. कूट होत द्वै भाँति के, शब्द कूट यक मानि।
अर्थ कूट दूजौ लखौ, बुध कविवर रसखानि॥ —वही; १४-५६

३. शब्द अलक्षित होय जहं, शब्द कूट है सोय।
अर्थ अगोचर देखिये, अर्थ कूट वह होय॥ —वही; १४-५७

४. वही; १४-५८

५. अलंकार मंजूषा; पृ० १८

६ काव्यालंकार (रुद्रट); १०-२२

७. परै विरुद्धि सब्दगन, अर्थ सकल अविरुद्ध।
कहै विरुद्धाभास तिहि, दास जिन्हें मति सुद्ध॥ —काव्यनिर्णय; २०-६

तुक

'तुक' फारसी का शब्द है। इसे संस्कृत और हिन्दी में अन्त्यानुप्रास कहते हैं। रीतिकालीन आचार्य भिखारीदास ने तुक का विवेचन पृथक् रूप से करके उसके तीन भेद माने हैं—उत्तमतुक, मध्यमतुक और अधम तुक।[1] इन तीनों के तीन-तीन भेदों का विवेचन[2] भी किया है, किन्तु अन्त्यानुप्रास एवं तुक की अन्तर-रेखा नहीं खींच सके। रीतिकालोत्तर आचार्य डॉ० रसाल ने इन दोनों का पार्थक्य प्रतिपादित करते हुए लिखा है—

तुक को अन्त्यानुप्रास का एक रूप ही मानना चाहिए। दोनों में अन्तर यही है कि अन्त्यानुप्रास का क्षेत्र तुक के क्षेत्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत एवं व्यापक है। तुक उसका एक संकीर्ण रूप या भाग मात्र है। छन्द के एक चरण के बहुत से शब्दों में अन्त्यानुप्रासकारी वर्णावृत्ति रहती है। चरण के सभी शब्दों मे अन्त्यानुप्रास व्याप्त हो सकता है एवं होता है, किन्तु तुक छन्द के चरणों के केवल अन्तिम शब्दों (दो या तीन ही) मे प्राप्त होता है। प्रत्येक चरण के जब अन्तिम शब्दों में ही आवृत्ति (वर्णावृत्ति एवं शब्दावृत्ति) होती है, तभी तुक माना जाता है, अन्यथा नहीं। छन्द के अन्तिम शब्दो मे ही वर्णावृत्ति एवं वर्णसाम्य तुक के नियमों मे अपेक्षित होता है। बस यही इसमें विशेषता है और इसी के कारण यह अन्त्यानुप्रास से पृथक् माना भी गया है।[3]

डॉ० रसाल ने तुक को चरणान्त में ही माना है, पर वह चरणांश के अन्त में भी हो सकती है। भिखारीदास ने चरणान्त तुक का ही विवेचन किया है। वस्तुत तुक और अन्त्यानुप्रास में कोई अन्तर नहीं है। गिरिधरदास[4], जगन्नाथ 'भानु'[5], भगवानदीन[6] और

---

१. काव्यनिर्णय; २२-१
२. काव्यनिर्णय; २२-२ से १७ तक
३. अलंकार पीयूष (पूर्वार्द्ध); पृ० २००
४. आदि स्वर संजुत तहाँ, व्यंजन आवृत्त होइ।
सो अन्त्यानुप्रास है; कहिय तुकान्तहि जोइ॥
—भारती भूषण; दोहा ३६८
५. व्यंजन स्वरयुत एक से जो पदान्त में होहि।
सो अन्त्यानुप्रास है; अरु तुकान्तहू ओहि॥ —काव्यप्रभाकर; पृ० ४७८
६. व्यंजन स्वरयुत एक से जो तुकान्त में होहि।
सो अन्त्यानुप्रास है; अरु तुकान्तहू ओहि॥ —अलंकार मंजूषा; पृ० १०

बिहारीलाल भट्ट[1] ने तुक और अन्त्यानुप्रास को एक ही माना है। अन्त्यानुप्रास का फारसी नाम ही तुक है। अतएव तुक को पृथक् शब्दालंकार मानने में कोई तुक नहीं है।

निष्कर्ष

उपरोक्त विवेचन से हम इस निर्णय पर पहुँचते है कि अनति प्रसिद्ध शब्दालंकार आचार्य-विशेष की अपनी धारणा-मान्यता के फलस्वरूप स्वतन्त्र-शब्दालंकार के रूप मे प्रस्फुटित हुए हैं। विश्लेपण से यह स्पप्ट हो गया है कि मुद्रा, गूढ एवं विरोधाभास अर्थालकार है, प्रश्नोत्तर एवं कूट चित्रालंकार के भेद मात्र है, एव तुक अन्त्यानुप्रास का ही फारसी नाम है। इस प्रबन्ध के अग्रिम अध्यायों में, जहाँ रीतिकालीन एव परवर्ती आचार्यो के अलकार ग्रन्थो का अवलोकन-विश्लेपण किया जावेगा, वहाँ प्रकारान्तर मे इन शब्दालंकारो का विवेचन भी होगा ही, किन्तु लेखक की दृप्टि में इन्हें पृथक् शब्दालंकारो की श्रेणी में नही रखा जा सकता।

---

१. जहं व्यंजन स्वर के सहित, एकहि सम दरसाहिं।
सो अन्त्यानुप्रास है अरु तुकान्त कह ताहि॥ —साहित्य सागर; १४-४५

सप्तम परिच्छेद

रीतिबद्ध काव्य में शब्दालंकार

सप्तम-परिच्छेद

रीतिबद्ध काव्य में शब्दालंकार

ईसा की १७ वीं शती के मध्य भाग में संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा के क्षीण अवशेष पर हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने अपने रीतिग्रन्थों के महल खड़े किये। यह एक संयोग है कि संस्कृत के अन्तिम प्रकांड आचार्य जगन्नाथ और हिन्दी के प्रथम प्रतिनिधि आचार्य चिन्तामणि समकालीन थे। केशव ने काव्य के लगभग सभी अंगों का निरूपण किया था अतः उनका रचनाकाल विक्रम सम्वत् १७०० के पचास वर्ष पूर्व होते हुए भी उन्हें ही रीतिकाल का प्रथम आचार्य माना जाता है। यह काव्यशास्त्रीय धारा दो सौ वर्षों तक अवाध गति से प्रवाहित होती रही एवं रीतिवद्ध आचार्यों ने इसके गौरव को उत्तरोत्तर वढ़ाया।

रीतिवद्ध की सामान्य विशेषताएँ

रीतिकालीन लक्षणवद्ध रीतिग्रथ, सस्कृत काव्यशास्त्र के ऋणी है। हिन्दी के आचार्यों का उद्देश्य नवीन काव्यशास्त्र का निर्माण करना नही था और न ही सस्कृत में प्रचलित विभिन्न वादों के पचड़े में पड़ना था। ये आचार्य संस्कृत काव्य शास्त्र का उल्था ही प्रस्तुत करना चाहते थे। 'इस प्रवृत्ति का प्रमुख उद्देश्य शृंगार रसपूर्ण अथवा स्तुतिपरक कवित्त-सवैया लिखकर अपने आश्रयदाताओं से सुखद-आश्रय एव पुरस्कार प्राप्त करना था और गौण उद्देश्य था उन सुकुमारवुद्धि आश्रयदाताओं, उनके कुमारो एवं पारिपदो को सरलरूप में काव्यशास्त्र सम्वन्धी शिक्षा देना।[१]' इन आचार्यो ने संस्कृत ग्रन्थो का कही सरल अनुवाद किया है, कही उसका भाव लेकर सुवोध शब्दो में उसे प्रस्तुत कर दिया है और कहीं-कही वही का वही शब्द हेर फेर से प्रयुक्त कर लिया है।

रीतिकालीन आचार्यों के दो वर्ग हो सकते हैं एक तो वे जिन्होने अलंकार-वर्गीकरण एवं प्रस्तुतिकरण की नयी प्रणाली निकाली, नये अलंकारों की उद्भावना की एवं खण्डन-मण्डन की सामान्य प्रवृत्ति का परिचय दिया। केशव ऐसे ही आचार्य थे। दूसरे वे आचार्य जो दूसरों का निर्भ्रान्त-ज्ञान अर्जित करके पाठको के लिए सहज सुवोध वनाकर प्रस्तुत करते थे। हिन्दी के अधिकांश आचार्य इसी वर्ग के थे। ये आचार्य लक्षणों की अपेक्षा उदाहरणों

---

१. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास (षष्ठ भाग); पृ० २८१

के लिए अधिक प्रसिद्ध है और कई तो ऐसे है जिन्होंने मन लगाकर रमणीय वर्णनात्मक उदाहरण बनाये है। 'अधिकांश आचार्यो ने लक्षण के लिए दोहा और सोरठा जैसे छोटे छन्दो का प्रयोग किया और उदाहरण के लिए प्रायः कवित्त-सवैया जैसे बड़े छन्दों का, किन्तु इन छन्दों का एक चरण (प्रायः अन्तिम चरण) ही उस अलंकार का उदाहरण होता था, शेष, में कवित्त की ही रमणीयता थी।[1]' इन आचार्यो ने सरस उदाहरणों का एक अक्षय कोश-सा तैयार कर दिया है। काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से तो ये महत्त्वपूर्ण है ही, तत्कालीन सामाजिक, पारिवारिक एवं गार्हस्थ्य जीवन पर भी इनके द्वारा पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इसी आधार पर कह सकते है कि 'ये रीति ग्रंथकार कवि पहले थे एवं आचार्य बाद में।[2] आचार्यत्व एव कवित्व का यह एकीकरण इन आचार्यो की असफलता का प्रमुख कारण है।

अतः हम डॉ० ओमप्रकाश के शब्दो में कह सकते है कि 'इस युग के अधिकतर साहित्यिक न तो 'आचार्य' (दूलह के शब्दों में सत्कवि) थे और न 'कवि' (दूलह के शब्दों मे करतार), उनको दोनो के गुणो से प्रभावित 'अलंकृति' कहना ही उचित है।[3]'

अव हम रीतिबद्ध शब्दालंकार विवेचक आचार्यो एव उनके ग्रन्थो का कालक्रमानुसार विवेचन प्रस्तुत करेगे।

रीतिबद्ध कवि एवं उनका काव्य

(१) केशव—कविप्रिया (सं० १६५८ वि०)

केशवदास हिन्दी के प्रथम प्रतिष्ठित आचार्य है। इनके कवि-शिक्षा सम्वन्धी तीन ग्रंथ मिलते है—रसिकप्रिया (रचनाकाल संवत् १६४८), रामचन्द्रिका (स० १६५८) तथा कविप्रिया (संवत् १६४८)। रसिकप्रिया इनकी प्रथम कृति है जिसमें विवेचन की अपेक्षा उमंग अधिक है। रामचन्द्रिका के निर्माण का प्रमुख उद्देश्य अलंकारों और छंदों के उदाहरण प्रस्तुत करना और गौण उद्देश्य राम के गुणों का गान प्रतीत होता है। कविप्रिया में केशव एक प्रौढ आचार्य वने हुए हैं जिसमें उन्होने विवेचन के अतिरिक्त सिद्धान्तो का प्रतिपादन भी किया है। इसमें उन्होंने अलंकार को कविता का अनिवार्य तत्त्व स्वीकार करते हुए सर्व-

---

१. हिन्दी अलंकार साहित्य; पृ० १६७, १६८

२. हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास; (षष्ठ भाग); पृ० २६६

३. हिन्दी अलंकार-साहित्य; पृ० १४६

गुण सम्पन्न अलंकार रहित-कविता को भी उसी प्रकार शोभाहीन माना है जिस प्रकार सर्व-गुण सम्पन्न आभूषण रहित नारी।[1]

कविप्रिया में सोलह प्रभाव है। यह १६ की संख्या जानबूझ कर रखी गई है ताकि कवियों की यह प्रिया, षोडश शृंगार भूषिता बने। काव्यालकारो का विवेचन पाँचवे प्रभाव से प्रारम्भ होकर सोलहवें प्रभाव में समाप्त होता है। शब्दालकारो की अलग चर्चा नही करके जिन अलंकारों का जितना अधिक महत्त्व है उतना ही एवं उसी क्रम से उसका वर्णन किया गया है। केशव ने अलंकारो को दो भागो में बाँटा है-साधारथ अलंकार और विशिष्ट अलंकार।[2] विशिष्ट अलंकारो के अन्तर्गत केशव ने श्लेष, वक्रोक्ति, प्रहेलिका, यमक और चित्र—इन ५ शब्दालंकारों का विवेचन किया है, किन्तु इनमे श्लेष और वक्रोक्ति का शब्दालंकारत्व विवादास्पद है। केशव के अनुसार जहाँ दो तीन या अधिक अर्थ हो वहाँ श्लेष होता है।[3] इसके दो भेद है अभिन्नपद और भिन्नपद।[4] केशव का यह विवेचन दण्डी से प्रभावित है और दण्डी के टीकाकार आचार्य रामचन्द्र मिश्र ने स्पष्ट कहा है कि दण्डी को श्लेष का अर्थालंकारत्व ही स्वीकार्य है।[5] अतः दण्डी सम्मत होने से केशव का श्लेषालंकार अर्थालंकार ही है।

दूसरा विवादास्पद अलंकार है वक्रोक्ति। केशव का वक्रोक्ति अलकार पूर्ववर्ती संस्कृत आचार्यों द्वारा विवेचित वक्रोक्ति से भिन्न है। आचार्य रुद्रट ने वक्रोक्ति का लक्षण दिया है—जहाँ उत्तर देने वाला, वक्ता के कथन का पदभग करके अन्यथा अर्थ ग्रहण करता है वहाँ श्लेष वक्रोक्ति और जहाँ स्वर विशेष से अन्य अर्थ की प्रतीति हो वहाँ काकु वक्रोक्ति

---

१. जदपि सुजाति सुलक्षणी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त ॥ —कविप्रिया; ५-१

२. कबिन कहै कबितान के अलंकार द्वै रूप।
एक कहै साधारणै एक विशिष्ट सरूप ॥ —कविप्रिया; ५-२

३. दोय तीन अरु भाँति बहु आनत जीमें अर्थ।
श्लेष नाम तासों कहत, जिनकी बुद्धि समर्थ।
—कविप्रिया; ११-२६

४. तिनमें एक अभिन्न पद अपर भिन्न पद जानि।
—वही; ११-२६

५. काव्यादर्श; ३-३१० (टीका)

होता है ।[1] आचार्य वामन ने सादृश्य से लक्षणा वक्रोक्ति मानी है।[2] केशव के अनुसार वक्रोक्ति अलंकार वहाँ होता है जहाँ सीधे-सादे भावों में गूढ अर्थ छिपा होता है[3] स्पष्ट है कि केशव की वक्रोक्ति रुद्रट और वामन की वक्रोक्ति से भिन्न है और केशव ने इसका विवेचन अर्थालंकार के रूप मे किया है । अतः हमारी दृष्टि से केशव ने तीन शब्दालंकारों का ही विवेचन किया है और ये है प्रहेलिका, यमक और चित्र ।

केशव ने प्रहेलिका के आठ उदाहरण दिये है । एक उदाहरण दर्शनीय है—

देखै सुनै न खाय कछु, पांय न जुवती जाति ।
केशव चलत न हारई, वासर गिनै न राति ।।[4] (अर्थ—राह मार्ग)

पन्द्रहवें प्रभाव मे यमक का विवेचन है । केशव ने यमक के अव्यपेत और सव्यपेत[5] तथा सुकर और दुष्कर भेद किये हैं ।[6] इन भेदो के उदाहरण भी दिये हैं । सोलहवें प्रभाव मे चित्रालंकार का विवेचन है । केशव ने चित्रालंकार के सम्पूर्ण विवेचन को सागर के समान और अपने इस विवेचन को उसकी एक बूंद के समान माना है[7], फिर भी चित्रालंकार का जितना विस्तृत विवेचन केशवदास ने किया है उतना हिन्दी के किसी एक आचार्य ने नहीं किया । इन्होंने चित्रालंकार विवेचन में तीन पद्धतियों का आश्रय लिया है—कुछ अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दोनो दिये है, कुछ अलंकारो के केवल उदाहरण दिये है, कुछ अलंकारो का केवल निर्देश है । निरौष्ठ्य, अमात्रिक, नियमाक्षर, बहिर्लापिका, अन्तर्लापिका, गुप्तोत्तर, एकानेकोत्तर, व्यस्त समास्तोत्तर, व्यस्तगतागतोत्तर, शासनोत्तर, प्रश्नोत्तर, गतागत आदि के लक्षण-उदाहरण दोनों है। गतागत चतुर्पदी, त्रिपदी, चरण गुप्त, सर्वतोभद्र, चक्रबंध, कमलबंध, धनुषाबंध, पर्वतबंध, सर्वतोमुख, हारबंध, डमरूबंध[8] और मंत्रीगतिबंध के केवल उदाहरण हैं । कामधेनु और कल्पवृक्ष का केवल निर्देश है ।

---

१. काव्यालंकार (रुद्रट); २-१४ एवं १६
२. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति । —काव्यालंकारसूत्रवृत्ति; ४-३-८
३. कविप्रिया; —१२-३
४. कविप्रिया; १३-१४
५. वही; १५-४
६. सुखकर दुखकर भेद है ....। —वही; १५-२६
७. केशव चित्र समुद्र में बूडत परम विचित्र ।
   ताके बूंदन के कणै, बरनत हौं सुनि मित्र ।। —वही; १६-१
८. देखिये परिशिष्ट १; चित्र क्र० ३६

इसमें संदेह नहीं कि केशव का शब्दालंकार—विवेचन संक्षिप्त है किन्तु इस संक्षिप्त परिधि में भी केशव का आचार्यत्व एवं शिक्षकत्व स्पष्ट प्रतिबिम्बित होता है। संस्कृत अलंकार-शास्त्र एवं साहित्य का जितना ठोस ज्ञान उनको था उतना किसी दूसरे को नही और जिस प्रौढ़ता से उन्होंने विवेचन किया है उसको किसी दूसरे मे पा सकना सम्भव नही है। यदि उनको कवि कहें तो व्यापक अर्थ में ही, क्योकि, केशव मे भावुकता की अपेक्षा पाण्डित्य अधिक है, जो आचार्य का प्रमुख गुण है। 'हिन्दी के पण्डितों ने केशव के आचार्यत्व का बड़ा आदर किया है, उनकी कृतियों पर टीकाएं लिखी है और उनके मत को उद्धृत किया है किन्तु काव्य को अलंकृत करने की अतिशय प्रवृत्ति ने उनकी भाषा को पाण्डित्य के बोझ से बोझिल कर दिया है। अलकारिता की धुन में व्यर्थ का शब्दजाल बुनने की प्रवृत्ति भी इनमें लक्षित होती है जिसके परिणामस्वरूप इनकी कविता दुर्बोध एव क्लिष्ट हो गई है।[1]' आलोचकों ने तो इन्हें 'कठिन काव्य का प्रेत' तक कह डाला है। अपनी क्लिष्टतओं के उपरान्त भी जनश्रुति इन्हें सूर एव तुलसी के उपरान्त तीसरा स्थान देती आई है—सूर-सूर तुलसी ससी, उडुगन केशवदास। अन्ततः हम कह सकते हैं कि पाण्डित्य की दृष्टि से वे भाषाकवियों के शिरोरत्न हैं एव शब्दालंकार विवेचन में उनकी जिस प्रतिभा के दर्शन होते है उसे देखते हुए उनको सन्स्कृत के मान्य आचार्यो के समकक्ष आसन दिया जा सकता है।

(२) जसवन्तसिंह-भाषाभूषण (१६६५ वि० के आसपास)

जसवंतसिंह ने चन्द्रालोक और कुवलयानंद की शैली का अनुकरण करते हुए भाषा-भूषण नामक अलंकार ग्रंथ लिखा। भाषा भूषण अपनी शैली का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। इसमें काव्यांगों का विवेचन दोहों में किया गया है। एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण दोनों दिये गए हैं। भाषाभूषण का विषय विवेचन पाँच प्रकाशो में विभाजित है। प्रथम प्रकाश में मंगलाचरण, द्वितीय प्रकाश में नायिकाभेद, तृतीय प्रकाश में हावभाव वर्णन, चतुर्थ प्रकाश मे अर्थालंकार और पंचम प्रकाश में शब्दालंकारों का विवेचन किया गया है।

अक्षरों के संयोग से बहुत से शब्दालंकार बन जाते हैं परन्तु हिन्दी भाषा की प्रवृत्ति को देखकर छह का ही विवेचन किया है और ये सब के सब अनुप्रास के ही भेद है।[2] ये भेद हैं—छेकानुप्रास, यमकानुप्रास, लाटानुप्रास, उपनागरिकानुप्रास, परुषानुप्रास और

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (षष्ठ भाग ; पृ० ३१२

२. सब्दालंकृत बहुत है अच्छर के संयोग।
अनुप्रास षट विध कहै जे हैं भाषाजोग॥ —भाषाभूषण; दोहा २०६

कोमलानुप्रास । इन अनुप्रासों के लक्षण एवं उदाहरण दिये है । इस विवेचन में गम्भीरता की अपेक्षा सरलता का प्राधान्य है ।

भाषाभूषण अपने ढंग का बड़ा उपादेय ग्रन्थ है । इसके लेखक में सारग्राहिता के साथ-साथ सरलता तथा मधुरिमा भी है । छायाग्रंथ होते हुए भी इसमें पची हुई मौलिकता है । लक्षण कसे हुए एव उदाहरण उपयुक्त है । 'कुवलयानन्द की आत्मा मानो भाषा में अवतरित हो गई हो ।'[1] 'साहित्य की दृष्टि से भाषाभूषण सदा अमर रहेगी ।'[2]

(३) चिन्तामणि-कविकुलकल्पतरु (१७०० वि०)

मम्मट के आदर्श को लेकर चलने वाले सर्वप्रथम रीतिकालीन आचार्य चिन्तामणि हैं । इनके ५ ग्रंथों का उल्लेख मिलता है । ये है—काव्य विवेक, कविकुलकल्पतरु, काव्य-प्रकाश, रसमंजरी तथा पिंगल । अलकारों का विवेचन कविकुलकल्पतरु में ही हुआ है । इस कृति में आठ प्रकरण है और ११३३ पद्य । दूसरे और तीसरे प्रकरण में क्रमशः शब्दालंकारों का विवेचन है । यद्यपि शब्दालंकारो से युक्त काव्य को ये अधमकाव्य[3] मानते हैं तथापि परम्परा निर्वाह के लिए इन्होने अर्थालकारों के पूर्व शब्दालंकारों का विवेचन किया है । इस ग्रन्थ में सिद्धान्त दोहा-सोरठा में तथा उदाहरण अधिकाशतः कवित्त-सवैया से प्रस्तुत किया है ।

इन्होंने ७ शब्दालकारो का विवेचन किया है—वक्रोक्ति; अनुप्रास, लाटानुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास । वक्रोक्ति, श्लेष और पुनरुक्तवदाभास का विवेचन परम्परागत है । अनुप्रास के इन्होने दो भेद माने हैं छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास ।[4] लाटानुप्रास को स्वतन्त्र अलंकार माना है । यमक के भेदों का उल्लेख भी नही किया, मात्र लक्षण दिया है । चित्रालंकार के अनेक भेदों का उल्लेख तो किया है पर एक ही दोहे में खड्गवन्ध कपाटवन्ध, कमलवन्ध, अश्वगतिवन्ध और गोमूत्रिकावन्ध का नामोल्लेख कर दिया है ।[5]

आचार्य चिन्तामणि का शब्दालंकार-विवेचन साधारण,है । पर हिन्दी के परवर्ती आचार्यों ने इसका पर्याप्त अनुकरण किया है । चिन्तामणि यद्यपि आचार्य है तथापि कविकर्म

---

१. हिन्दी अलंकार साहित्य; पृ० ८९
२. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (षष्ठ भाग); पृ० ४४६
३. कविकुल कल्पतरु; २-३६
४. वही; २-८
५. वही; २-२९

की दृष्टि से ये रीतिकाल के अन्तर्गत अत्यन्त गौरव पूर्ण स्थान रखते है। जो सम्मान मतिराम को प्राप्त है। वही चिन्तामणि को भी प्राप्त है और यह सम्मान किसी भी रूप मे कुछ कम गौरवपूर्ण नही है।[1]

(४) कुलपति मिश्र—रसरहस्य (१७२७ वि०)

कुलपति मिश्र रस सम्प्रदाय के आचार्य हैं। उन पर मम्मट का प्रभाव अधिक है। रस रहस्य इनकी काव्यशास्त्रीय कृति है जिसमे आठ वृत्तान्त ह और ३५२ पद्य। शास्त्रीय सिद्धान्तो को दोहा-सोरठा मे तथा उदाहरणो को कवित्त-सवैया मे प्रतिपादित किया है। शब्दालकारो का विवेचन सातवे वृत्तान्त मे तथा अर्थालकारो का विवेचन आठवे वृत्तान्त मे किया गया। काव्य मे अर्थ के पूर्व शब्द आता है अत शब्दसाज-अलकारो का विवेचन भी अर्थालकारो के पूर्व करना उचित है।[2]

इन्होने वक्रोक्ति, अनुप्रास, लाटानुप्रास, यमक, श्लेप, चित्रालकार और पुनरुक्तवदाभास का विवेचन किया है। वक्रोक्ति का सर्वप्रथम विवेचन सकारण है। अलकारो मे उक्ति का महत्त्व असदिग्ध है अत वक्रोक्ति का सर्वप्रथम विवेचन करना उपयुक्त है।[3] इन्होने अनुप्रास के दो भेद किये ह—छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास। छेकानुप्रास विदग्धजनो का प्रिय अलकार है अत इसे विदग्धानुप्रास भी कहा जा सकता है।[4] इन्होने लाटानुप्रास के ५ भेद किये है-एक शब्द के समास से युक्त, अनेक शब्दो के समास से युक्त, एक समास से युक्त भिन्न समास से युक्त और वचन समास युक्त।[5] यमक की परिभाषा देकर इसके अनन्त भेदो का उल्लेख किया गया पर उदाहरण केवल आठ भेदो के ही दिये है। यमक और लाटानुप्रास का स्पप्ट भेद न कर सकने के कारण एक उदाहरण लाटानुप्रास का आगया है।[6] श्लेप वर्गीकरण मम्मट-सम्मत है। चित्रालकार को मिश्रजी ने लिपि का चातुर्य माना है।[7] इसके

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (षष्ठ भाग); ३१८

२. प्रथम शब्द याते कहे प्रथम शब्द के साथ। —रस रहस्य; ७-२

३. रस रहस्य; ७-३

४. वही; ७-७

५. वही; ७-१३

६. कर जोरे विनिवत लखौ अलिये लाल न होय।
कहा लखौ जानत उन्हे; अलिये लाल न होय॥ —वही; ७-२३

७. लिखिवे ही की चतुराई, उपजै भेद अनेक। —वही; ७-३४

अनन्त भेदों की बात कहकर केवल खड्गबंध, गोमूत्रिका, कामधेनु और रंगदर्ण चित्र के उदाहरण दिये हैं। पुनरुक्तवदाभास के लक्षण में इन्होंने उसके शब्दगत और अर्थगत भेदों का उल्लेख किया है।[1]

कुलपति मिश्र का शब्दालंकार विवेचन मम्मट के मतों का हिन्दी रूपान्तर है। अपने शब्दालंकार-विवेचन की संक्षिप्तता का इन्होंने यह कारण बताया है कि यमक, चित्र और श्लेष (शब्द श्लेष) में रस को हुलास नहीं होता, अतः इनके स्वल्प भेदो का वर्णन ही उचित है।[2] वस्तुत कुलपति आचार्य अधिक है, कवि कम अतः उनकी प्रतिभा अलंकारों के लक्षणो में जितनी प्रस्फुटित हुई है उतनी उदाहरणों मे नहीं। ये मुख्य-मुख्य अलंकारों के लक्षण जितने स्पष्ट दे सके उतने अन्य आचार्य नही।

(५) भूषण–शिवराज भूषण (१७३० वि०)

वीर-रस की धारा बहाने वाले कवि भूषण ने अलंकार-साहित्य का साँगोपांग वर्णन किया है। इनकी छह रचनाएँ मानी जाती है जिनमें से शिवराज भूषण, शिवाबावनी तथा छत्रसाल दशक प्राप्त है। द्वितीय और तृतीय कृति में वीर रस के छन्द है और शिवराज भूपण मे अलंकार निरूपण है। आश्रयदाता 'शिवराज' और प्रशंसक 'भूषण' दोनों के नामो के उचित सयोग से इस ग्रथ का नामकरण हुआ है। शिवराज भूषण में ३८२ छन्द हैं। अर्थालकारो के पश्चात शब्दालंकारो का विवेचन हुआ है।

भूषण ने शब्दालंकारो की एक प्रकार से उपेक्षा ही की है। अनुप्रास यमक, पुनरुक्तवदाभास तथा चित्र का साधारण विवेचन है। इनके लक्षणो मे कोई गाम्भीर्य नही है। भूषण ने छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास को एक ही मान लिया है।[3] अनुप्रास का उदाहरणों मे सर्वोत्तम प्रयोग हुआ है।[4] यमक और पुनरुक्तवदाभास के लक्षण परम्परागत है।

---

१. रस रहस्य; ७-४२

२. जमक चित्र और श्लेष में रस को नहीं हुलास।
यातें याकें स्वल्प ही वरने भेद प्रकास॥ —रस रहस्य; ७-४४

३. शिवराज भूषण; छन्द ३३१

४. देसन देसन नारि नरेसन भूषन यों सिख देहि दया सों।
मंगन ह्वै करि दन्त गहौ तिन कन्त तुम्हें है अनन्त महा सों॥
कोट गहौ कि गहौ वन ओट कि फौज की जोट सजौ प्रभुता सों।
और करौ किन कोटिक राह सलाह विना वचिहौ न सिवा सों॥
—शिवराज भूषण; छन्द २५१

चित्रालंकार के एक भेद कामधेनु का नाम दिया है और अन्य का संकेत मात्र कर दिया है।

भूषण ने 'कविन को पथ' अपनाया है।[1] भूषण कवि थे आचार्य नहीं और कवि वे कलियुगी राजाओ के विलासीगुणो से सन्तुष्ट नही रह सकते थे, अतः शिवाजी जैसे युग पुरुप का अलकारो के माध्यम से चित्रण करके उन्होने वाणी को उस स्त्रैण वातावरण से बाहर निकाला। 'घोर शृंगार के युग मे वीर रस की अपूर्व कविता लिखकर अपना प्रमुख स्थान बना लेने मे ही भूपण कवि का कृतित्व है। प्रतिकूल परिस्थितियो में खिलकर भी भूषण ने जो सुरभि प्रदान की वह प्रत्येक हृदय को स्वाभिमान से भरने वाली है।'[2] भूपण की अनोखी और वीर वाणी अनुप्रासो की छटा से सुशोभित है।'[3]

(६) पदुमनदास–काव्यमंजरी (१७४१ वि०)

पदुमनदास ने अपने अलकार ग्रन्थ काव्यमजरी के दशम प्रकाश में शब्दालंकारो का विवेचन किया है। इनके विवेच्य आठ शब्दालकार ये है—चित्र, यमक, अनुप्रास, गूढ, श्लेप, प्रहेलिका, प्रश्नोत्तर और वक्रोक्ति। चित्रालकार का इन्होने सर्वप्रथम विवेचन किया है, क्योकि इसमे शब्दो की सुन्दर योजना होती है जो देखने में कठिन प्रतीत होती है। इसमें अद्भुत रस का प्राधान्य होता है।[4] केशव की भाति ये भी चित्रालकार को अपार मानते है[5] फिर भी इन्होने कमलबंध, मेरुबंत्र, असिबंध, छत्रबंध, चामरबंध, हयगति, मंत्री गति, गोमूत्रिका, गतप्रत्यागत और मालाबंध के उदाहरण दिये है। यमक के इन्होने ८८ भेदो का उल्लेख किया है। इनका कथन है कि यमक भेदों का ज्ञान गुणीजनों को ही होता है। जो अज्ञानी है वे इन्हे इसी प्रकार नही जान सकते जैसे किसी बन्ध्या को प्रसव का ज्ञान नहीं होता।[6] अनुप्रास के इन्होने लाटानुप्रास और छेकानुप्रास-ये दो भेद स्वीकार किये है[7] पर इन दोनो भेदो के दो लक्षण दिये है वे अशुद्ध एव. अपूर्ण है। इनके अनुसार जहाँ

---

१. शिवराज भूषण; छन्द २९
२. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (षष्ठ भाग); पृ० ४५१
३. भूषण और उनका साहित्य; पृ० २२८
४. काव्य मंजरी; १०-३
५. वही; १०-६
६. वही; १०-२०
७. वरणसाम्य यह बरणिए, अनुप्रास तसु नाम।
ताहि द्विविध अनुमानियो, लाटछेक सब ठाम ॥ – वही; १०-२२

चरणान्त में वर्णसाम्य हो वहाँ लाटानुप्रास एवं जहाँ चरणादि में वर्णसाम्य हो वहाँ छेकानुप्रास होता है[1] किन्तु चरणान्त मे वर्णसाम्य होने पर अन्त्यानुप्रास होता है एवं छेकानुप्रास तो चरण मे कहीं भी हो सकता है।

गूढ़, श्लेष, प्रहेलिका एवं वक्रोक्ति का विवेचन सामान्य एवं परम्परागत है। प्रश्नोत्तर शब्दालंकार का लक्षण नही दिया गया। केवल इसके दो भेदो अन्तर्लापिका और वहिर्लापिका का उल्लेख कर दिया गया है।[2]

पदुमनदास का शब्दालकार विवेचन गम्भीरता एव नवीनता से रिक्त है। अनुप्रास भेदो के लक्षणों में नवीनता लाने का प्रयत्न अवश्य किया गया है किन्तु ये लक्षण अशुद्ध एवं अपूर्ण हैं। गूढ भी नवीन शब्दालंकार है पर उसका रूप स्पष्ट नही है।

(७) देव–शब्द रसायन (१७६० वि० के लगभग)

रीतिकाल मे आचार्य देव ने काव्यशास्त्र के दो ग्रन्थ प्रदान किये—भावविलास और शब्द रसायन या काव्य रसायन। भाव विलास अपरिपक्व और शब्द रसायन प्रौढावस्था की कृति है। भावविलास में शब्दालंकार नहीं है। उसमें श्लेष और वक्रोक्ति को अर्थालंकार माना है। अनुप्रास तो है ही नही—'वह अनुप्रास जो रीतियुग का प्राण था।'[3] शब्द रसायन मे ११ प्रकाश है। अष्टम प्रकाश मे शब्दालकार आए है।

देव रसवादी आचार्य थे अतः उनका अलंकृत-काव्य को अधमकाव्य मानना उचित है। देव ने चित्रकाव्य के दो भेद किये है—एक तो वह जो अनुप्रास और यमक से अलंकृत होता है। ऐसे काव्य को इन्होने सरस और ग्राह्य माना है तथा अनुप्रास और यमक को चित्रकाव्य का मूल[4] स्वीकार किया है। दूसरा वह जो चित्रालकार युक्त होता है। इस-काव्य को देव ने 'मृतक काव्य' और 'कठिन अर्थ के प्रेत'[5] वतलाया है। चित्र काव्य को आदर की दृष्टि से देखने वालो पर व्यंग्य करते हुए लिखा है—

---

१. काव्य मंजरी; १०-४२

२. दुइ विधि को प्रश्नोत्तरा; अन्तर्लापिका एक।
वहिर्लापिका दूसरो; वूझत सहित विवेक ॥—वही; १०-३५

३. हिन्दी अलंकार साहित्य; पृ० १२३

४. शब्द रसायन; पृ० ८४

५. मृतक काव्य विनु अर्थ को, कठिन अर्थ के प्रेत। —वही; पृ० ६०

सरस वाक्य पद अरथ तजि, शब्दचित्र समुहात।
दधि घृत मधु पायसु तजि; वायसु चाम चबात॥[1]

अर्थात् चित्रकाव्य प्रेमी कौए हैं जो चमड़ा चबाने की रुचि रखते हैं। इन पंक्तियों में हृदयहीनों के प्रति व्यंग्य है। वैसे स्वयं देव ने अनुप्रास और यमक का खूब सहारा लिया है।

देव के विवेचित शब्दालंकार हैं—अनुप्रास, यमक और चित्र। अनुप्रास के लक्षण में दण्डी का प्रभाव ग्रहण किया है।[2] यमक का लक्षण परम्परागत है। इसके एक नवीन भेद 'सिंहावलोकन' का सर्वप्रथम दर्शन इन्हीं के विवेचन में मिलता है। देव ने इसका लक्षण नहीं दिया। परवर्ती आचार्य भिखारीदास ने सिंहावलोकन का यह लक्षण दिया है—छन्द के चरणान्त का वर्ण यदि दूसरे चरणारम्भ में यमक बनाए तो उस सौन्दर्य विधान को सिंहावलोकन कहते हैं।[3] देव ने एक उदाहरण[4] दिया है जिससे इसका रूप स्पष्ट हो जाता है।

चित्रालंकार के प्रति उदार न होते हुए भी देव ने इसका विस्तार से विवेचन किया है। पर्वतबन्ध, हारबन्ध, कपाटबन्ध, धनुबन्ध, कमलबन्ध, कामधेनुबन्ध, सर्वतोभद्र, एकाक्षर, द्व्यक्षर, अनुलोम, विलोम, अन्तर्लापिका, प्रहेलिका आदि का चित्रालंकार के भेदों के रूप में उल्लेख किया है, जिनके लिए केशव ने एक पूरा 'प्रभाव' प्रयुक्त किया। लम्बे चौड़े वर्णन

---

१. शब्द रसायन; पृ० ९०
२. शब्द रसायन; पृ० ८५
३. काव्य निर्णय; १९-१
४. दूल है सुहाग दिन, तूल है तिहारे तिन,
 तूल है तिहारे, सो अयान ही की भूल है।
 भूल है न भाग की. प्रवाह को दुकूल है,
 दुकूल है उज्यारौ, 'देव' प्यारो अनुकूल है।
 कूल है नदी को, प्रतिकूल है गुमान री,
 अहूल है सुजौन, जौन जौवन अहूल है।
 हूल है हिये में, हियेहूलहै न चैनरी,
 बिहार पल दूल है, निहार पल दूल है॥
 —शब्द रसायन; पृ० ८६

के वाद भी वे कुछ खिन्न मन से कहते हैं कि चित्र का विस्तार तो वहुत अधिक है, मैंने संक्षेप में ही चर्चा की है ।[1]

रीतिकालीन साहित्यिकों में देव कवि का स्थान वहुत ऊँचा माना जाता रहा है क्योंकि जितनी पुस्तकें उन्होने लिखी उतनी किसी दूसरे आचार्य ने नहीं । उनके ५२ या ७५ ग्रंथ माने जाते हैं पर एक पुस्तक के कई छन्द दूसरी पुस्तकों में भी ज्यों के त्यो पाये जाते है । 'जीविकावृत्ति की तलाश मे इधर उधर भटकने वाले वेचारे देव के पास 'घटत-वढ़त' के अतिरिक्त भला और उपाय ही क्या था ?'[2] अतः अव यह निर्णीत-सा है कि 'देव में जितनी चतुरता है उतनी प्रतिभा नहीं ।'[3] -हाँ, विषयवस्तु के अनुरूप शब्दों का चयन इनमे अवश्य मिलता है । अलंकारों के उदाहरण उपयुक्त कम है, मनोहर अधिक । अनुप्रास और यमक की छटा सर्वत्र मन को मोह लेती है, अतः शब्दालंकारो मे यमक और अनुप्रास का रस रीति की सनाथ वाला पक्ष[4] अधिक प्रबल है ।

(८) रसिकसुमति-अलंकार-चन्द्रोदय (१७८६ वि०)

आचार्य रसिक सुमति की अलंकार विपयक रचना अलंकार चन्द्रोदय प्राप्त होती है जिसमें कुल १८७ दोहे है । प्रथम १८० दोहो मे अर्थालंकार और शेप मे शब्दालंकार । यह रचना कुवलयानन्द के आधार पर लिखी गई है ।[5] परन्तु शब्दालंकारों में केवल अनुप्रास का ही विवेचन है । ऐसा प्रतीत होता है कि अप्पय्य दीक्षित[6] का अनुकरण करते हुए शब्दालंकारो को अकाव्य मानकर केवल परम्परा का निर्वाह करने के लिए जसवन्तसिंह की तरह अनुप्रास का विवेचन कर दिया है । विवेचन भी साधारण है ।

इस ग्रन्थ मे आचार्य जसवन्तसिंह के उदाहरणो को ले लिया गया है । उनके ग्रन्थ भाषाभूषण से इस अलंकार चन्द्रोदय की एक विशेपता यह है कि प्रत्येक भेद के लक्षण-

---

१. शब्द रसायन; पृ० ६१
२. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास (षष्ठ भाग); पृ० ३३३
३. हिन्दी अलंकार साहित्य; पृ० १३६
४. शब्द रसायन; पृ० ८५
५. रसिक कुवलयानन्द लखि अलि मन हँरस वढ़ाइ ।
   अलंकार चन्द्रोदयहिं वरनत हिय हुलसाय ॥
   —अलंकार चन्द्रोदय; दोहा ४
६. चित्र मीमांसा; पृ० ५

उदाहरण के लिए एक स्वतन्त्र दोहा लिख दिया है। 'अधिक पुस्तकों की छाया के बिना भी इस रचना का स्वतन्त्र महत्व है।'[1]

(९) खण्डन कवि–भूषणदाम (१७८७ वि०)

खण्डन कायस्थ ने भूषणदाम नामक काव्यशास्त्रीय कृति में अलंकारों का विवेचन किया है। शब्दालकारो को प्रथम स्थान देने का कारण कवि ने यह बताया है कि शब्द ही अर्थ का उत्पादक है।[2] खण्डन ने वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास का विवेचन किया है। वक्रोक्ति को प्रथम स्थान देने का कारण भी स्पष्ट किया गया है कि उक्तिभेद ही अलकारो का कारण है।[3] वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक और श्लेष का विवेचन सामान्य एव परम्परागत है। चित्रालंकार के विवेचन में विस्तार तो है पर व्यवस्था नहीं। पुनरुक्तवदाभास के इन्होने दो भेद माने हैं—शब्दनिष्ठ और अर्थनिष्ठ। सम्पूर्ण विवेचन को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि खण्डन का यह ग्रथ सामान्य है एवं यत्र तत्र व्यवस्था का अभाव है।

(१०) सोमनाथ–रसपीयूषनिधि (१७९४ वि०)

सोमनाथ की सर्वाङ्गपूर्ण कृति 'रसपीयूषनिधि' में २२ तरगे एवं ११२७ पद्य हैं। २१ वी तरंग मे शब्दालकारो का विवेचन हैं जो ४० पद्यों में प्रस्तुत किया गया है। सोमनाथ ने शब्दालकार-विवेचन में आचार्य कुलपति के रसरहस्य का सहारा लिया है। इस ग्रंथ में वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र का विवेचन किया गया है। कुलपति मिश्र की भांति इन्होने भी वक्रोक्ति का सकारण प्रथम विवेचन किया है।[4] अनुप्रास के तीन भेदों—लाटानुप्रास, छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास का विवेचन किया गया है। यमक और श्लेष का विवेचन सामान्य है। चित्रालंकार को 'लिखने की सुघराई' माना गया है एवं कवि ने इसके अपार भेदों की बात कही है[5] पर उदाहरण केवल मन्त्री गतिबन्ध, अश्व गतिबन्ध, कपाटबन्ध, त्रिपदीबन्ध, हारबन्ध, धनुबन्ध, गतागत और चरणगुप्त के ही दिये है।

---

१. हिन्दी अलंकार साहित्य; पृ० १४१

२. भूषणदाम; दोहा ३

३. अलंकार कविता विषै उक्ति भेद तैं होई।
वक्र उक्त तातै कहत, प्रथम ग्रन्थ मत जोई॥ —भूषणदाम; दोहा ४

४. रस पीयूष निधि; २१-१७

५. है सुघराई लिखन की प्रगटें भेद अपार।
तासो चित्रक चित्र कहि, वरनै रसिक उदार॥—वही; ३६-२१

'सोमनाथ के ग्रन्थ का उद्देश्य सुकुमार-बुद्धि पाठकों के लिए काव्यशास्त्रीय सामग्री प्रस्तुत करना है। काव्यशास्त्रीय विषयो का विवेचन करते समय इनका प्रमुख उद्देश्य रहा है—सरल मार्ग का अवलम्बन।'[1]

(११) भिखारीदास–काव्यनिर्णय (१८०३ वि०)

रीतिकालीन आचार्यो में भिखारीदास का अपना विशिष्ट स्थान है। काव्य निर्णय, शृंगार निर्णय, रस साराश, छन्दार्णव पिंगल, नामप्रकाश और विष्णुपुराण भापा इनके प्रमुख ग्रंथ माने जाते है किन्तु 'काव्य निर्णय' ही एक ऐसी काव्यशास्त्रीय कृति है जिसमें उन्होने काव्य के सभी अंगो का विधिवत् विवेचन किया है इसमे सस्कृत आचार्यो का अनुकरण करते हुए भी यथावसर अपनी मौलिकता का परिचय भी दिया है। काव्य निर्णय मे २५ उल्लास है और अलंकारो का तीन स्थलो पर विवेचन हुआ है – तृतीय उल्लास मे पदार्थनिर्णय तथा रसाग निर्णय के बीच में, आठवें उल्लास से अठारहवे उल्लास तक एव बीसवे और इक्कीसवे उल्लास मे।

भिखारीदास ने अलकारो का वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया है। इन्होंने अपने अलंकार वर्गीकरण मे कुल १०८ अलकार माने है जिनमे ५ शब्दालकार एव एक चित्रालंकार (२१ भेदो वाले) का उल्लेख[2] किया है, किन्तु काव्य निर्णय मे चित्रालकार एव ५ शब्दालकारो—श्लेप, विरोधाभास, मुद्रा, वक्रोक्ति एव पुनरुक्तवदाभास के अतिरिक्त वाक्यालकारो मे अनुप्रास एव काव्यगुण वर्ग के अन्तर्गत वीप्सा, यमक एवं उसके भेद सिहावलोकन का भी उन्नीसवे उल्लास मे विवेचन किया है। इन विवेचन की विशेपता यह है कि— व्याख्या मे 'तिलक' का प्रयोग भी है।

श्लेप के दो भेद माने है, श्लेप-शब्दालंकार और श्लेष-अर्थालकार। श्लेप-शब्दालकार दो तीन अथवा अनेक अर्थो वाला हो सकता है।[3] विरोधाभास प्रथमवार शब्दालकार के रूप में संस्कृत-हिन्दी काव्य शास्त्र में आया है।

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (षष्ठ भाग); पृ० ३५२

२. भूषन छियासी · अर्थ के आठवाक्य के जोर।
त्रिगनि चारि पुनि कीजिये अनुप्रास इक ठौर।
सब्दालंकृत पाँच गनि चित्रकाव्य इक पाठ।
इक-इस गातादिक सहित ठीक सतोपरि आठ॥
—काव्य निर्णय; २१-९२ एवं ९३

३. काव्य निर्णय, २०-३ और ४

विरोधाभास में वस्तुत: विरोध नही होता ।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि पुनरुक्तवदाभास के साथ भिखारीदास ने विरोधाभास को भी शब्दालंकार मान लिया है। संस्कृत में अग्निपुराण एवं सरस्वती कंठाभरण के बाद पहलीबार मुद्रा अलंकार शब्दालंकार के रूप में काव्यनिर्णय में दिखाई देता है, किन्तु दासजी ने इसका जो लक्षण दिया है वह अर्थालंकार के समान है।[2] वक्रोक्ति का विवेचन साधारण है। इसके दो भेद माने हैं—श्लेप वक्रोनि और काकुवक्रोक्ति।[3] पुनरुक्तवदाभास का विवेचन भी सामान्य है। उसके किसी भेद का उल्लेख नही है।

चित्रालंकार का विवेचन बहुत ही विस्तृत एवं व्यवस्थित है। पहले दासजी ने चित्रालंकार के सामान्य नियमो का उल्लेख किया है। उन्होंने एक नवीन तथ्य यह जोड़ा है कि चित्रकाव्य मे चमत्कार का अभाव या हीनार्थ दोप नही होता।[4] इसी तरह व, ब, ज, य, और बिन्दु तथा अर्धचन्द्र बिन्दु का विचार भी नही भी नही किया जाता।[5] इन्होने चित्रालंकार के चार भेद माने है प्रश्नोत्तर, पाठान्तर, वाणी तथा लेखनी चित्र।[6] प्रश्नोत्तर चित्रालंकार के इन्होने दो भेद किये है अन्तर्लापिका और बहिर्लापिका।[7] यद्यपि इन्होने अन्तर्लापिका के अनेक भेद माने है पर विवेचन केवल दो भेदों का ही किया है। बहिर्लापिका में प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए उन्होंने एक रीति बताई है 'यलवा' को त्रिकोण बनाकर लिखले और उन्हीं के द्वारा उत्तर प्राप्त करें।[8] पाठान्तर में दो प्रकार के चित्रो का

---

१. काव्यनिर्णय; २०

२. वही; २०-११

३. वही; २०-१४

४. दास सुकवि वानी थकै चित्र कवित्तन माहिं।
चमत्कार हीनार्थ को इहाँ दोष कछु नाहिं ॥ —वही; २१-१

५. व ब ज य बरनत जानिए चित्रकाव्य में एक।
अरधचन्द की जिनकरौं, छूटे लगै विवेक ॥ —काव्यनिर्णय; २१-२

६. वही; २१-३

७. काव्यनिर्णय; २१-४

८. खचि त्रिकोन यलवाहि लिखि पढ़ौ अर्थ मिलि ज्योहि।
उतरु सर्वतोभद्र यह बहिरलापिका योहि ॥ —वही; २१-३३

विवेचन है वर्णलुप्त और वर्ण परिवर्तन।[१] वाणी चित्रो में निरोष्ठ्य अमात्रिक, निरोष्ठ्यामात्रिक, अजिह्वय और नियमित वर्ण चित्रों का विवेचन हुआ है।[२] वाणी चित्र के अन्तर्गत ऐसे उदाहरण दिए है जिसमें पूरे पद में एक भी ओष्ठ्य वर्ण न हो[३] अथवा जीभ संचालन की आवश्यकता भी न पडे। नियमित सख्या मे वर्णो को लेकर कारीगरी दिखाई गई है। उनका कथन तो यह है कि एक से लेकर छब्बीस वर्ण तक के उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते है।[४]

लेखनीचित्र के दासजी ने अपार भेद माने है[५] पर केवल खड्गवध, कमलवंध, कंकणवध, डमरुवध, चन्द्रवध, चक्रवध, धनुपबध हारबंध, विविध गतागत बंध, मंत्रीगतिबध, त्रिपदीबध, अश्वगति वध, विमुख वध, सर्वतोमुख, कामधेनुबंध और अक्षरगुप्त का विवेचन किया है।[६]

वाक्यालकार के अन्तर्गत वर्णित अनुप्रास, वीप्सा और यमक को दासजी शब्दालंकार न मानकर गुणाश्रित अलकार मानते है अर्थात ये अलकार गुणों के आभूपण है।[७] इन्होने अनुप्रास के दो भेद माने है—छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास। छेकनुप्रास के दो भेद किए गए हैं आदिवर्ण की आवृत्ति से युक्त और अन्तवर्ण की आवृत्ति से युक्त, पर इनके लक्षण के

---

१. काव्यनिर्णय; २१-३४

२. वही; २१-३६

३. कन हैं सिगाररस के करन जस ये, सघनघनआनन्द की झर ये संचारते।
दास सरि लेत जिन्है सारस के रसरसे, अलिन के गन खनखन तन झारते॥
राधादिक नारिन के हियकी हकीकति, लखे ते अचरज रीति इनकी निहारते।
कारे कान्ह कारे कारे तारे है तिहारे जित, जाते जित रातेराते रंग करि डारते॥
—वही; २१-४१

४. इक इक ते छब्बीस लगि होत वरन अधिकार।
तदपि कह्यौ हौं सात लौ जानि ग्रन्थ बिस्तार॥ —काव्यनिर्णय; २१-४८

५. वही; २१-५८

६. देखिये परिशिष्ट—१ के अन्तर्गत कतिपय चित्र।

७. रस के भूजित करन ते गुन बरने सुख दानि।
गुनभूपन अनुमानि कै, अनुप्रास उर आनि॥ —काव्यनिर्णय; १६-३४

बजाय उदाहरण ही दिये है।[1] वीप्सा के प्रथम दर्शन दासजी के विवेचन में ही होते हैं। इसमें आदर आदि सूचित करने के लिए एक शब्द की अनेक बार आवृत्ति होती है।[2] दासजी ने यमक को अनुप्रास के अन्तर्गत मान लिया है।[3] उसके छह भेदों के उदाहरण दिये हैं। देव ने जिस सिंहावलोकन का मात्र उल्लेख करके उदाहरण दिया था, दासजी ने उसका लक्षण[4] एवं उदाहरण[5] प्रस्तुत किया है। संस्कृत में जिसे मुक्तपदग्राह्य यमक कहते हैं उसे ही दासजी ने सिंहावलोकन माना है। कुण्डलिया छन्द में भी यही सौन्दर्य रहता है।

दासजी ने २२ वे उल्लास में तुक का भी विवेचन किया है। अन्त्यानुप्रास का ही दूसरा नाम तुक है एवं उन्होंने इसके तीन भेद माने हैं—उत्तम तुक, मध्यम तुक, एवं अधम तुक। उत्तम तुक के तीन भेद हैं समसरि, विषमसरि एवं कष्टसरि।[6] मध्यम के भी तीन भेद हैं असंयोगमिलित, स्वरमिलित एवं दुर्मिल। इसी तरह अधम के भी तीन भेद किये हैं अमिलमुमिल आदिमत्त अमिल और अन्तमत्त अमिल।[7]

---

१. मंजुल वंजुल कुंजनि गुंजन कुंजत भृंग विहंग अयानी।
चंदन चंपक वृंदन संग सुरंग लवंग लता अरुझानी॥
कंस विधंसन कै नंद नंद सुछन्द तहीं करिहैं रजधानी।
झंखति क्यों मथुरा ससुरारि सुने न गुने मुद मंगलबानी॥

—वही; १६-४५

२. एक शब्द बहुबार जंह, हरषादिक ते होई।
ता कहं वीप्सा कहत है, कवि कोविद सब कोई॥ —काव्यनिर्णय; १६-५२

३. वही; १६-५४

४. चरण अन्त अरु आदि के, जमक कुण्डलित होय।
सिंह विलोकन है वहै, मुक्तक पद ग्रस सोय॥ —वही; १६-६१

५, सरसो बरसो करै नीर अली, धनु लीन्हें अनंग पुरन्दर सों।
दरसो चहुँ ओरन ते चपला करि जाती कृपान के ओझर सों॥
झर सोर सुनाई हरै हियराजु किये घन अम्बर डम्बर सों।
बरसों ते बड़ी निसि बैरनि बीतति वासर भो विधि वासर सों॥

—वही; १६-६२

६. वही; २२-१ और २

७. वही; २२-६ और १०

भिखारीदास रीतिकालीन आचार्यों में बहुमान्य एवं अग्रगण्य हैं। ये आचार्य कर्म में केशव से भी अधिक सफल हुए हैं जटिल विषयों को भी सुगम तथा सरल रीति से हृदयंगम कराने की शक्ति उनमें केशव से अधिक है। काव्यनिर्णय मे दास ने काव्यप्रकाश तथा चन्द्रालोक का ऋण स्वीकार किया है परन्तु इससे भी अधिक महत्त्व इस तथ्य का है कि कि दास को भाषा की सुरुचि का ध्यान रहा।[1] दास हिन्दी भाषा के प्रति कितने जागरूक है, इसका प्रमाण यह है कि इन्होंने सर्वप्रथम ब्रजभाषा के व्यापक स्वरूप की ओर संकेत किया है।[2] इनकी कविता का कुल प्रभाव मार्मिक होता है। इनके उदाहरण भाषा व्याकरण एव अभिव्यंजना की दृष्टि से परिमार्जित है। इनमे युग की चित्तवृत्ति एव मांसल शृंगारिता के अनूठे चित्र है।[3] वस्तुतः केशव से सुगम प्रतिपादन मे, देव से पाण्डित्य में, कुलपति से मौलिकता में, दास निश्चय ही उत्कृष्ट है। पुरानी पुस्तकों मे काव्य निर्णय ही ऐसा है जो आजकल भी उपादेय है। 'भाषा की सुरुचि का जितना ध्यान दास कवि को था, उतना किसी दूसरे उस समय के साहित्यिक को नहीं। वस्तुतः भाषा की प्रवृत्ति को देखकर अधिकार पूर्वक लिखित उस समय की कृतियां में यही एक मात्र ग्रन्थ है।[4] इतना होते हुए भी दास मे अन्य सुकवियो को रिझाने की प्रबल इच्छा थी। इनकी निम्नलिखित उक्ति रीतिकालीन काव्य के सन्दर्भ मे सुपरिचित है—

तातें यह उद्यम अकारथ न जैहैं सब—
भांति ठहरै है भलो हौं हूं अनुमानो है।

---

१. बूझि सु चन्द्रालोक अरु काव्यप्रकासहु ग्रंथ।
समझि सुरुचि भाषा कियों लै औरौ कवि पंथ।।
—काव्यनिर्णय; १-५

२. व्रजभाषा हेत ब्रजवास ही न अनुमानौं,
ऐसे ऐसे कविन्ह की बानी हूं के जानिये। —वही; १-१६

३. कंज के संपुट हैं ये खरे हिय में गड़िजात ज्यों कुंत की कोर है।
मेरु हैं पै हरि हाथ में आवत, चक्रवती पं बड़े ई कठोर है।।
भावती तेरे उरोजनि में गुन 'दास' लख्यौ सब औरई ओर है।
संभु है पै उपजावै मनोज, सुवृत्त है पै पर चित्त के चोर है।।
—वही; १०-२२

४. हिन्दी अलंकार साहित्य; पृ० १७४

आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई, न त—
राधिका कन्हाई के सुमिरन को बहानो है ।[1]

इस उक्ति में निहित उदासीनता से यह तथ्य प्रतिध्वनित होता है कि इतना बड़ा ग्रंथ लिखने पर भी उसे उपयुक्त स्थान न मिलने का उन्हें सन्देह रहा होगा। अनुवादों एवं चाटुकारिता के उस युग में ऐसी आशंका स्वाभाविक ही है।

(१२) रसरूप—तुलसीभूषण १८११ वि०)

आचार्य रसरूप की 'तुलसीभूषण' कृति भाषा-काव्यशास्त्र की अनुपम देन है। उन्होंने तुलसीदास के रामचरित मानस, गीतावली और बरवै रामायण के पद ही उदाहरणों के लिए दिए हैं[2] और लक्षणों पर कुवलयानंद, चन्द्रालोक एवं कविप्रिया का प्रभाव है। इन्होंने अलंकार अकारादि क्रम से रखे हैं इसी से आशिषालंकार सर्वप्रथम आ गया, चाहे भगवान राम का आशीर्वाद लेना तुलसी की भाँति रसरूप का उद्देश्य रहा हो परन्तु काव्यशास्त्र में तो यह एक नया प्रयोग है। ग्रन्थ के आदि में ६ शब्दालंकारों—अनुप्रास, वक्रोक्ति, यमक, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास का विवेचन है। लक्षण दोहे में है और उदाहरण में तो सभी प्रकार के छन्द आगए है।

अनुप्रास के इन्होंने तीन भेद माने हैं—छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास और लाटानुप्रास। मम्मट और कुलपति मिश्र की तरह इन्होंने लाटानुप्रास के ६ भेद किये हैं—एक शब्द, बहु-शब्द, एक समान, भिन्न समास और वचन समास।[3] यमक, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास के लक्षण सामान्य एवं परम्परागत हैं।

५६ पृष्ठों की इस पुस्तक में लेखक ने उन अलंकारों का प्रकाशन किया जो तुलसी ने अपनी वाणी में रख दिये थे। शुक्लजी के इतिहास में इनका नाम नहीं है। डॉ० भगीरथ मिश्र ने भी इनके विषय में नहीं लिखा। हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास में इनकी बड़ी प्रशंसा की गई है। वहाँ लिखते हैं – रसरूप का प्रयत्न प्रशंसनीय है। इन्होंने उदाहरणों के मोह से छूटकर एक ऐसा अलंकार ग्रंथ लिखा जिसकी सामग्री का आधार हिन्दी का मूर्धन्य कवि है और जिसमें काव्यशास्त्र को शृंगार की संकीर्ण गली से निकालकर जीवन के व्यापक क्षेत्र

---

१. काव्य निर्णय; १-८
२. रामायण में जो धरे अलंकार के भेद।
ताहि यथामति बूझि के रचत प्रबन्ध अखेद ॥ —तुलसीभूषण; दोहा १
३. तुलसीभूषण; दोहा २१

में लाया गया है।[१] लेखक की भक्तिरस पूर्ण उदाहरणो में बड़ी रुचि थी अतः 'पुनर्यथा' लिखकर प्राय. एक से अधिक उदाहरण दिये गए है। यही कारण है कि रसरूप आचार्य कम और भक्त ज्यादा है।

(१३) रूपसाहि—रूपविलास (१८१३ वि०)

रूपविलास मे १४ विलास हैं। १२ वे विलास मे अर्थालकार और १३ वे विलास में शब्दालंकारो का विवेचन किया गया है। इन्होंने अलंकारो के दो भेद किये है-अर्थालंकार एवं वर्णालंकार।[२] किन्तु यहाँ वर्णालंकारो से इनका तात्पर्य शब्दालंकार से है। इनके विवेचित शब्दालंकार अनुप्रास और चित्र है। अनुप्रास के इन्होंने चार भेद माने हैं—छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, अस्फुटानुप्रास और लाटानुप्रास। अस्फुटानुप्रास हिन्दी के लिए नया है। सस्कृत मे जयदेव ने भी स्फुटानुप्रास का उल्लेख किया है किन्तु वहाँ श्लोक के पूर्वार्द्ध या उत्तरार्द्ध में अथवा प्रत्येक पाद में वर्णो की आवृत्ति मानी गई है।[३] रूपसाहि के अनुसार जहाँ स्वर और व्यजन वदल गए हैं अर्थात् आवृत्त स्वर व्यजनो मे साम्य न हो वहाँ अस्फुटानुप्रास होता है, जैसे रंग रंगीले रीझने रूप रास रघुवीर।[४] लाटानुप्रास का लक्षण दोषपूर्ण है क्योंकि उसमे आवृत्त वर्णों के स्वर और व्यजनो के साम्य का ही उल्लेख किया है[५], तात्पर्य भेद से भिन्नार्थकता का नही। चित्रालकार मे गतागत, एकानेकोत्तर, व्यस्तसमस्तोत्तर, अन्तर्लापिका, वहिर्लापिका, मत्रीगति, अश्वगति, गोमूत्रिका, कपाटवध, त्रिपदी, अर्धगुप्त चक्र, चरणगुप्त, हारवध, पर्वतवंध, चक्रवध, सर्वतोमुख, धनुपवंध, कमलवंध, छत्रवध डौरीवध, सर्वतोभद्र और कमलवंध का विवेचन हुआ है।

रूपसाहि ने अपने विवेचन मे नवीनता लाने का प्रयत्न किया है पर उन्हें सफलता नहीं मिली। पुस्तक सामान्य है।

(१४) ऋषिनाथ—अलंकारमणिमंजरी (१८३१ वि०)

ऋषिनाथ की अलकारमणिमंजरी दोहों मे लिखी हुई एक छोटी सी पुस्तक है।

---

१. हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास (षष्ठ भाग) पृ० ४६६

२. अलंकार दो विधि वरनि अर्थ वरन निरधारि।
उपमादिक छेकादिक, क्रम हैं लेहु विचारि॥ —रूपविलास; १२-२

३. श्लोकस्यार्धे तदर्धे वा वर्णावृत्तिर्यदि ध्रुवा।
तदामता मतिमता, स्फुटानुप्रासता सताम्॥ चन्द्रालोक; १३-२

४. रूपविलास; १३-५

५. सुरविजन वदलै नहीं सो लाटानुप्रास। —वही; १३-४

बीच-बीच में कवित्त, छप्पय तथा गाथा भी है। शब्दालंकारों में केवल अनुप्रास का विवेचन है पर उन्होंने इसका लक्षण नहीं दिया है। इसके तीन भेद माने हैं—छेकानुप्रास, लाटानुप्रास और यमकानुप्रास। वृत्यनुप्रास का विवेचन भी किया गया है पर उसका लक्षण स्पष्ट नहीं है।[1] 'अलंकारों का वर्णन सामान्य है पर पुस्तक कवित्तपूर्ण है। एक अलंकार के एक से अधिक उदाहरण दिये गए हैं। भाषा सरल एवं सुबोध है।'[2]

(१५) जनराज—कवितारसविनोद (१८३३ वि०)

कवितारस विनोद में २४ विनोद है और २०२५ पद्य है, किन्तु इतने विशाल ग्रन्थ में भी कोई नवीन धारणा नही परिलक्षित होती है। ग्रंथ के आठवे, बाइसवें और तेईसवे विनोद में अलंकारों का वर्णन किया गया है।

आठवें विनोद में अर्थालंकारों के साथ अनुप्रास का विवेचन है। जनराज ने इसके चार भेद किये हैं—छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास, लाटानुप्रास और यमकानुप्रास।[3] बाइसवे विनोद में गूढ़ार्थ, प्रहेलिका, श्लेष, यमक, लाट, चित्र, विधानादि, सिहावलोकन, यमक सिंहावलोकन, मात्रा रहित और कामधेनुवंध का विवेचन है। तेईसवे विनोद मे अन्तर्लापिका का विवेचन है। श्लेषमूलक अन्तर्लापिका जनराज प्रसूत नवीन अलंकार है। इसका उदाहरण यह दिया है –

मदन तात कहि कवन, सुरगपुनि कवन रमत वर।
धर जन चाहत कवन. हत्या करि कवन पंच सर।।[4]

इन पंक्तियो मे चार प्रश्न आये हैं—मदन (कामदेव) का पिता कौन है ? स्वर्ग मे रमण कौन करता है ? इस पृथ्वी पर मनुष्य क्या चाहता है ? और कामदेव की हत्या किसने की ? इन सभी प्रश्नो के उत्तर प्राप्त करने के लिए क्रमश: प्रत्येक चरण के आदि अन्त के वर्णो को जोडना पड़ेगा। उनसे उत्तर प्राप्त होंगे—मन, सुर, धन और हर (शिव)।

१. प्रति अक्षर आवृत्ति जहाँ वृत्या तहाँ वखानि।
उपनागरिका परुषा ऊकोमला त्रिविध बखानि।।
—अलंकारमणिमंजरी; दोहा ७५

२. हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास; (षष्ठ भाग) पृ० ४६८

३. कवितारसविनोद; ८-१६७

४. कवितारसविनोद; २३-२४

इसके बाद कपाटबन्ध, गोमूत्रिका, अश्वगति, त्रिपदी, चरणगुप्त, चौकीबन्ध, शतरंज-बंध, चक्रबंध, कमलबंध, हारबंध, धनुषबंध, खड्गबंध, सर्वतोभद्र, पर्वतबन्ध, कंकणबन्ध, डोरीबन्ध, नयबन्ध, वृक्षबन्ध, कलंगीबन्ध, घण्टाबन्ध, नागबन्ध, छत्रबन्ध, गतागत चित्र, गतागत सर्वतोभद्र, हलकुण्ड और पाजिबबन्ध के उदाहरण दिये हैं।

इस ग्रंथ में कुछ मौलिकता है। सिंहावलोकन का वर्गीकरण, श्लेषगत अन्तर्लापिका बहिर्लापिका नामक अलंकार का आविष्कार इनकी देन है। 'इन जैसी मौलिकता हिन्दी के कम आचार्यों में दिखाई देती है।'[1] इसके अतिरिक्त मतिराम के काव्य की-सी मानसिक आनन्द की सृष्टि करने वाली हलकी तरंगें इनके काव्य की अपनी विशेषता है। शब्दालंकारों का प्रयोग प्रचुरमात्रा में होने के कारण इनकी छन्द योजना में एक निखार आ गया है।

(१६) रसिकगोविन्द दूषणोल्लास (१८५८ वि०)

हिन्दी-साहित्य सम्मेलन प्रयाग से रसिक गोविन्द का दूषणोल्लास नामक अधूराग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसमें शब्दालंकारों का विवेचन है। इन्होंने वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र को शब्दालंकारों के अन्तर्गत माना हैं। वक्रोक्ति के इन्होंने दो भेद किये हैं श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति। श्लेष वक्रोक्ति को भंग और अभंग वक्रोक्ति में बांटा गया है।[2] अनुप्रास के दो भेद किये हैं—छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास। छेकानुप्रास के भी दो भेद किये हैं—स्वर समता से युक्त और स्वरवैषम्य से युक्त।[3] अन्य अलंकारों के विवेचन के बाद अन्त में पुनरुक्तवदाभास का भी वर्णन किया है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें अलंकारों के लक्षण गद्य में दिये गये हैं और उनको अनेक उदाहरणों से समझाया है।

(१७) काशिराज--चित्रचन्द्रिका (१८८६ वि०)

रीतिकाल में ऐसे आलंकारिक भी हुए हैं जिन्होंने केवल चित्रालंकार को माध्यम मानकर ग्रन्थों की रचना की है। काशिराज बलवानसिंह ऐसे ही आचार्य हैं। काशिराज ने चित्रालंकार का जितना विस्तृत विवेचन किया है उतना संस्कृत काव्यशास्त्र में भी नही

---

१. हिन्दी में शब्दालंकार विवेचन; पृ०; ११४
२. दूषणोल्लास; पृ० ८८
३. वही; पृ० ८६

हो सका है। ग्रंथकार ने चित्रालंकार के विविध रूपों को समझाने के लिए अनेक छन्दों एवं गद्यमय टीका का भी सहारा लिया है।

चित्र चन्द्रिका में ६ प्रकाश हैं। मङ्गलाचरण के पश्चात् चित्रकाव्य के सामान्य नियमों का उल्लेख किया है—चित्र एक अथाह समुद्र है, इसकी थाह कोई भी कवि नहीं पा सकता है। मैं अत्यन्त बुद्धिहीन अन्य ग्रंथों का आश्रय लेकर ही इसका विवेचन कर रहा हूँ। चित्रालंकार मे विसर्ग तथा अनुस्वार से युक्त अथवा रहित अक्षरो को समान ही समझना चाहिये। र, ल, ड ; स, श, ष ; ब, व; य, ज मे कोई अन्तर नहीं मानना चाहिए। इस अलंकार में ह्रस्व-दीर्घ और क्रमभग का भी दोष नहीं माना जाता।[1] इसके पश्चात् काशिराज ने चित्रालकार के तीन भेद किये है—शब्दालकार चित्र, अर्थालकार चित्र और संकर चित्र। इनका यह वर्गीकरण[2] मौलिक है। शब्द चित्र के इन्होंने ६ भेद किये है—वर्ण, स्थान, स्वर, आकृति, गति और बन्धचित्र। जिस छन्द में एक व्यजन से लेकर चार व्यंजन तक, सर्वव्यंजन, स्वर और व्यंजनो का उपयोग हो उसे वर्णचित्र कहते हैं।[3] इसके इन्होंने ६ भेद किये है—एकाक्षर, द्वयाक्षर, त्र्यक्षर, चतुरक्षर, सर्वव्यजन और स्वर-व्यंजन चित्र।

स्थानचित्रों का विवेचन द्वितीय प्रकाश में किया गया है। इसके इन्होंने जिन ५ भेदो का उदाहरण सहित वर्णन किया है, वे है—निष्कण्ठ्य, निस्तालव्य निमूर्द्धन्य, निर्दन्त्य और निरोष्ठ।[4] तृतीय प्रकाश मे स्वरचित्र है। जहाँ लघु, गुरु और मात्राओ को ध्यान में रखकर रचना की जाती है वहाँ स्वरचित्र होता है।[5] स्वरचित्र तीन प्रकार के होते है—

---

१. चित्र समुद्र अगाध, कोऊ कवि थाह न ल्यायो।
मै अति ही बुधिहीन, कछुक ग्रंथन वल गायो॥
ऊध अरध बिनु बिन्दु, बिन्दुयुत एकहि जानो।
रल डल सष बव यजहि सकल समता करि मानो।
अक्षर मोटे पातरे इनके दोष न देखिये।
क्रम भंग नहीं चित्र; सो विचार उर लेखिये॥ —चित्रचन्द्रिका; १-३

२. इसी शोध प्रबन्ध में अन्यत्र देखिये;

३. चित्रचन्द्रिका; १-८

४. वही; २-१

५. वही; ३-१

सर्वगुरु, सर्वलघु और निर्मात्रिक। चतुर्थ प्रकाश में आकार चित्रों की विवेचना की गयी है। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न-आकार चित्रों और बंध चित्रो में क्या अन्तर है—का भी समाधान किया गया है। काशिराज लिखते है—किसी वस्तु का जैसा आकार ब्रह्मा ने रचा है, यदि उसी क्रम से उसमें अक्षरो की योजना हो तो उसे आकार चित्र कहते है।[1] इस क्रम को छोड़कर बुद्धिवल से किसी और क्रम की योजना से वन्धचित्र होता है।[2] उदाहरणार्थ कमल की उत्पत्ति पहले कोश फिर पत्र—इस क्रम से हुई है। इस क्रम ने बने चित्र को कमलाकार चित्र कहेगे, किन्तु जहाँ पहले पत्रों में वर्णों की योजना की जावेगी एवं वाद मे कोश स्थान मे वर्णों का न्यास होगा तो वहाँ कमलबन्ध चित्र माना जावेगा। पंचम प्रकाश मे गतिचित्रो का विवेचन है। जो छन्द व्यस्त, गतागत समस्त अथवा अश्वगति से रचा जाता है उसे गति-चित्र कहते हैं।[3]

षष्ठ प्रकाश मे वन्धचित्रों का विवेचन किया गया है। वन्धचित्रो के दो भेद हैं—आकृतिवन्ध और गुणवन्ध। आकार वन्धचित्रों में कवि पुष्पफल आदि वनाकर उसमे अक्षरों की योजना करता है और गुणवन्ध मे नाम अथवा भाषा के आधार पर वन्ध की योजना की जाती है। आकार वन्ध चित्रो में कमलाकार,चामराकार हलकी फूंडीवन्ध, मुष्टिकाकार, कमठाकार, त्रिपदीवन्ध, द्विचतुष्क चक्रवन्ध, विविडित चक्रवन्ध, विडिकावन्ध, द्विशृंगाटकवन्ध, छत्रवन्ध, पताकावन्ध, ध्वजावन्ध, चौपड़ वन्ध, चरणगुप्तगुप्तोत्तर निरोष्ठ्य, मुरज-वन्ध, धनुषवन्ध, खड्गवन्ध, मालावन्ध, मयूरवन्ध, कामधेन्वाकार आदि प्रमुख हैं। गुणवन्धो मे नामगुणवन्ध, भाषाछल, गुण छल, कल्पवृक्ष गुणवन्ध, अन्तर्गतपाठवन्ध और शतधेनु गुण-वन्ध का विवेचन किया गया है।

अष्टम प्रकाश में अर्थचित्र हैं, जिनमे एकाक्षरादि प्रहेलिका, गूढकाव्य, सूक्ष्मालकार वहिर्लापिका, अन्तर्लापिका, गूढोत्तर, प्रश्नोत्तर, एकानेकोत्तर, अपह्नुति और श्लेष का विवेचन किया गया है। नवम प्रकाश में सकरचित्र है। जहाँ अर्थचित्र और शब्दचित्र—दोनों का

---

१. जो आकृतिविधि ने रची, ताही क्रम अनुसार।
न्यास वर्ण को कीजिये, सो जानो आकार॥ —चित्रचन्द्रिका; ३-३

२. या क्रम को तजि वुद्धिवल, कीजै और प्रकार।
वर्णन्यास जा चित्र में, सोई वन्ध विचार॥ —वही; ३-५

३. व्यस्त समस्त गतागतहि और अश्वगति जान।
इहि विधि रचिये छन्द जहँ, सो गतिचित्र वखान॥ —वही; ५-१

समन्वय हो वहाँ संकरचित्र होता है।[1] संकर चित्रालंकार में केवल यमक का ही विवेचन किया गया है। इसके औचित्य के विषय में उनका कथन है—मम्मट के मतानुसार शब्द और अर्थ का समान चमत्कार देखकर ही यमक को संकर के अन्तर्गत है।[2] काशिराज ने यमक के दो भेद माने है शब्द यमक और अर्थयमक। इन दोनों के सव्यपेत और अव्यपेत—ये दो भेद किए गये है जहाँ एक ही छन्द में शब्द यमक और अर्थ यमक की पुनरुक्ति होती है वहाँ संकर यमक होता है।[3]

चित्रालकार का जितना विस्तृत विवेचन काशिराज ने किया है उतना न तो इससे पूर्व हुआ और न पश्चात् ही। इससे चित्रालंकार के प्रति जो हेयता का भाव संस्कृत काव्य शास्त्र मे पैदा हो गया था वह नष्ट प्राय: हो जाता है और हिन्दी मे चित्रालंकार विवेचन के प्रति आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। यही कारण है कि ईश्वरकवि ने भी केवल चित्रालंकार का ही विवेचन किया है। हिन्दी मे चित्रालंकार का सब शब्दालंकारों की अपेक्षा अधिक विस्तार और मौलिकता से विवेचन हुआ है इसका श्रेय काशिराज को ही है।'[4] चित्र चन्द्रिका अपने ढंग की अपूर्व रचना है। इसमें लेखक के पाण्डित्य, विशद अध्ययन तथा तथा सफल आचार्यत्व का प्रमाण पद-पद पर मिल जाता है। गद्यमयी व्याख्या ने विपय को सुबोध वनाने में विशेष सहायता दी है।' यद्यपि चित्रकाव्य और चित्रालकार आधुनिकों को आकृष्ट नही करते फिर भी इस पुस्तक की उपादेयता में मतभेद नही हो सकता।'[5] संस्कृत प्राकृत, हिन्दी तथा फारसी आदि भाषाओं के गंभीर अध्ययन एवं मनन की इस पुस्तक पर छाप है। छप्पय, दोहा, सोरठा, कवित्त, तोमर, कुण्डलियाँ, चौपाई आदि अनेक छन्दों का इसमें व्यवहार है, इससे चित्रकाव्य का कठिन विषय भी ललित वन गया है। इस पुस्तक के विवेचन मे जीवन की विविधता की भी छाप है। 'धर्म, समाज, पशु पक्षी, खेती वाड़ी के औजार, युद्ध सामग्री, पुष्पगृह द्वार तथा शृंगार सामग्री तक इसके विपयो की क्षेत्र-सीमा है। चित्रालंकार मानव जीवन के सर्वथा निकट स्थान रखता है और उसकी शब्दगत अभि-

---

१. शब्द अर्थ को चित्र सम जहँ बरनिये मित्र।
अधिक न्यून हो बैन जहँ सो संकर हैं चित्र॥ —चित्रचन्द्रिका; ६-१

२. शब्द अरु अर्थ दुहुन को, चमत्कार सम देखि।
यमक चित्र संकर लिख्यौ, मम्मट मत अवरेखि॥ —वही; ६-७

३. वही; ६-१२

४. हिन्दी में शब्दालंकार-विवेचन; पृ० १२०

५. हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास (षष्ठ भाग); पृ० ४७६

व्यक्ति करता है। बौद्धिक सन्तोष ही नहीं, इसी बौद्धिक व्यायाम के बल पर मनस्तोष की उपलब्धि भी होती है।'[1]

(१८) ईश्वर कवि - चित्रचमत्कृत कौमुदी (१८६० वि०)

बलवानसिंह की ही भांति ईश्वर कवि ने ६ रश्मियों से युक्त चित्र-चमत्कृत कौमुदी नामक अलंकार ग्रंथ लिखा, जिसमे केवल चित्रालंकारों का विवेचन है। इन्होने चित्रालंकार के दो भेद किये हैं—श्रोति और दृष्टि। जिसे सुनकर आनन्द प्राप्त हो उसे श्रोति और जिसे देखकर आनन्द की प्राप्ति हो उसे दृष्टि-चित्र कहते हैं।[2] श्रोति-चित्र के इन्होने ५ भेद किये हैं—लघु मात्रिक, निर्मात्रिक, निरोष्ठ्य, उत्तर और मिश्रितवाणी। उत्तर चित्र के कई भेदोपभेदों का विवेचन भी किया है।

श्रोति दृष्टि मध्यग का विवेचन द्वितीय रश्मि में किया गया है। जहाँ श्रोति और दृष्टि दोनों का सम्मिश्रण होता है उसे श्रोति दृष्टि मध्यग चित्र कहते है। इसी को मिश्रित-वाणी भी कहा जाता है।[3] इसके ६ भेद हैं—देववाणी, नागवाणी, प्रेतवाणी, मनुष्यवाणी, यमनवाणी और राक्षणवाणी। तृतीय रश्मि में दृष्टि चित्र के चार भेदों का उल्लेख है। ये है—दैवी, शस्त्र, स्थावर और पशु दृष्टि चित्र। दैवी चित्रों के अन्तर्गत पुरुषोत्तम वासुदेव वन्ध, गणपतिवन्ध, परमेष्ठी वन्ध, पिनाकीवन्ध, हरिमर्कटी वन्ध, हनुमान बन्ध, और शारदा बन्ध का विवेचन हुआ है। चतुर्थ-रश्मि में शस्त्र चित्रों का विवेचन है। खड्ग आदि वन्ध जब छन्द मे भरकर चित्र में लिखे जाते है तो इन्हें शस्त्र दृष्टिवन्ध चित्र कहते है।[4] खड्ग वन्ध, चर्मवन्ध, धनुषवन्ध, चक्रवन्ध, त्रिशूलवन्ध, चतुर्भुपण्डी बन्ध और परशुवन्ध ऐसे ही शस्त्र दृष्टि बन्ध चित्र हैं। पचम रश्मि में स्थावर चित्रों का समावेश हुआ है। जहाँ पर्वत, मन्दिर वृक्ष, पुष्प आदि के वन्ध मे छन्द भरे जाते है वहाँ स्थावर चित्र होते

---

१. रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन; पृ० १४०

२. सोइ पुनि द्वै विधि जानियो, स्रोती दृष्टि जानि।
   स्रोती सुनतहि सुष बढ़त, दृष्टि देषत मानि॥
   —चित्रचमत्कृतकौमुदी; १-५

३. स्रोती दृष्टि दुहुन में रहै सुमध्यम जानि।
   ताई कों सब कहत है, ईश्वर मिश्रित बानि॥ —वही; २-१

४. वही; ४-१

है।[1] इसमें पर्वतबन्ध, मठबन्ध, कदलीबन्ध, कमलबन्ध, मनाल कमलबन्ध, कामधेनुबन्ध, चौसरबन्ध, डमरुबन्ध, मन्त्रबन्ध, सर्वतोभद्र और आरामबन्ध का विवेचन है। षष्ठ रश्मि में अहिराज, गरुड़, मूषक, गज, मराल केहरी, अश्व और नन्दीश्वर जैसे पशुबन्ध चित्रों का विवेचन हुआ है।

ईश्वर कवि ने चित्रालंकारों को समझने के लिए उनकी टीका भी दे दी है जिससे उनकी दुरूहता समाप्त हो गई है। यद्यपि बलवानसिंह के समान इन्होंने चित्रालंकारों की सीमा नहीं बढ़ाई है तथापि प्रसिद्ध चित्रों का विवेचन किया है वह व्यवस्थित एवं सुन्दर है। इनका चित्रालंकार विवेचन 'पर्याप्त व्यवस्थित एवं मौलिक है'[2] पर परवर्ती हिन्दी आचार्यों ने इनका अनुकरण नहीं किया।

(१६) गिरिधरदास—भारतीभूषण (१८६० वि०)

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पिता बाबू गोपालचन्द्र गिरिधरदास गिरिधर या गिरिधरन के नाम से कविता करते थे। इनके लिखे हुए ४० ग्रन्थ माने जाते है। भारती भूषण इनका अलंकार ग्रंथ है। यह मात्र ३६ पृष्ठों की एक लघु पुस्तक है जिसमें ३७८ दोहों में कुवलयानन्द के आधार पर अलंकार निरूपण हुआ है। गिरिधरदास ने अर्थालंकार के बाद दो शब्दालंकारों का वर्णन किया है। ये हैं—अनुप्रास और यमक। इन्होंने अनुप्रास के ५ भेद माने हैं छेकानुप्रास वृत्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास और लाटानुप्रास। इन्होंने वृत्यनुप्रास का नया वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। उसमें शब्दों के क्रम और अक्रम पर ध्यान दिया गया है।[3] इसी तरह यमक का वर्गीकरण भी मौलिक है। उसको खण्ड और अखण्ड नामक दो भागोंमें बाँटा गया है।[4]

---

१. पर्वत मन्दिर आदि दै, वृक्ष पुष्प लिखि चित्र।
तामें भरियै छन्द सो, थाक्री चित्र बिचित्र॥

—चित्रचमत्कृतकौमुदी; ५-१

२. हिन्दी में शब्दालंकार-विवेचन; पृ० १२२

३ समता बहुव्यंजन की, जहँ बिनु क्रम इक बार।
कै क्रम सो बहुवार तहँ वृत्ति अलंकृति चारु॥

—भारती भूषण; दोहा ३५५

४. जमक सोइ है दोय विधि, इक अखंड इक खण्ड।

—वही; दोहा ३७२

नवीनता की दृष्टि से इस ग्रंथ का महत्त्व है। भारती भूषण की कविता रस भी तथा मधुर है।

(२०) ग्वाल—अलंकार भ्रमभंजन (१६०० वि०)

रीतिकाल के अन्तिम कवियों मे ग्वाल का अपना विशेष महत्त्व है। इनके ६ ग्रन्थ माने जाते हैं किन्तु दुर्भाग्य से आज इनमें से कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। अलकार भ्रम भंजन का प्रकाशन सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने 'व्रज भारती' में कराना प्रारम्भ किया था किन्तु केवल ७१ छन्द ही छप सके। अलंकार भ्रम भजन का कलेवर कितना है एव इसके अन्तर्गत किन-किन अलंकारों का निरूपण है—यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। प्रकाशित अंश में केवल चार शब्दालकारों—अनुप्रास, यमक, चित्र और पुनरुक्तवदाभास का विवेचन हुआ है। ग्वाल ने अर्थालकारों से पूर्व शब्दालंकारों का विवेचन सकारण किया है। उनका कथन है कि अर्थ सदैव शब्दाश्रित होते हैं, अत. अर्थालंकारो से पहले शब्दालकारो का विवेचन युक्ति संगत है।[1] ग्वाल ने अनुप्रास के तीन भेद माने हैं—छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास और लाटानुप्रास।[2] इन्होने यमक के भेद नही किये हैं। चित्रालकार को इन्होने अधम काव्य की संज्ञा दी है। अतः उसका विवेचन भी अनावश्यक समझा है।[3] पुनरुक्तवदाभास का विवेचन परम्परागत है।

'ग्वाल के विवेचन-शैली की विशेषता यह है कि इन्होंने लक्षण और उदाहरण यद्यपि कुवलयानन्द और चन्द्रालोक की शैली पर दिये हैं, पर यदि विषय स्पष्ट होता हुआ नही दिखाई दिया तो व्रजभाषा गद्य में उसकी व्याख्या भी करदी है। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि इस व्यक्ति ने आचार्य कर्म को अत्यन्त मनोयोग के साथ ग्रहण किया है। जहाँ तक कवित्व का प्रश्न है ग्वाल का महत्व अपेक्षाकृत कम है।'[4]

---

१. होत शब्द के आसरे अर्थ सुनो बुध लोग।
इमि सब्दालंकार को करी प्रथमहि जोग॥
—अलंकार भ्रम भंजन; दोहा १७

२. छेका वृत्या लाटा आगे कहि अनुप्रास।
—अलंकार भ्रम भंजन; दोहा १८

३. वही; दोहा ३०-३१

४. हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास (षष्ठ भाग); पृ० ३८२

काव्यशास्त्र के विकास में रीतिबद्ध आचार्यों का योगदान

संस्कृत आचार्यों के तीन वर्ग प्रसिद्ध रहे हैं (१) उद्भावक आचार्य—जैसे भरत, वामन, कुन्तक आदि, (२) व्याख्याता आचार्य-जैसे मम्मट, विश्वनाथ आदि और (३) कवि शिक्षक जैसे जयदेव, अप्पय दीक्षित आदि।[1] हिन्दी के रीतिबद्ध आचार्य इसी तीसरी कोटि के हैं। उनका काम, शास्त्र की परम्परा को सरस रूप से हिन्दी में अवतरित करना था और निश्चय ही वे इस कार्य में पूर्ण सफल हुए। बौद्धिक ह्रास के उस अंधयुग में काव्य के अलंकार जैसे पक्ष को उजागर करने वाले इन आचार्यों ने शृंगार की ऐसी अविछिन्न धारा बहाई कि उसका प्रभाव पूरी दो शताब्दियों के बाद तक स्पष्ट रूप से देखा जा सकता हैं सचमुच इन आचार्यों ने संस्कृत काव्यशास्त्र को जनसाधारण तक पहुँचाने एवं इसके लिए जनभाषा का प्रयोग करने का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उन्होंने तो बड़ी स्पष्टता से यह स्वीकार किया है कि वे पुरानी लीक का अनुसरण करना पसन्द नहीं करते। केशव जैसे महान प्रतिभाशाली आचार्य ने भी यह स्वीकार किया है कि उन्होंने आचार्यत्व प्रदर्शन के लिए नहीं अपितु सामान्य व्यक्तियों के लिए ही अपने कविप्रिया जैसे ग्रंथ की रचना की है।[2] वस्तुतः शृंगार को रसराजत्व एवं शब्दालंकार को अलंकार शिरोमणि बनाने का गौरव इन्हीं आचार्यों को प्राप्त है। गुजरात में कच्छभुज की ब्रजभाषा पाठशाला के आचार्यों एवं कवियों ने भी काव्यशास्त्रीय ग्रंथ लिखकर रीतिबद्ध-परम्परा को गति प्रदान की।

सामूहिक योगदान के मूल्यांकन में इन आचार्यों के कुछ दोषों एवं विशेषताओं पर भी दृष्टिपात अपेक्षित है। सर्व प्रथम इन आचार्यों के सिद्धान्त प्रतिपादन में मौलिकता का अभाव है। हिन्दी के ये रीतिकालीन आचार्य किसी विशेष नवीन सिद्धान्त का आविष्कार नहीं कर सके। कुछ थोड़ी जो नवीनता की झलक दिखाई भी दे जाती है उनका आधार स्रोत भी किसी न किसी संस्कृत ग्रंथ में मिल जाता है। 'संस्कृत के काव्यशास्त्र की प्रवृत्ति तो भेद विस्तार की ओर पहले से ही इतनी अधिक थी कि अब उस क्षेत्र में कोई विशेष अवकाश नहीं रह गया था।'[3] जहाँ संस्कृत के आचार्यों ने प्रायः आचार्यत्व और कविकर्म

---

१. वही; पृ० ४६७
२. कविप्रिया; ३-१
३. हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास (षष्ठ भाग); पृ० ४६४

को प्रथक् रखा था वहाँ हिन्दी के आचार्य-कवियो ने दोनों को मिला दिया। इससे काव्य की वृद्धि तो हुई किन्तु काव्यशास्त्र का विकास नही हुआ। इसके अतिरिक्त इन आचार्यो का विवेचन अस्पष्ट, उलझा हुआ एवं अधूरा है। इनके लिए शास्त्र ज्ञान का निर्भ्रान्त न होना, साहित्य के सूक्ष्म गंभीर प्रश्नों के समाधान के लिए केवल पद्य का सहारा लेना एवं तत्कालीन परिस्थितियाँ उत्तारदायी है। वस्तुतः रीतिकाव्य जिस वातावरण में लिखा जा रहा था उसके लिए काव्यशास्त्र का सामान्य ज्ञान ही अपेक्षित था। 'हिन्दी में गद्य का अभाव भी एक वहुत वड़ी परिसीमा थी। कुछ आचार्यो ने अपनी वृत्तियों में गद्य का सहारा लिया है किन्तु व्रजभापा का यह असमर्थ गद्य उनके मन्तव्य को सुलझाने की अपेक्षा और उलझाने में ही प्रवृत्त हुआ।'[1]

इतना सव कुछ होते हुए भी रीतिकालीन शब्दालंकार विवेचक आचार्यो का हिन्दी काव्यशास्त्र को अपना विशिष्ट योगदान रहा है। उनकी सम्पूर्ण उपलब्धियाँ संस्कृत काव्य-शास्त्र का पिष्टपेषण नहीं है। शब्दालंकारों का संख्या निर्धारण, उनका सक्रम-संयोजन एवं उनके भेदों का विवेचन अपने आप में एक स्वतन्त्र चिन्तन रहा है। 'चित्रालंकार के विवेचन में तो हिन्दी के ये रीतिकालीन आचार्य सस्कृताचार्यो से कई कदम आगे निकल गए।'[2] काशिराज और ईश्वर-कवि तो इस दिशा में रीतिकाल के गौरव-स्तम्भ हैं।

सारांश

रीतिकालीन आचार्यो ने शब्दालंकारों की संख्या उनके क्रम एवं वर्गीकरण के विपय में किसी विशेप सिद्धान्त या नियम का पालन का नहीं किया। संस्कृत काव्य-शास्त्र मे शब्दालंकारो की कुल सख्या २८ मानी जाती रही है, पर रीतिकाल के प्रथम आचार्य केशव ने केवल तीन शब्दालकारों का विवेचन किया है। इसी तरह केशव के समकालीन आचार्य जसवन्तसिह ने केवल अनुप्रास को ही अपने विवेचन में स्थान दिया। अन्य आचार्यो ने भी शब्दालंकारो की संख्या घटाई वढ़ाई पर उसका कारण नहीं दिया। यही वात क्रम के विपय मे है। कुलपति आदि आचार्यो ने वक्रोक्ति को प्राथमिकता दी तो पदुमनदास ने चित्र को। चित्रालंकार को 'भापा जोग' न मानते हुए भी एवं उसमें 'रस का हुलास'

---

१. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास (पष्ठ भाग) पृ० ४९६
२. हिन्दी में शव्दालंकार-विवेचन; पृ० १५१

न होने पर भी रीतिकालीन आचार्यों ने इसका जितना विस्तृत एवं सांगोपांग विवेचन किया है, उतना दूसरे शब्दालंकार का नहीं।

काव्यशास्त्र के विकास में रीतिबद्ध आचार्यों का अपना विशिष्ट योगदान है। उन्होंने हिन्दी में संस्कृत के दुरूह काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों को प्रस्तुत करके जनसाधरण की बौद्धिकता को खाद्य देकर अनुपम कार्य किया है। यद्यपि इस कार्य में मौलिकता, स्पष्टता एवं पूर्णता का अभाव रहा है पर इसके लिए आचार्यों को दोष नहीं दिया जा सकता राजन्य-संस्कृति के ध्वन्सावशेष में शब्दालंकार की जो सुमधुर वाटिका वे निर्मित कर सके एवं विद्वानों की भ्रमरावलि को उसके रस मकरन्द का पान करने के लिए आकर्षित कर सके, यह क्या कम उपलब्धि है ?

इन आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित शब्दालंकार के सिद्धान्तों का व्यावहारिक एवं प्रयोगात्मक स्वरूप हमें रीतिसिद्ध कवियों के काव्य में दृष्टिगोचर होता है।

अष्टम परिच्छेद

रीतिसिद्ध काव्य में शब्दालंकार

अष्टम-परिच्छेद

रीतिबद्ध काव्य में शब्दालंकार

रीतिबद्ध आचार्य-कवियों का काव्य, रीतिकाव्य की बँधी हुई परिपाटी में कवि-शिक्षा का आदर्श माना जाता रहा किन्तु रीतिसिद्ध कवि, रीतिकाव्य की परम्परागत परिपाटी में आस्था रखते हुए भी लक्षणग्रन्थों के प्रणयन में लीन नहीं हुए वरन् स्वतन्त्र रूप से लक्ष्य ग्रंथों के द्वारा अपनी प्रतिभा का परिचय देते रहे एवं रसमर्मज्ञ, रससिद्ध कवि का अभिधान प्राप्त करते रहे। अतः रीतिसिद्ध उन कवियों को कहा गया जिन्होंने लक्षण ग्रन्थ तो नहीं लिखे किन्तु जिन्होंने 'रीति' की परम्परा का अपने काव्य में अनुसरण किया।

रीतिसिद्ध काव्य की सामान्य विशेषताएँ

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक रीतिसिद्ध कवियों को 'रीतिबद्ध काव्य-कवि' की संज्ञा देते हुए स्पष्ट करते हैं—'काव्य-कवि' पद का प्रयोग उन कवियों के लिए कर रहे हैं जो रीतिकाल की बंधी हुई परिपाटी में आस्था रखते हुए भी लक्षण ग्रन्थों के प्रणयन में लीन नही हुए[१]।' रीतिबद्ध आचार्य और रीतिसिद्ध कवियों के मध्य विभाजक रेखा स्पष्ट है। दोनों की प्रणाली और ध्येय में अन्तर है। बिहारी जैसे रीतिसिद्ध कवि स्वतन्त्र रूप से कवित्व के अभिलाषी थे। कवि गौरव ही उनका ध्येय था। कवि-शिक्षक होने की उन्होंने कभी चेष्टा नहीं की।

रीतिसिद्ध कवियों की दूसरी विशेषता यह है कि वे कवित्व के लोभ में चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ कहने में अपनी लेखनी को लीन रखते हैं। इस बात की वे चिंता नहीं करते कि उनकी उक्ति किसी लक्षण विशेष के लिए अनुकूल होगी या नहीं। चमत्कार एवं मार्मिक शब्दावलियों ने सिंहासन ग्रहण कर लिया और लक्षण किसी अवनिका के पीछे जा छिपे। जीवन की भीतरी एवं बाहरी भूमिकाओं को स्पर्श करने वाली कविता करने की कला इन कवियों को सिद्ध थी। यदि लक्षण ग्रंथ लिखने की चेष्टा में ये लग जाते तो रस धारा प्रवाहित करने में असमर्थ रहते। 'स्वतन्त्र उद्भावना के लिए जितना अवकाश इन काव्य-कवियों के पास था उतना लक्षणकार आचार्यों के पास नही था। इन कवियों ने काव्य के कला-पक्ष

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (षष्ठ भाग); पृ० ५०२

और भाव-पक्ष को समान रूप से ग्रहण किया। स्वतन्त्र उद्भावनाओं के कारण मौलिकता की भी इनमें अधिक मात्रा है, पिष्टपेषण या चर्वित-चर्वण अपेक्षाकृत न्यून है[१]।'

रीतिसिद्ध कविता में संस्कृत की काव्यशास्त्रीय-परंपरा केवल पृष्ठ-भूमि के रूप में प्रयुक्त हुई है। 'इन कवियों का सम्बन्ध संस्कृत की शृंगार-मुक्तक परम्परा से है जहाँ मुक्तक शैली की स्वतन्त्र रचना में ऐहिक जीवन के मार्मिक चित्र अंकित किए जाते हैं, जो पाठक को रस मग्न कर आनन्द विभोर बना देते हैं[२]।' मुक्तक काव्य की यह परम्परा ऋग्वेद में मिलती है। उसी का क्रतिम विकास लौकिक संस्कृत, प्राकृति आदि के साहित्य में हुआ। रीतिकालीन रीतिसिद्ध कवियों की मुक्तक परम्परा का सम्बन्ध संस्कृत और प्राकृत की इसी शृंगार मुक्तक-परम्परा से जुड़ा हुआ है। मुक्तक काव्य के दो विभाग किए जा सकते हैं—भाव मुक्तक तथा चमत्कार मुक्तक। भाव मुक्तक के अन्तर्गत हम भक्त कवियो की पदावली से लेकर आजतक के गीतों को ले सकते हैं और चमत्कार मुक्तक मे हम संस्कृत प्राकृत से चली आई शृंगारिक सप्तशती तथा शतक आदि में सूक्ति परम्परा ले सकते है, जिसका अवतरण रीतिकाल के रीतिसिद्ध कवियों की कविता में हुआ। रीतिसिद्ध कवियों ने हाल की गाथा सप्तशती, गोवर्धन की आर्यासप्तशती तथा अमरुक के अमरुक शतक से स्पष्टतः प्रभाव ग्रहण किया है। बिहारी सतसई में उपर्युक्त ग्रंथों की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। सेनापति, बिहारी, बेनी आदि कवि अधिकांशतः राज्याश्रित रहे, जहाँ फारसी के कवियों के समक्ष अपनी काव्य प्रतिभा प्रदर्शित करने के लिए अत्यधिक सजकता और चातुर्य से काम लेना पड़ता था। इन कवियों में हृदयस्पर्शी भावुकता, कौतुक कला और श्लेष चमत्कार की अद्भुत क्षमता थी। ये कवि मुख्यतः रसध्वनिवादी है।

रीतिसिद्ध कवियों ने शब्दालंकार को आचार्य कवियों की भाँति ग्रहण नहीं किया वरन् अलंकारों की योजना अपने लक्ष्य ग्रन्थों में इस रूप में की है कि उनमें से अलंकारों का चयन किया जा सकता है। अग्रिम पृष्ठों में हम इस धारा के कुछ प्रमुख कवियों की चर्चा करेंगे।

रीतिसिद्ध कवि और उनका काव्य

(१) सेनापति—कवित्तरत्नाकर (१७६० वि.)

कवित्तरत्नाकर सेनापति की वह उत्कृष्ट रचना है जिसने हिन्दी रीतिकाव्य को

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (षष्ठ भाग); पृ० ५०२

२. वही; पृ० ५०३

अत्यधिक प्रभावित किया है। ये बड़े सहृदय कवि थे। सेनापति की कविता का प्रमुख गुण श्लेष चमत्कार है। 'श्लेषालंकार का जितना प्रयोग कवि सेनापति की रचनाओं में मिलता है उतना हिन्दी के कम कवियों में पाया जाता है[1]।' नीचे दिए गए कवित्त में यमक और श्लेष की सहायता से चमत्कार उत्पन्न किया गया है—

> जाकी जोति पाई जग रहत जगमगाई,
> पाइन पद्मिनी समूह परसत है।
> जाके देखें अन्तर कमल बिगसत चैन,
> पाइ के खुलत नैन सुख सरसत है।
> धाम को है निधि जाके आगे चन्दमन्द द्युति,
> रूप है अनूप मध्य अम्बर लसत है।
> मूरति सरस सब बार है लसति जाकी,
> सोई मित्त सेनापति चित में बसत है[2]।

इस उदाहरण में मित्र और सूर्य दोनो पक्षों का निर्वाह हुआ है।

सेनापति का ऋतुवर्णन सर्वाधिक उत्कृष्ट है। कवित्त रत्नाकर की तीसरी तरङ्ग ऋतुवर्णन सम्बन्धी सुन्दर छन्दों से युक्त है। अनुप्रास और यमक के मणिकांचन संयोग ने प्रत्येक छन्द प्रकृति का सजीव चित्र प्रस्तुत करता है। यथा—

> केतिक असोक नव चंपक बकुल कुल,
> कौन धौं बियोगिनी कौं ऐसो बिकराल है।
> सेनापति सांवरे की सूरति-सी सुरति की,
> सुरति कराई करि डारत बिहाल है[3]।

चित्रालंकार के भी सुन्दर प्रयोग कवित्त रत्नाकर में पाये जाते हैं। एक छन्द में कमलबन्धोत्तर का उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए कवि ने दस प्रश्न पूछे हैं। अन्तिम प्रश्न का उत्तर 'सन्त इक माधव सरन' है औरइसी उत्तरमें शेष नौ प्रश्नों के उत्तर समाहित हैं। यह छप्पय इस प्रकार है—

> कहा जगत आधार ? कहा आधार प्रान कर ?
> कहा बसत विधु मध्य ? दीन बीनत कह घर घर ?

---

१. महाकवि मतिराम—डॉ. त्रिभुवनसिंह; पृ० ८७
२. कवित्त रत्नाकर (पहली तरंग) छन्द; ७३
३. कवित्त रत्नाकर (तीसरी तरंग) छन्द; ५

कहा करत तिय रुसि ? कहा जाचत जाचक जन ?
कहा दरसत मृगराज ? कहा कागर कौं कारन ?
धीर बीर हरषत कहा ? सेनापति आनन्दघन ?
चारि वेद गावत कहा ? अन्त एक माधव सरन[1] ।

उपरोक्त छन्द के उत्तर का अन्तिम वर्ण दशवें प्रश्न के उत्तर का अन्तिम वर्ण (न) है। 'न' में दसवे प्रश्न के उत्तर के पहले, दूसरे, तीसरे आदि वर्णो को जोड़ देने से क्रमशः प्रश्नों के उत्तर (अन, तन, एन, कन, मान, धन, वन, सन और रन) प्राप्त होते हैं।

सेनापति की कविता मे अनुप्रासिकेता, उक्ति चमत्कार, भाषा-माधुर्य और गत्यात्मक छन्द-योजना के दर्शन होते है। ऋतुवर्णन तो इनके ऐसा और किसी श्रृंगारी कवि ने नहीं किया। 'एक ओर इनमें पूरी भावुकता थी वैसे ही दूसरी ओर चमत्कार लाने की पूरी निपुणता थी[2]।'

(२) विहारी—विहारी सतसई (१७०४ वि)

रीतिकालीन श्रृंगाररस के मुक्तक ग्रथो में विहारी सतसई से अधिक प्रचार और किसी ग्रथ का नही हुआ। 'सात सौ दोहों के आधार पर इतनी ख्याति अर्जित करने वाला दूसरा और कवि हिन्दी साहित्य में नही है[3]।' लगभग ५० से अधिक टीकाओं का सृजन यह उद्घोषित करता है कि रामचरितमानस के उपरान्त विहारी सतसई ही एक ऐसा ग्रंथ है जो रस मर्मज्ञो को आकर्षित कर सका है। हिन्दी, संस्कृत, फारसी, गुजराती उर्दू आदि अनेक भाषाओ मे इसकी टीका लिखी गई हैं। विहारी सतसई की प्रशसा पाश्चात्य विद्वानों ने भी की है। सस्कृत मे इसके अनुवाद को देखकर कुछ लोगों को यह भ्रम भी हुआ है कि सतसई मूलत सस्कृत मे लिखी गई थी।। वैसे इस ग्रथ पर गाथा सप्तशती आर्यासप्तशती और अमरुक शतक का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव अवश्य पड़ा है।

सतसई विहारी का लक्ष्यग्रन्थ है। रीति की आत्मा ग्रन्थ में इस प्रकार अवतरित हुई है कि रीति कवियों में बिहारी सिरमौर हो गए हैं। शब्दालंकारो की दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि विहारी जैसे काव्यशिल्पी की कविता निरलंकृत नहीं हो सकती, किन्तु अलंकारो का वर्णन उनका प्रधान ध्येय न होने से सतसई में सभी प्रमुख

---

१. कवित्त रत्नाकर (पांचवी तरंग) छन्द; ६७
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आ० शुक्ल (सं० २०१६ वि०); पृ० २१६
३. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास (षष्ठ भाग); पृ० ५१४

शब्दालंकारो का भेद-प्रभेद पूर्वक वर्णन नहीं मिलता। अलंकारों के विषय में उनका मत दर्शनीय है—

करत मलिन आछी छबिहिः हरनजु सहज बिकास।
अंगराग अंगनु लगै, ज्यों आरसी उसास।[1]

उनकी दृष्टि में ऊपर से लादे हुए अलंकार भारस्वरूप एवं व्यर्थ है, किन्तु उनकी कविता में स्वच्छन्द रूप से अलंकारों का प्रयोग हुआ है। उनके प्रत्येक दोहे मे उक्ति वैचित्र्य के साथ शब्दालंकारो की सुन्दर योजना हुई है। चमत्कार के लिए कही शब्दालंकार का सहारा लिया गया है तो कहीं शब्दालंकार को ही चमत्कार के भीतर अन्तर्हित कर दिया है। अनुप्रास का एक उदाहरण देखिये—

नभ लाली चाली निसा, चटकाली धुनिकीन।
रतिपाली आली अनत, आए वन माली न।[2]

अनुप्रास के लिए एक साथ ६ शब्दो का प्रयोग होने पर भी नायिका की विरह वेदना में कोई बाधा नहीं पहुंचती। 'शब्दालकार केवल शब्दो के चमत्कार के लिए ही नही, अर्थ की रमणीयता के लिए भी होते है, यह बिहारी के काव्य से विदित होता है।'[3] यथा—

रस सिंगार मंजन किए, कंजनु भंजनु दैन।
अंजन रंजन हू बिना, खंजन गंजन नैन।[4]

इस उदाहरण मे उपनागरिका वृत्ति के माधुर्य की प्रतीति प्रत्येक शब्द से पृथक्-पृथक् भी होती है और समूचे अर्थ मे भी रमणीता भरी हुई। 'बिहारी में शब्द मैत्री, वर्ण मैत्री तथा वर्णावृत्ति के चमत्कार, दोहों में एक चमक भर देते है और बहुत-से लोग तो उनके काव्य पर इन्ही विशेषताओं के कारण लट्टू हैं।'[5] यह सर्व विदित है कि ये विशेषताएं सबसे पहले प्रभाव डालती हैं। 'ट' जैसे वर्ण की आवृत्ति से उत्पन्न चमत्कार दर्शनीय है—

लटकि लटकि लटकतु चलतु, डटतु मुकुट की छांह।
चटकु भरयो नटु मिलिगयो अटक-भटक बट माहि।[6]

---

१. बिहारी सतसई; दोहा, १५२
२. वही; दोहा ४६२
३. हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास (षष्ठ भाग) पृ० ५२६-५२७
४. बिहारी सतसई; दोहा ५०
५. बिहारी (सं० ओमप्रकाश); पृ० १४३
६. बिहारी सतसई; दोहा २४१

उपर्युक्त परुषावृत्ति के साथ ही कोमला वृत्ति का उदाहरण भी दर्शनीय है—

सायक सम मायक नयन, रँगे विविध रंग जात।
झलौ विलखि दुरिजात जल, लखि जलजात लजात।[1]

इस दोहे में मायक और जलजात शब्दो के विविध प्रयोगों से चमत्कार उत्पन्न होता है। अर्थ के अतिरिक्त शब्दों का भी विलक्षण आकर्षण है। अनुप्रासों की योजना विहारी ने बड़ी सावधानी से की है। कहीं-कही तो प्रसंगानुकूल झंकृति भी है, यथा—

रनित भृंग घण्टावली, झरित दान मद नीर।
मंद मंद आवत चल्यौ, कुंजर कुंज समीर॥[2]

यहाँ वीप्सा, अनुप्रास, यमक आदि शब्दालकारों की उपस्थिति में भी दोहे का स्वरूप नही विगड़ सका है बल्कि जो ध्वन्यात्मकता और चित्रात्मकता उपलब्ध होती है उससे मुग्ध होकर मुख से 'वाह' शब्द उच्चरित हो जाता है। 'विहारी के अनुप्रासों की यह विशेपता है यदि अनुप्रास प्रथम पद से चला है तो उसी रूप में अन्त तक पहुँचा दिया गया है। यदि कही व्यवधान है तो चतुर्थ पाद में पुन अनुप्रास आ जाता है।'[3] कुछ अन्य ऐसे उदाहरण देने का लोभ संवरण नही किया जा सकता जिनमें विभिन्न शव्दालकार आये है—

लाटानुप्रास

छिनकु उघारति छिनु छुवति, राखत छिनकु छिपाइ।
सबु दिन पिय खंडित अधर, दरपत देखत जाइ॥[4]

यमक

वर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैन।
हरिनी के नैनान तै, हरि नीके ए नैन॥[5]

श्लेष वक्रोक्ति

लिखन वैठि जाकी सवी, गहि गहि गरव गरूर।
भए न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥[6]

---

१. विहारी सतसई; दोहा ५३
२. वही; दोहा ५६०
३. मुक्तक काव्य-परम्परा और विहारी, पृ० ३५६
४. विहारी सतसई; दोहा ३७६
५. विहारी सतसई; दोहा ५५
६. वही; दोहा १६५

काकु वक्रोक्ति

भूषन भारु संभारि है, क्यों इहि तन सुकुमार।
सूधे पाइ न घर परै सोभा ही कै भार।।[1]

श्लेष

अजौं तर्यौना ही रह्यौ, श्रुति सेवत इक अंग।
नाक वास बेसरि लह्यो, वसि मुकुतनु कै संग।।[2]

वीप्सा

मरी डरी कि टरी विथा, कहा खरी चलि चाहि।
रही कराहि कराहि अति, अब मुह आहि न आहि।।[3]

बिहारी हिन्दी की शृंगार मुक्तक कवि-माला के सुमेरु है। जिस प्रकार बिहारी की नायिका का चित्रांकन नही हो सकता क्योंकि वह क्षण-क्षण नवीन सौन्दर्य धारण कर रही है उसी प्रकार सतसई के दोहों में उद्भासित शब्दालंकारों की इदमित्थ विवेचना नहीं की जा सकती क्योकि सतसई के पर्यालोचन मे हरबार नाविन्य के दर्शन होते है। 'बिहारी सतसई का निर्माण लक्ष्य ग्रथ के रूप हुआ किन्तु उसका प्रचार लक्षण ग्रंथो से कही अधिक हुआ। मुक्तक रचना में जितनी विशेषताएँ सम्भाव्य है, वे सब बिहारी सतसई में उपलब्ध होती हैं। यही कारण है कि बिहारी के आगे अन्य कवि का मुक्तक काव्य जचता नहीं।'[4] सतसई के अतिरिक्त बिहारी के लिखे कुछ कवित्त सवैये[5] भी प्रकाश में आये हैं, जिन पर दृष्टिपात करने से बिहारी का अलंकार प्रेम और स्पष्ट हो जाता है। बिहारी ने सतसई के दोहों में शब्दालंकारों को इतना स्पष्ट दिखाया है कि अलकारों के लक्षण ग्रन्थ लिखने वालों के उदाहरण भी उतने साफ नही मिलते। बिहारी ने भाव और गुण आदि की अनुभूति के लिए ही शब्दालंकारों की योजना की है और इस सुष्ठु कार्य में वे पूर्णतः सफल हुए है। शब्दालंकारों के सहयोग के विना उत्कृष्ट काव्य की रचना नहीं की जा सकती-इस तथ्य के दर्शन बिहारी

---

१. वही; दोहा १५६
२. वही; दोहा १२३
३. वही; दोहा ५०८
४. हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास (षष्ठ भाग) पृ० ५२८
५. देखिये–महाकवि बिहारी कृत कवित्त (सं० अम्ब शंकर नागर)

सतसई में होते है । 'बिहारी ने अलंकारों का आश्रय ग्रहण कर युग निष्ठा का परिचय दिया है ।'[1]

(३) मतिराम—(रसराज. ललित ललाम, सतसई)—१७१६ से १७४७ के मध्य ।

मतिराम रससिद्ध कवियों मे अग्रणी है ।[2] इनके तीन ग्रन्थ माने जाते है—रसराज, ललितललाम और मतिराम सतसई । मतिराम ने अपनी रचनाओ में रसानुभूति कराने के लिए अनुप्रास, यमक, पुनरुक्ति, वीप्सा आदि शब्दालंकारो का प्रयोग किया है । अनुप्रास में छेक, वृत्ति, श्रुति, और लाट ने इनके भाषा माधुर्य मे योगदान किया है । यथा—

छेकानुप्रास

वैसे ही वितै कै मेरे चित्त को चुरावती हो ।
बोलती हो वैसे ही मधुर मृदु बानी सौं ॥[3]

वृत्यनुप्रास

जोग में जन्त्र में मन्त्र में गावै ।
सदा श्रुति सेस भवानी ॥[4]

श्रुत्यनुप्रास

सर सौं समीर लाग्यो सूल सी सहेली सबै ।
बिससौं विनोद लाग्यो बन सौं निवास री ॥[5]

लाटानुप्रास

सरदचन्द की चांदनी को कहिए प्रतिकूल ।
सरदचन्द की चांदनी कोक हिए प्रतिकूल ॥[6]

कवि का सर्वाधिक लगाव यमक के प्रति दृष्टिगोचर होता है । कुछ उदाहरण तो बहुत ही मनोहर बन पड़े है । यथा —

१ — गुरुजन दूजे ब्याह कों प्रतिदिन कहत रिसाई ।
पति की पति राखे बहू आपुन बांझ कहाइ ॥[6]

---

१. कविवर बिहारीलाल और उनका युग; पृ० २६४
२. मतिराम—कवि और आचार्य (भूमिका प्रवर्तन) पृ० २
३. रसराज; छन्द ४७
४. वही; छन्द १
५. रसराज; छंद ६२
६. ललित ललाम; छन्द ३५१
६. सतसई; दोहा ६

२— चौसठि कला बिलास जुत वदन कलानिधि पेखि।
दुतिया की देखे कला को दुति याकी देखि।[1]

३— कहा कहौं लाल तलबेली तलफत पर्यो।
बाल अलबेली को बियोगी मन लाज को।[2]

४— तुम निसिदिन मतिराम की मति बिसरौ मति राम।[3]

मतिराम की रचनाओं मे भावों का सहज चित्रण अधिक हुआ है अतः क्रम अथवा आवेश को प्रस्तुत करने वाले शब्दालकार—पुनरुक्ति एव वीप्सा का कम प्रयोग हुआ है। वस्तु परक वर्णन कम होते हुए भी कुछ उदाहरणों में वीप्सा एवं पुनरुक्ति के स्वाभाविक दर्शन होते है :—

१— गावै घरीक गरे होगरे हरे गेह के बाग हरे हरे डोले।[4]

२— हा हा के निहोरे हूँ न हेरति हरिन नैनी।[5]

मतिराम के कवित्त-सवैयों में एक से अधिक शब्दालंकारों का प्रयोग शब्द चित्रों को और अधिक स्पष्ट करके पाठकों को रसाभिभूत कर देता है। अनुप्रास एवं यमक के संकर प्रयोगों से युक्त इनके कुछ कवित्त-सवैये नीचे उदाहरणस्वरूप दिये जाते है—

१— सेतसारी सोहत उजारी मुखचन्द की सी।
महलनी मन्द मुसक्यान की महमही।
अंगिया के ऊपर ह्वै उलही उरोज ओप,
उर मतिराम माल मालती डहडही।
माँजे मंजु मुकर से मंजुल कपोल गोल,
गोरी की गुराई गोरे गातन गहीगही।
फूलनि की सेज बैठी दीपति फैलाय लाय,
बेला को फुलेल फूली बेलि सी लहलही।[6]

---

१. सतसई; दोहा ३६
२. ललितललाम; छन्द १६३
३. सतसई; दोहा ४५०
४. रसराज; छंद १६५
५. रसराज; छन्द २३५
६. वही; छन्द १७६

२— खेलन चोर मिहोचनी आजु गई हुती पाछिले द्यौस की नाईं ।
आलि कहा कहौं एक भई, मतिराम नई यह बात वहांईं ।।
एकहि भौन दुरे एक संग ही अंग सो अंग छुवायो कन्हाईं ।
कंप छुट्यो घन स्वेद बढ्यो तनुरोम उठ्यो अखियाँ भर आईं ।।[1]

३— केलिके राति अघाने नहीं दिन ही में ललापुनिघात लगाई ।
प्यास लगी कोउ पानी दै जाइयो भीतर बैठि कै बात सुनाई ।।
जेठी पठाई गई दुलही हँसि हेरि हरै मतिराम बुलाई ।
कान्ह के बोल पे कान न दीनों सो गेह की देहरी पै धरि आई ।।[2]

मतिराम की कविता में अलकारो का कृत्रिम प्रयोग नही हुआ है । 'उनकी रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसकी सरलता अत्यन्त स्वाभाविक है; न तो उसमें भावों की कृत्रिमता है न भाषा की दुरूहता । मतिराम की सी रस स्निग्ध और प्रसादपूर्ण भाषा, रीति का अनुसरण करने वालो में बहुत ही कम मिलती है ।'[3] शब्दालंकार उनकी कविता के सौन्दर्यवर्धक प्रसाधन हैं ।

(४) महेरामणसिंह—प्रवीण सागर (१८३८ वि०)

'गुजरात के अंचल से प्राप्त हिन्दी ग्रन्थो में प्रवीणसागर अत्यन्त लोकप्रिय रचना है ।'[4] यह ग्रन्थ, राजकोटके ठाकुर साहब महेरामणजीने अपने विश्वस्त एवं विभिन्नविषयोंके ६ विद्वान मित्रो की सहायतासे तैयार किया था । सातवें महेरामणजी थे । इन सात मित्रों के अतिरिक्त इस ग्रन्थ की रचना मे सुजानबा जो लीबडी की राजकुमारी थी—का भी योगदान रहा है । प्रवीण सागर ८४ सर्गो का एक विशालकाय प्रबन्धकाव्य है । इस ग्रन्थ की मूल रचना उपाख्यान के रूप में हुई है । यह एक ऐसा लक्ष्य ग्रन्थ है जिसे सभी विषयों का कल्पतरु[5] कहा जा सकता है । इसमें शब्दालंकारो के अतिरिक्त अन्य समस्त काव्यांगो के केवल उदाहरण

---

१. रसराज; छन्द १६

२. वही; छन्द २८

३. हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास (२०१६ वि०) पृ० २४३-२४४

४. गुजरात के हिन्दी—गौरव ग्रंथ; पृ० ५२

५. जैसे कल्पतरु तरे चितवे सो पावे तहां ।
तैसेयह ग्रंथ मांहि चितवे सो पायगो ।।
—प्रवीण सागर (अहमदाबाद संस्करण); ८३-३६

दिए गए हैं किन्तु एक उपाख्यान के साथ सभी विषयों का निर्वाह बड़ी खूबी के साथ हुआ है। स्वयं गुजराती भाषी होने पर भी ग्रंथ रचना हिन्दी मे करना एक गौरव का विषय है।

इस ग्रंथ के मुख्यपात्र प्रवीणकुमारी और रससागर है और उन्ही के नाम पर इस ग्रंथ का नाम प्रवीण सागर रखा गया है। दूसरे 'स्वय रचियता का नाम महेरामण (सागर) है इसलिये उसने इस ग्रथ का नाम सागर और प्रकरणो का नाम लहर रखा है।[1] इसमे प्रवीण को राधा और सागर को श्रीकृष्ण के रूप से प्रस्तुत किया गया है।[2]

इस महाकाव्य मे सभी शब्दालकारो के उदाहरण प्रचुर मात्रा मे मिलते है। ऋतु-वर्णन हो चाहे प्रकृति वर्णन, मिलन वेला हो चाहे वियोग की घडियाँ, शब्दालकारो की सजावट सर्वत्र विद्यमान है। यथा—

अनुप्रास

बकुल बसन्त बेलि, बारव बदाम बर,
बोलत विहंग वृन्द बगन बगन बन।
माधवी मरूक मल्ली मंजर महोर मण्डी,
मधु मकरन्द मोद मगन मगन मन।
प्रमदा परम पानी परस प्रकाश प्रेम,
पलटे परम पन्थी पगन पगन पन।
दम्पति दिशो ही दिश दौरत न दुरे देह,
दिन दिन दान दोऊ दृगन दृगन दन।[3]

यमक

नवसात किये नवसात लिये, नवसात पिये नवसात पियाई।
नवसात रची नवसात विधे, नवसात मगेप्रति सागर आई॥
नवसात कला नवसातन की, नवसातन में अंचला रव सुखाई।
नवसात रह्यो नवसातन में नवसात छुटी नवसात बनाई॥[4]

---

१. गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रन्थ; पृ० ५८
२. राधा सोई प्रवीण है, सागर राधाकान्त।—प्रवीण सागर ८४-३४
३. प्रवीण सागर; (बम्बई संस्करण) ३६-७
४. वही; ५३-६

(सोलह शृंगार करके, सोलह सखियों को साथ लेकर, मदिरा पीकर, सोलह सखियों को पिलाकर, षोडशोपचार युक्त शिव के साधन रच कर, षोडश विधि से शिवपूजा करके सोलह मार्गों को पार करके सागर से मिलने आई। सोलह वर्ष की बालाओं की सोलहों कलाएँ प्रकाशित हैं।)

श्लेष

सकल भरे है रस पूरन सदा ही रहे,
जुत ही तरंगन समीप शब्द गहरे।
अगन डुबावन है, पावन प्रसिद्ध जग,
मनही मिलावन भुजादही पैठहरे।
प्रथुल प्रमान कोउ पारहु न पावत है,
रमनीय रूपजाको हेर हिय हहरे।
सुरराज सभा शंभु सरसति श्रीपति है,
सागर सघन किधौं सिन्धुहु की लहरे।[1]

(इस कवित्त में इन्द्रसभा, शंभू, सरस्वती, विष्णु, रससागर, वर्षा तथा समुद्रलहर परक सशार्थ श्लेप युक्त शब्द हैं।)

लाटानुप्रास

चीरहि को चीर डारी, अंगियां उतारी पुनि फरिया को फारी महा दिले दुख दामिनी।
तरौना को तोर डारी, हारको उतारी पुनि, बेसरी विसारी उर जानिकै अभागिनी॥
मंजु मौलवारी महा, दामिनी निकारी निज, मनमें विचारी वाकों निर्गुन-सी नागिनी।
विभव विसारी ऐसे सारी श्वेत अंगधारी पेखिये प्रवीन आज वनी है विरागिनी॥[2]

वक्रोक्ति

जाय सुवासर मासहिं संवत जात चले, तो कहा लो चलेंगे।
आतस आग लगे चिनगे सु, वुझे न तवे जियही न जलेंगे॥
या अंसुवां वहे वोई करे सु, अवे यह वारिनिधी न छलेंगे।
टेरत वेर ही वेर प्रवीणजु, फेर कहूँ इक वेर मिलेंगे॥[3]

---

१. प्रवीण सागर; (वम्बई संस्करण) ६६-६
२. वही; ७७-४५
३. वही; ३६-१६

प्रवीणसागर में चित्रालंकार के उदाहरण विशेष मनोयोग और व्यवस्था के साथ प्रयोग किए गए है । ग्रन्थ मे ८४ लहर है जिनमें ६१, ६२, ६३, ६४ एवं ६५ वीं लहर में चित्रालंकार के विभिन्न भेदोपभेदों के उदाहरण दिए गए हैं । उनके उदाहरणों को इस क्रम से प्रस्तुत किया गया है—

६१वीं लहर बहिर्लापिका (प्रश्नोत्तर, वर्गवर्णोपरि अंकभेद, वर्णभेद और वर्णभेदोभिविधान) अन्तर्लापिका (आद्याक्षरी उलटभेद, प्रश्नोत्तर और अभिधान भेद ।)

६२वीं लहर—गोमूत्रिका, अश्वगति, त्रिपदी कपाटवन्ध, पर्वतवन्ध, चरणगुप्त, त्रिवर्गाचक्राकार, शिखरबंध, हौजबंध, सर्वतोभद्र गतागत, स्वस्तिक, सरौतावन्ध ।

६३वीं लहर—षोडश कमल बंध, जाली वन्ध, वर्तुलाकार बंध, चौपडबंध, चौकीबंध, सीढीबंध, नागपाशबध ।

६४वीं लहर—कमलवन्ध, पंचचक्रवन्ध, नालिकेरिवन्ध, अष्टदल पुष्पवन्ध, सुमनवन्ध, कुसुम्बवन्ध, नागशिशुवन्ध नवफण नागवन्ध, अष्टनागशिशुवन्ध, केतकी वन्ध, त्रिशूलवन्ध, गृहलतावन्ध, मुकुटवन्ध, नराकार धनुष वन्ध, गजवन्ध, देवालयवन्ध, हारवन्ध, ताउसटीनबंध, वीणावन्ध, मिनारवन्ध, दर्पणवन्ध हल की कुन्डी वन्ध, मुष्टिकावन्ध ।

६५वीं लहर—मालावन्ध, धनुषवन्ध, खड्गवन्ध, जलागार वन्ध, वृक्ष वन्ध, मयूर वन्ध, गोडवन्ध, कटारवन्ध आदि ।

चित्रालंकार के उदाहरणों की यह लम्बी सूची इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि रीतिकालोत्तर काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो ने चित्रालंकार को यथेष्ट स्थान प्राप्त था । प्रवीणसागर के कुछ महत्वपूर्ण चित्र वन्धो को परिशिष्ट मे दिया गया है । यहाँ बहिर्लापिका के कुछ भेदो के उदाहरण दिए जा रहे है--

बहिर्लापिका

> पंचहु अक्षर सागर हो, गिनती करिभेद सबै गहिये ।
> दु दुसरे अरु अन्त करी यह, जो कहिवी सो उने कहिये ।।
> ने अरु अन्त अखण्ड लगे पग, अन्त दुहू के दुहू मिलिये ।
> आदि के अन्त ले मांगत हैं हम, द्वै विन द्वै कि दुराई किये[1] ।।

---

१. प्रवीणसागर (वम्बई संस्करण); ६१-३

(हे सागर ! तुम्हारे नाम— महिरामन' के ५ अक्षर है। उन अक्षरों की गिनती करके मैं जो कहता हूँ सो सुनो। दुहिन (ब्रह्मा) ने जो दुर्भाग्य में लिख दिया है उसे भोगना पडेगा। मेरे नैन तुम्हारे पथ पर अखण्ड रूप से लगे हुये है। मै तुमसे क्या छिपाऊँ ? मैं तो यही चाहती हूँ कि हम तुम दोनों भले (मिले))

प्रश्नोत्तर अन्तर्लापिका

> सन्यासी शोधत कहा, कोप्रकाश छितिकौन।
> नारद भ रति वाद्य कह, परखे वह परबीन[1] ॥

(सन्यासी क्या ढूँढता है—पर (परमात्मा) को; पृथ्वी पर प्रकाश कौन करता है—रवी (रवि); नारद और सरस्वती का वाद्य यन्त्र क्या है—बीन (वीणा)।)

वस्तुत 'प्रवीणनागर' गुजरात के राजघराने की हिन्दी को सबसे बड़ी देन है। 'विभिन्न भाषाओ और भाषा शैलियो मे रचित इस ग्रथ मे सर्वत्र अलकार-योजना और छन्दयोजना का चमत्कार दृष्टिगोचर होता है। · शब्दालकारो की छटा ग्रन्थ मे सर्वत्र देखने को मिलती है[2]।' चित्रालकार के जो उदाहरण एव बधचित्र इस विशाल ग्रन्थ में दिए गए है वे पाठको को चमत्कृत एव मुग्ध करने के लिए पर्याप्त है। 'सचमुच चित्रालंकार-विवेचन के क्षेत्र मे प्रवीणसागर के ये उदाहरण पर्याप्त योगदान देते है[3]।' डॉ० नागर के शब्दो मे—'इन चित्रकाव्यो की रचना निस्सदेह बडी श्रम साध्य रही होगी। काव्य रचना के अतिरिक्त उन्हे कुशल चित्रकारो ने सजाया भी है। आज चाहे इस प्रकार के काव्यों का कोई मूल्य न हो पर किसी समय इस प्रकार की रचनाओ की बड़ी पूछ थी। कोई भी कवि अपने समय के प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता। छन्द, अलंकार, नायिकाभेद, चित्रकाव्यादि रीतिकालीन काव्य चातुर्य के मुख्य विषय रहे है। अपने समय की मांग के अनुरूप प्रवीणसागर मे भी इन सभी चीजो का समावेश किया गया है[4]।'

(५) दयाराम—दयाराम सतसई (१८७२ वि०)

मध्यकालीन गुजराती साहित्य के अन्तिम रससिद्ध-कवियो मे दयाराम का नाम बड़े

---

१. प्रवीणसागर; ६१-१६

२. गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रन्थ, पृ० ६३

३ हिन्दी में शब्दालंकार,विवेचन; पृ० १३१

४. गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रन्थ; पृ० ६५

आदर से लिया जाता है। हिन्दी के इतिहासकारों ने उनका चलता-सा उल्लेख किया है। दयाराम के ग्रन्थों की संख्या ३०० से भी अधिक बताई जाती है किन्तु अभी तक केवल ८५ ग्रंथ गुजराती लिपि में प्रकाशित हुए हैं, जिनमें २० ब्रजभाषा के हैं। इनके मुक्तकों एवं गरबियों की संख्या सवा लाख बताई जाती है। दयाराम की हिंदी कृतियों में 'दयाराम सतसई' सर्वश्रेष्ठ है। डॉ० नागर द्वारा सम्पादित इस सटीक हिंदी लिपि में मुद्रित पुस्तक के प्राक्वचन लिखते हुए श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने दयाराम के अलंकार विशेषतः चित्रालंकार-प्रेम को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है—

'.......बिहारी या अन्य सतसईकारों ने उदाहरण प्रस्तुत करते समय ऐसी रचना नहीं की जिसे चित्रकाव्य कहते हैं, पर दयाराम ने अपनी सतसई में चित्रकाव्य की भी रचना की है। चित्रकाव्य के उदाहरण जहां संस्कृत में ही दिए गए हैं वहां लक्षण निर्माता को ही स्वतः प्रयास करना पड़ा है या फिर उदाहरण दिए ही नहीं गए हैं। पर दयाराम ने इस अभाव की पूर्ति करने का प्रयास किया है। उनके चित्रकाव्य को दृष्टि पथ में रखकर कोई समीक्षक यही सोचेगा कि ये पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए ऐसा कर रहे हैं[1]।'

'दयाराम सतसई' एक ऐसा ग्रंथ है जो इस अहिंदी भाषी कवि को हिंदी कवियों में ऊँचे स्थान पर सुशोभित करने में पूर्णतः सक्षम है। सतसई को लिखने का उद्देश्य श्रीकृष्ण को रिझाना है, किसी सांसारिक राजा को खुश करना नहीं है[2]। दयाराम आसानी से समझ में आने वाली कविता को कविता नहीं कहते। उनकी मान्यता है कि कुछ वस्तुओं की श्रेष्ठता उनकी कठोरता में ही निहित है और काव्य उनमें से एक है[3]। इस सतसई में कुल ७७१ दोहे हैं। इनमें भक्ति नीति, वैराग्य, श्रृंगार, नायिका भेद, अलंकार, छन्दयोजना तथा काव्य चातुर्य का चमत्कार है। 'इस ग्रंथ में दयाराम की सर्वतोमुखी प्रतिभा प्रकट हुई है[4]।'

---

१. दयाराम सतसई (प्राक्वचन); पृ० 'घ'

२. पुरुषोत्तम गोपीश श्री, कृष्ण मनोहर रूप।
तद प्रीत्यर्थ सुग्रन्थ यह, नहिं रिझवन को भूप॥

—दयाराम सतसई; दोहा ७२८

३. दुर्ग काव्य कुसमांड कुच, उर कठोर त्यों सार।
तन मन बानी तुलसिदल, भल कोमल यह चार॥

४. गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रन्थ; पृ० ७४

सतसई के काव्य चातुर्यप्रकरण के अन्तर्गत कवि ने एकाक्षर, द्वयाक्षर, प्रति अक्षरार्थ, प्रतिपदाक्षर, प्रश्नोत्तर और गतागत के उदाहरणस्वरूप दोहे लिखे है। चित्र काव्य के अन्तर्गत गोमूत्रगति, अश्वगति, त्रिपदी, कपाटबन्ध, धनुषबध, कमलबंध हारबंध, आदि का समावेश किया गया है[1]। यहाँ हम उनके कुछ चित्रालकारो के उदाहरण दे रहे है—

१. एकाक्षर

नै नै नैनी नैन नै नैना नान न नून।
नौ नानाने नानुना, नानन नृ नृ नून[2]॥

(हे राधिका नई-नई यौवनाएँ जो कभी झुकती नहीं, वे भी श्री कृष्ण के सामने झुक गई है। पर श्रीकृष्ण उनकी ओर आँख उठाकर देखते ही नही है, क्योंकि उनकी दृष्टि तेरे सिवाय अन्य किसी पर नही है। वैसे नवयौवनाओं की कमी नही। मैं नाना प्रकार से नमन करती हूँ कि तू नानू' न कर अर्थात इन्कार न कर। श्रीकृष्ण ना कहते हैं, अन्य किसी पर आसक्त नही है। जिस पर वे आसक्त हो मकते है वह न्यून है अर्थात केवल एक तू है।)

२. प्रश्नोत्तर

मन न करें हरि रूप को नमन करे हरि धाम।
कोक ग्यानि प्रिय काम है, कोक रुची व्रखघाम[3]॥

(किसका मन हरि रूप को देखना नही चाहता है ? जो काम एव स्वर्ण का मनन करता है। सन्तो को कौन प्रणाम करता है ? जो स्वर्ग की कामना नही करता। क्या किसी ज्ञानी को भी काम प्रिय है ? हां कोकशास्त्र के ज्ञानी को काम प्रिय है। क्या किसी की रूचि वृपताप मे भी है ? हा, चक्रवाक को वृपताप प्रिय है।)

३. शासनोत्तर

सुत हरि हर अरि सिखि न का, मन उजुदुजपति कांन।
करम तापभव हरन को, ज्वाप मेंन ससि ग्यान[4]॥

---

१. देखिए परिशिष्ट १ में कतिपय चित्र
२. दयाराम सतसई, दोहा; ७१०
३. वही, दोहा ७१४
४. वही, दोहा ७१५

(श्रीकृष्ण के पुत्र कौन हैं? महादेव का शत्रु कौन है? मयूर के क्या नहीं है? मन नक्षत्र और द्विजकापति कौन है? कर्न ताप और संसार बंधन हरने वाला कौन है? इन सभी प्रश्नों में प्रथम ३ का उत्तर मैन (कामदेव) है, चौथे का उत्तर ससि (शशि) और पांचवे प्रश्न का उत्तर ध्यान (ज्ञान) है।)

चित्रालंकार—प्रभेदों के कुछ उदाहरणों के पश्चात् शब्दालंकार के अन्य भेदों के सरस उदाहरण भी दर्शनीय हैं। यथा—

अनुप्रास-यमक—

पनघट पनघट जाय पन, घट पनघट को ध्यान।
पनघट लाल चढ़ाय दें, अलि पनघट सुखखान ॥[1]
लखि पिय सुरत सुरत सुरत, सुरत सूर तन पीर।
सुर तन हिन सुर तन नहीं, सुर तनया सरि तीर ॥[2]

वक्रोक्ति-श्लेष—

स्यामा भट्ठ घनश्याम पें, ह्वै ह्वै छोट अनार।
लिये चार बड़ जाम फल, को जित करो विचार ॥[3]
प्यारी तेरौ अधररस, क्यों बिसरैं गोपाल।
बेसर निरमल मुक्तहूँ, जिहि परसत भों लाल ॥[4]

श्लेष-लाटानुप्रास—

हरि भगती ही छांहि तो, मुकति मुकति बतपाय।
हरि भगती ही छांहि तो मुक ति मुकति बत पाय ॥[5]
बिन अलछ्य बिधि लछ्यहुन, सुख सुलछ्य परतछेय।
ज्यों चोपट बिन अछ्य बल, जितेन दछ्य सपछ्य ॥[6]

नीचे कुछ दोहों को, जिनमें सारल्य एवं प्रसाद गुण सम्पन्नता है तथा जिनमें स्वा-

---

१. दयाराम सतसई; दोहा ७७
२. वही; दोहा १५६
३. वही दोहा; २०४
४. वही; दोहा २५५
५. वही; दोहा ५६४
६. वही; दोहा ६१०

भाविक रूप से अनुप्रास आदि शब्दालंकारों की अवतारणा हुई है, पढ़कर रहीम, वृन्द और बिहारी की याद आए बिना नहीं रहती। यथा—

बड़े नाम ते का भयो, काज वड़ो नहिं होत।
कहे अरक सब आक कूं, पैं नहिं होत उदोत ॥[1]
स्यामा तू जिन जाइ सर, बिन घूंघट पट द्यौस।
परिहैं तेरो वदन लखि, भोर कोक दुख सोक ॥[2]
खरक संवारो कर भरे, गोवर छुट उर छोर।
ऐहे वड़ को बाल तुम, ढांकिये नंदकिशोर ॥[3]

वस्तुतः दयाराम की सतसई गुजरात का हिन्दी गौरव ग्रन्थ है। 'दयाराम पहले कवि है जिन्होने गुजराती साहित्य मे सतसई-पद्धति का आरम्भ किया।[4]' दयाराम जैसे शौकीन और स्वाभिमानी कवि बहुत कम पैदा होते है।

अन्य रीतिसिद्ध कवि—

रीतिकाल मे रीतिसिद्ध कवियो की एक लम्बी परम्परा है किन्तु पर्याप्त प्रमाणो एवं ग्रथो के अभाव मे उनका विवेचन एक कष्टकार्य है। प्राप्त आधारो पर यहाँ कुछ फुटकल कवियो के काव्य को शब्दालंकार की कसौटी पर कसेंगे।

हिन्दी साहित्य मे 'वेनी' नाम से तीन कवियो का उल्लेख है। असनी निवासी वेनी वदीजन को हम रीतिसिद्ध कवि के रूप मे मानते है। इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं पर कुछ कवित्त-सवैया प्राप्त है जिनमे अनुप्रास की छटा दर्शनीय है। एक छन्द है

कवि वेनी नई उनई है घटा, मोरवा वन बोलत कूकन री।
लहरै विजुरी छितिमंडल छ्वै, लहरै मन मैन भूभकन री॥
पहिरी चुनरी चुनिकै दुलही, संग लाल के झूलहु झूकन री।
ऋतु पावस यों ही बितावति हौं; मरिहौं, फिर वावरि हूकन री।

बिहारी कवि के सुपुत्र कृष्ण कवि ने बिहारी सतसई की टीका सवैयाछन्द मे की है। बिहारी के प्रसिद्ध दोहो पर जो सवैये इन्होने लगाए है उनको इनकी सहृदयता, रचना

१. दयाराम सतसई; दोहा ३७६
२. वही; दोहा २४६
३. वही; दोहा १७१
४. गुजरात के हिन्दी गौरव; पृ० ७२

कौशल, अलंकारप्रियता और भाषा पर अच्छा अधिकार स्पष्ट दिखाई देते हैं। एक उदाहरण पर्याप्त हैं—

सीस मुकुट, कटि काछनी कर मुरली उर माल।
यहि बानिक मो मन सदा, बसौ बिहारीलाल ॥
छवि सों फबि सीस किरीट बन्यो, रुचिसाल हिये बनमाल लसै।
कर कंजहि मंजुरली मुरली, कछनि कटि चारु प्रभा बरसै ॥
कवि कृष्ण कहै लखि सुन्दर मूरति यो अभिलाष हिए सरसै।
वह नन्दकिशोर बिहारी सदा, यहि बानक मों हिय माझ बसै ॥

दतिया राज्य के प्रसिद्ध जमीदार पृथ्वीसिंह, रसनिधि के नाम से सरस कविता करते थे। इन्होने बिहारी सतसई के अनुकरण पर 'रतन हजारा' नामक दोहों का एक ग्रन्थ बनाया।' ये शृंगार मुक्तक कवि थे एव अपनी कविता में इन्होंने फारसी कविता के भाव भरने और चतुराई दिखाने का प्रयत्न किया है। यहाँ इनके कुछ दोहे उद्धृत किये जाते हैं जिनमें अनुप्रास की छटा स्पष्ट है।

चतुर चितेरे तुव सबी लिखत न हिय ठहराय।
कलम छुवत कर आंगुरी कटी कटाछन जाय ॥
अद्भुत गति यही प्रेम की, बैनन कही न जाय।
दरस भूख लागै दृगन, भूखहि देत भगाय ॥

असनी के रहने वाले वैरीसाल ब्रह्मभट्ट का 'भाषाभरण' एक अच्छा अलंकार ग्रन्थ है जिनमें प्रायः दोहे ही हैं। दोहे बहुत सरस हैं और अलंकारों के अच्छे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

नहि कुरंग नहि ससक यह, नहि कलंक नहि पंक।
बीस बिसे बिरहा दही, गड़ी दीठि ससि अंक।
करत कोकनद मदहि रद तुव पद हर सुकुमार।
भए अरुन अति दबि मनो पायजेब के भार ॥

गढ़वाल के राजा फतहसिंह के नाम पर 'फतेहभूषण' नामक अलंकार ग्रन्थ बनाने वाले उन्ही के आश्रित रतनकवि एक अच्छे शृंगारी कवि थे। इनका ग्रंथ 'अलंकारों के सरस उदाहरणों से युक्त हैं। निरूपण की विशदता और उदाहरणों की मनोहरता इनके काव्य की विशेषताएं हैं। यथा—

काजर की कोखारे भरे अनियारे नैन,
कारे सटकारे वार छहरे छवानि छ्वै ।
श्याम् सारी भीतर भभक गोरे गातन की,
ओपवारी न्यारी रही वदन उजारी ह्वै ।
मृगमद वेंदीभाल में दी, याही आभरन,
हरन हिए को तू है रंभा रति ही अवै ।
नीके नथुनी के तैसे सुन्दर सुहात मोती,
चंद पर च्वै रहै सु मानो सुधा बुंद द्वै ।।

चंदन कवि, गौड़ राजा केसरीसिंह के आश्रित थे एव इनके तीन रीतिग्रंथ–शृंगार सागर, काव्यभरण और कल्लोल तरंगिणी—माने जाते है । इनकी कई फुटकल रचनाएं है जो वहुत ही मार्मिक एवं शव्दालकारो से सजी संवरी है । ये फारसी के भी अच्छे शायर थे । इनके एक सवैये में अनुप्रास की छटा दर्शनीय है—

ब्रजवारीगंवारी दै जानै कहा, यह चातुरता न लुगायन में,
पुनि वारिनी जानि आनारिनी है, रुचि एहीन चदन नायन में ।
छवि रंग सुरंगके विन्दु वने लगै इन्द्रवधू लघुतायन में
चित जो चहै दी चकिसी रहै दी, केहि दी मेंहदी इन पायन में ।

देवकीनदन के तीन ग्रथ माने जाते है—शृंगारचरित, अवधूत भूषण और सरफराज चन्द्रिका । शृंगार चरित में अन्य—काव्यागों के साथ अलंकार भी आगए है । इनकी भाषा मंजी हुई एवं भाव प्रौढ है । बुद्धिवैभव इनकी कविता को चमत्कार पूर्ण वना देता है । इन्होने कूट भी कहे है । कला वैचित्र्य की ओर इनका रूझान अधिक होने पर भी लालित्य एवं माधुर्य की कमी नहीं है । वर्षाऋतु की पृष्ठभूमि मे नायिका की तस्वीर का चित्रण, यमक श्लेप एव अनुप्रास की संयोजना से वड़ा ही मनोरम वन पडा है—

वैठी रंग रावटी में हेरत पिया की वाट,
आए न विहारी भई निपट अधीर मै ।
देवकीनंदन कहै स्याम घटा घिरि आई,
जानि गति प्रलय की डरानी वह. वीर मै ।
सेज पै सदा सिव की मूरति वनाय पूजी,
तीनि डर तीनहू की करी तदवीर मै ।

पाखन में सामरे, सुलाखन में अखैवट,
ताखन में लाखन की लिखी तसवीर मैं।

पजनेस की कोई पुस्तक प्राप्त नहीं होती किन्तु इनकी वहुत-सी फुटकल कविता संग्रह-ग्रंथों मे मिलती है और लोगों के मुँह से सुनी जाती है। इनका स्थान व्रजभाषा के प्रसिद्ध कवियों में है। 'पजनेसप्रकाश' नामक एक फुटकल कविताओं का संग्रह प्रकाशित हुआ है। इनकी कविता शृंगार रस की है पर उसमे कठोर वर्णो (जैसे ट, ठ ड) का प्रयोग हुआ है। भाषा मे फारसी के शब्दों एव वाक्यो का पूरा प्रभाव है। इनका पद-विन्यास मनोरम है एवं कोमल अनुप्राम युक्त ललित भाषा का प्रयोग भी इनके कवित्त-सवैयों मे मिलता है। शब्द चमत्कार इनकी अनुप्रास का प्राण है एक कवित्त है—

छहरै छबीली छटा छूटि छितिमण्डल पै,
उमंग उजेरो महाओज उजबक सी।
कवि पजनेस कंज मंजुलमुखी के गात,
उपमाधिकाति कल कुंदन तवक-सी।
फैली दीप दीप दीप-दीपति दिपति जाकी,
दीप मालिका की रही दीपति दबक सी।
परत न ताव लखि मुख माहताब जब,
निकसी सिताव आफताव की भभक सी।

अयोध्या के महाराज मानसिंह द्विजदेव के नाम से कविता करते थे। ऋतुओं के वर्णन इनके वडे ही मनोहर हैं। शृंगार वत्तीसी और शृंगार लतिका इनके ग्रन्थ वताये जाते हैं। द्विजदेव के कवित्त. प्रेमियों में वैसे ही प्रसिद्ध हैं जैसे पद्माकर के। व्रजभाषा के शृंगारी रीतिसिद्ध कवियो की परम्परा में इन्हें अन्तिम कवि समझना चाहिए। 'इनकी सी सरस और भावमयी फुटकल शृंगारी कविता फिर दुर्लभ हो गई। इनमें वड़ाभारी गुण भाषा की स्वच्छन्दता है। अनुप्रास आदि शब्दालंकारों के प्रयोगों में भी भाषा भद्दी नहीं हो पाई है। ऋतु वर्णनों में इनका उल्लास उमड़ा पड़ता है। वहुत से कवियों के ऋतुवर्णन हृदय की सच्ची उमंग का पता नहीं देते, रस्म सी अदा करते जान पड़ते हैं, पर इनके चकोरों की चहक के भीतर इनके मन की चहक भी साफ झलकती है।[1]' इनकी कविता के कुछ उदाहरण दर्शनीय हैं—

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास; पृ० ३७७

मिलि माधवी आदिक फूल के व्याज विनोदलता बरसायो करें।
रचिनाच लतागन तानि बितान सबै विधि चित्त चुरायो करें॥
द्विजदेव जू देखि अनोखी प्रभा अलिचारन की रति गायो करें।
चिर जीवो, वसन्त ! सदा द्विजदेव, प्रसूनन की झरि लायो करें॥

भूले-भूले भौर बन भाँवरें भरेंगे चहूँ,
फूलि फूलि किंसुक जके से रहि जाय हैं।
द्विजदेव की सौं वह कुंजन विसारि कूर,
कोकिल कलंकी ठौर ठौर पछिताय हैं।
आवत वसन्त के न एहैं जौ पै स्याम तौ पै,
बावरी ! बलाय सों हमारेऊ उपाय हैं।
पी हैं पहिलेई तें हलाहल मंगाय या—
कलानिधि की एकौ कला चलन न पाय हैं।

विहारी के अनुकरण पर बनी पुस्तकों में रामसहायदास की 'राम-सतसई' प्रसिद्ध है। 'जहाँ तक शब्दो की कारीगरी और वाग्वैदग्ध्य से सम्बन्ध है, वहीं तक विहारी का अनुकरण करने का प्रयत्न किया गया है और इन्हे उसमे सफलता भी मिली है पर नकल ऊपरी बातों की हो सकती है हृदय की नही।[१]' यही रामसतसई 'शृंगार सतसई' के नाम से प्रकाशित हुई है। इसे शृंगार रस का एक उत्तम ग्रंथ माना जा सकता है। नीचे इनकी सतसई के कुछ दोहे दिये जाते है जिनमे अनुप्रास एवं यमक का चमत्कार देखा जा सकता है—

मटक न झटपट चटक कै अटक सुनट के संग।
लटक पीतपट की निपट हटकति कटक अनंग॥
लागे नैना नैन में कियो कहाधौं मैन।
नहिं लागे नैना रहे, लागे नैना नैन॥

काव्यशास्त्र के विकास में रीतिसिद्ध कवियों का योगदान—

रीतिसिद्ध कवियो की कला अलंकृत कला है। भाषा को अलंकृत करने के लिए इन कवियों ने रीतिबद्ध कवियों की भांति आग्रह पूर्वक अलंकारों का प्रयोग नही किया। समास-पद्धति के द्वारा सरस काव्य की अवतारणा एवं स्वाभाविक शब्दालंकारों की झंकृति इन कवियो

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास; ३३७

को काव्यशास्त्र के विकास में एक उपलब्धि मानी जाती है। इन कवियों ने अलंकार के सम्बन्ध में शास्त्रीयता को पोषण नहीं दिया अपितु ये सहजता, स्वाभाविकता एवं अकृत्रिमता में से सरस काव्य के मुक्ताकण चुनते रहे।

रीतिकालीन आचार्य-कवियों की भांति रीतिसिद्ध काव्य-कवियों ने भी ब्रजभाषा के मसृणरूप को ही ग्रहण किया है। संगीत को कविता के समीप लाने का आग्रह इन कवियों का रहा है। दोहा जैसे लघु और सामान्य छन्द को भी नादात्मक बनाने का प्रयत्न किया गया। कवित्त और सवैयों में तो इस धारा के कवियों ने जो कमाल हासिल किया वह गजब है। श्रृंगार रस इन कवियों का वर्ण्य विषय था। ये कवि स्वतंत्र क्षेत्र में विचरण करते हुए भी नूतन उद्भावनाओं की सृष्टि का पूरा-पूरा लाभ उठाते थे। आचार्य—कवि कलावादी बनकर काव्य-भूमि में उतरे थे किन्तु रीतिसिद्ध कवियों ने कला के साथ भावभूमि का भी अवगाहन किया। इन कवियों में पिष्टपेषण का अभाव है। आश्रयदाताओं के आदेश पर लिखे गए ग्रंथ भी सरल, सरस और स्वतंत्र श्रृंगार की मुक्तक धारा प्रवाहित करने में सशक्त है, 'यदि बिहारी ने किसी राजा की प्रशंसा में ही अपने सात सौ दोहे बनाए होते तो उनके हाथ केवल अशर्फियाँ ही लगी होती।[1]' रीतिसिद्ध परम्परा के ये सरस्वती—पुत्र चर्वित-चर्वण से बचकर स्वतंत्र एवं नूतन उद्भावनाओं के सहारे मौलिक काव्य सृष्टि में अधिक सफल हुए। ऋतुवर्णन, नखशिख, बारहमासा एवं नायिका भेद को अपने काव्य का माध्यम बनाकर भी ये कवि स्वतंत्र चिन्तन कर सके।

सारांश

रीतिकाल की शास्त्रीय नियमों में आबद्ध परिपाटी को पृष्ठभूमि में रखकर उसके व्यावहारिक पक्ष को उजागर करने वाले रससिद्ध, रीतिसिद्ध कवि या काव्य-कवि शब्दालंकार के सच्चे प्रयोक्ता हैं। बिहारी जैसे रीतिसिद्ध कवियों ने कविता की मुक्तकश्रृंगार-धारा को अजस्र प्रवाहित किया। इन्होंने लक्ष्यग्रंथ लिखे और पिष्टपेषण के बजाय मौलिक उद्-भावनाएँ कीं।

सेनापति के काव्य में शब्दालंकार का जितना सुष्ठु एवं चमत्कारिक प्रयोग है उतना हिन्दी के अन्य कवियों में दुर्लभ है। बिहारी की सतसई तो रीतिसिद्ध कविता के उपवन की वह कुंजगली है जिसमें सहृदयों के मन-भ्रमर शताब्दियों से भटक रहे हैं। रस के चषक—उनके दोहे 'नावक के तीर' बने हुए हैं जो अन्तर के अन्तराल को भेद कर गंभीर घाव करते

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास; पृ० ३०६

हैं। ऐसा कौन-सा शब्दालंकार है जो सतसई में नही प्राप्त होता ? वल्कि यों कहें कि जो अलंकार उसमें नही वह अलकार कहलाने योग्य नही। सचमुच विहारी हिन्दी की मुक्तकश्रृंगार-कविमाला के सुमेरू है। इसी प्रकार मतिराम की रचनाओं में अलंकार रसोपकारक वनकर आये हैं। भावों के सहज चितेरे मतिराम ने शब्दालंकारों का भी सहज-स्वाभाविक प्रयोग किया है। उनके छन्दों की सरलता और भाषा की प्रांजलता पाठको के मनमस्तिष्क-पटल पर विशेष चित्रों की सृष्टि करने में पूर्णतः सक्षम हैं। गुजरात के दो रीतिसिद्ध ग्रंथों-प्रवीणसागर और दयाराम सतसई—ने दो भाषा क्षेत्रों के मध्य जो रसधारा प्रवाहित की वह इतिहास की एक स्मरणीय घटना है। इन शीर्षस्थ कवियो के अतिरिक्त कुछ ऐसें रीतिसिद्ध कवि और हुए है जिनके ज्ञात-अज्ञात ग्रथरत्नों में शब्दालकार की चाशनी मे लिपेटे हुए रस-कलश, काव्य-पिपासुओ की अतृप्ति को शान्त करते है। बेनी वदीजन के फुटकल छन्द, कृष्ण-कवि द्वारा लिखित विहारी सतसई की टीका; रसनिधि का रतन हजारा, बैरीसाल का भाषाभरण, रतनकवि के फतेहभूषण और अलंकार दर्पण; चदन कवि के श्रृंगार सागर काव्याभरण और कल्लोलतरगिणी; देवकीनदन के श्रृंगार लतिका तथा रामसहायदास की राम सतसई—रीतिसिद्ध कविता के वे विराम स्थल है जहाँ मुक्तकश्रृंगार की धारा ने दो क्षण रुककर रसानुभूति के सरोवर निर्मित कर दिये। इन कवियों के कई कवित्त—सवैये शताब्दियो से जनमानस के कठहार वने हुए है। वस्तुत. श्रृंगार की ऐसी धारा बहाने वाले ये कविरत्न धन्य हैं।

रीतिसिद्ध कवियो ने काव्यशास्त्र के विकास में चिरस्मरणीय योगदान किया है। शब्दालंकारों के जितने सरस, सहज एव स्वाभाविक उदाहरण इन कवियों के काव्यो मे मिलते है वे रीतिवद्ध कवियो के काव्य मे कहाँ ? कविता को गेयता और झंकृति देकर उसे रसोपकारक वनाने वाले इन कवियो ने व्रजभाषा के आन्तरिक सौन्दर्य का जो उद्घाटन किया है, वह हिन्दी के लिए गौरव का विषय है। वस्तुत. ये कवि कला के साथ भावभूमि के भी सच्चे चितेरे थे। इन्होंने अपनी काव्यसाधना से शब्दालंकारो की सार्थकता सिद्ध कर दी।

नवम परिच्छेद

रीतिमुक्त काव्य में शब्दालंकार

नवम-परिच्छेद
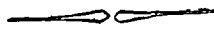
रीतिमुक्त काव्य में शब्दालंकार

विरह-वेदना की अश्रु विगलित भूमि मे काव्य के अंकुर फूटते हैं। सार्त्र ने कहा है—'परिताप का एक क्रन्दन, परिताप का एक चिह्न है जो उसे उद्बुद्ध करता है परन्तु परिताप का एक गीत दोनों अर्थात् स्वयं परिताप एवं इससे इतर कुछ और भी है।[1]' रीतिमुक्त काव्य भी इसी प्रकार का है। रीतिमुक्त अर्थात् बाह्य रीति के सभी सिद्धान्तों से मुक्त। रीतिमुक्त काव्य के कर्ता भावुक सहृदय और निपुण कवि थे। इन कवियों ने शब्दालंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण प्रचुर मात्रा में प्रस्तुत किये। 'ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण ग्रंथो से चुनकर इकट्ठे करे तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी।[2]' इस धारा के अधिकांश कवियों ने किसी साहित्यिक प्रेरणा से काव्यरचना नही की, प्रत्युत इनका हृदय वैयक्तिक वेदना को सहन न कर सकने के कारण काव्य में प्रस्फुटित हो गया।

रीतिमुक्त काव्य की सामान्य विशेषताएँ—

भक्ति की धारा ने जिस प्रकार रीतिसिद्ध साहित्य को प्रभावित किया उसी प्रकार रसखान जैसे प्रेममार्गी स्वच्छन्दतावादी कवियो की स्वच्छन्द धारा ने रीतिमुक्त-काव्यधारा को जीवन दिया। इस धारा के कवियों के लिए काव्य साधन तथा साध्य दोनों था। इन कवियों ने प्रेम का वर्णन किया है जिस पर तत्कालीन विदेशी भावधारा का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। वह धारा थी फारस की सूफी काव्यधारा। ये कवि सूफियों की प्रेम की पीर से दूर तक प्रभावित हैं पर यह विदेशी प्रभाव भारतीय रंग में इतना रंगा हुआ है कि निकट से देखने पर भी शीघ्र पहचान में नही आता। रीतिमुक्त कविता, बद्ध कविता से इस अर्थ में भी अधिक सम्पन्न है कि उसमें क्वचित प्रबंध लिखने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

---

१. A cry of grief is a sign of the grief, which provokes it but a song of grief is both grief itself and some thing other than grief. What is literature–Page 3.

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास (आ. शुक्ल, संस्करण २०१६ वि०) पृ० २२६

प्रायः सभी रीतिकालीन कवियों का वर्ण्यविषय श्रृंगार था पर रीतिमुक्त कवियो का प्रेम तपेतपाये कचन-सा शुद्ध है । इनके लिए संयोग से वियोग अधिक सार्थक है । 'रीतिबद्ध कवियों की दृष्टि वाह्य निरूपण की ओर ही अधिक रही जहाँ वे उक्ति चमत्कार से ज्यादा ऊपर नही उठ पाये, पर इन स्वच्छन्द प्रेमी कवियों ने कला के साथ ही हृदय-पक्ष का सामन्जस्य भी कर दिया है जिसके कारण इनके स्थल अधिक मार्मिक हो उठे है ।[1]' इस धारा के अधिकांश कवि रसग्राही थे जिन्होंने चमत्कार के साथ कविता के भावपक्ष का भी ख्याल रखा ।

रीतिमुक्त कवियों की भाषा और शिल्प सज्जा वडी ही लाक्षणिक रही है । धनानंद जैसे रसवर्षक कवियों की उक्तियों में जो लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और प्रयोग वैचित्य दिखाई देता है वह हिन्दी मे पौने दो सौ वर्षो वाद दिखाई देता है ।

अग्रिम पृष्ठो में कतिपय रीतिमुक्त कवियो के काव्य का शब्दालंकार के प्रकाश मे विवेचन किया जावेगा ।

रीतिमुक्त कवि और उनका काव्य

घनआनन्द

घनआनन्द साक्षात् रस-मूर्ति थे । इन्हें ब्रजभाषा के प्रधान स्तम्भो में गिना जा सकता है । उनकी कविता मे असफल प्रेमी टीस से तडप कर करुण क्रंदन कर रहा है । साहित्यिको की दृष्टि मे प्रेम की पीडा का यही काव्य घनआनन्द को श्रृंगारी फुटकल कवियो का मुकुटमणि सिद्ध करदेता है । घनआन्द के ग्रथो मे 'सुजानहित' उनकी अन्तर्मुखी व्याकुलता के सन्तप्त उद्गारो से युक्त है । इसके अतिरिक्त कृपाकन्द, वियोगवेलि, प्रेमपत्रिका, विरह लीला आदि इनके अन्य सरस ग्रन्थ है ।

'घनआनन्द वियोग श्रृगार के प्रधान मुक्तक कवि है । प्रेम की पीर ही लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ है । प्रेममार्ग का ऐसा प्रवीण और धोर पथिक तथा जवादानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नही हुआ है[2] ।' घनआनन्द का सृजन ही स्वाभाविक है । वे तुक्कड एव प्रयत्न साध्य कविता पर व्यंग्य करते हुए कहते है—

> यो धनआनंद छावत भावत, जान संजीवन ओर तें आवत,
> लोग है लागि कवित्त वनावत, मोहितौ मेरे कवित्त वनावत ।[3]

---

१. कविवर पद्माकर और उनका युग; पृ० ७५

२.- हिन्दी साहित्य का इतिहास (संस्करण २०१६ वि.) पृ० ३२०

३. रीतिकाव्य संग्रह; पृ० ३४८

घनआनन्द बादल को दूत बनाते हैं पर कालिदास की तरह यक्ष की प्रिया को कोई सन्देश नहीं भिजवाते प्रत्युत यही निवेदन करते हैं कि यदि हो सके तो कभी तुम मेरे आँसुओं को लेजाकर विश्वासघाती सुजान के आंगन में बरसा दो[1]। घनआनंद की मार्मिक उक्तियों में शब्दालंकार के जो छलकते सरोवर दिखाई देते हैं - उनकी कुछ झलक नीचे दिए गए उदाहरणों में मिल सकती है।

अन्त्यानुप्रास

सोए है अंगनि अंग समोए सुभाए अनंग के रंग रिस्यौ करि,
केलिकला रस आरस आसव पानछके घनआनंद यौं करि।
पै मनसा मधि रागत पागत लागत अंकनि जागत ज्यों करि,
ऐसे सुजान विलास निधान हौ सोएं जगे कहि क्यौरियै वर्यों करि।[2]

श्लेष एवं छेकानुप्रास

अति सूधो सनेह को मारग है जहां नेकु सयानप बांक नहीं,
तहां सांचे चले तजि आपुन पौ झझकें कपटी जे निसांक नहीं।
घन आनंद प्यारे सुजान सुनौ इत एकतें दूसरो आंक नहीं,
तुम कौन धौ पाटी पढ़े हो लला मनलेहुपै देहु छटांक नहीं।[3]

'घनआनन्द की भाषा पर जैसा अचूक अधिकार है वैसा और किसी कवि का नहीं। भाषा मानो इनके हृदय के साथ जुड़कर ऐसी वशवर्तिनी हो गयी थी कि ये उसे अपनी अनूठी भाव भंगी के साथ-साथ जिस रूप में चाहते थे उस रूप में मोड़ सकते थे। अपनी भावनाओं के अनूठे स्वरूप की व्यंजना के लिए भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करने वाला हिन्दी के पुराने कवियों में दूसरा नहीं हुआ[4]।' इनकी कविता में वक्रोक्ति एवं चुभती हुई अभिव्यंजना

---

१. परकाजहि देह कों धारि फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ, सबही विधि सज्जनता सरसौ॥
घनआनंद जीवन दायक ह्वौ, कछु मेरियौ पीर हिये परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आंगन, मो अंसुवानिहि लै बरसौ॥
घनआनंद ग्रन्थावली; छन्द ३३६

२. सुजानहित; छन्द १३६

३. वही; छन्द २६७

४. हिन्दी साहित्य का इतिहास; पृ० ३२२

के दर्शन होते है, जिससे शब्दालंकारो की गरिमा में चार चॉद लग जाते है। अनुप्रासों के प्रयोग मे नादव्यजना का अनूठा चमत्कार दिखाई देता है। भाषा एवं शिल्प-सज्जा की दृष्टि से घनआनन्द का स्थान रीतिमुक्त-कवियो में सर्वोच्च है, इसमें दो मत नही हो सकते है। प्रेम को इन्होंने जिस प्रकार एक सीधासादा रास्ता माना है उसी प्रकार उनके काव्य में शब्दालंकारो का प्रयोग भी विना आडम्बर एवं प्रयत्न के वड़ी ही स्वाभाविक रीति से हुआ है। प्रेमरस मूर्ति घनआनन्द से इसके अतिरिक्त और क्या अपेक्षा की जा सकती है ?

आलम और शेख

आलम जाति के ब्राह्मण थे पर शेख नाम की रगरेजिन के प्रेम में फंसकर मुसलमान हो गए और उसके साथ विवाह कर लिया। शेख भी अच्छी कविता करती थी। आलम की कविताएँ 'आलमकेलि' के नाम से संग्रहित है जिसमे बहुत से कवित्त शेख के रचे हुए हैं। आलम प्रेमोन्मत कवि थे और अपनी तरग के अनुसार रचना करते थे। प्रेम की पीर इनके एक-एक वाक्य में स्पष्ट अनुभव की जा सकती है। 'श्रृंगार रस की ऐसी उन्माद मयी उक्तियाँ इनकी रचना मे मिलती है कि पढ़ने और सुनने वाले लीन हो जाते है[1]' और इस दृष्टि से वे रसखान और घनआनन्द की कोटि मे आते है। इनके कवित्तो और सवैयों में अनुप्रास, श्लेप एवं वक्रोक्ति के मोती चुने जा सकते है। उदाहरण स्वरूप एक सवैया एव एक कवित्त नीचे दिए जाते है—

१. रात के उनीदे अरसाते मदमाते राते,
अतिकजरारे दृग तेरे यों सुहात है।
तीखी तीखी कोरनि करोरि लेत काढ़े जीउ,
केते भए घायल औ केते तलफात हैं।
ज्यौं ज्यौं लै सलिलचख 'सेख' धोवै वार वार,
त्यों त्यों वल वुन्दन के वार झुकि जात हैं।
कैंवर के भाले कैधौं नाहर नहन वाले,
लोहू के पियासे कहूँ पानी ते अघात है।[2]

२. जा थल कीने विहार अनेकन ता थल कांकरी वैठि चुन्यौ करैं,
जा रसना सौं करी वहु वातन ता रसना सौं चरित्र गुन्यो करैं।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास; पृ० ३१४
२. रीतिकाव्य संग्रह; पृ० ३३८

आलम जौन से कुंजन में करि केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करें,
नैनन में जे सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करें।[1]

बोधा

इनका नाम बुद्धिसेन था पर इनके आश्रयदाता पन्ना नरेश इन्हें प्यार से बोधा कहते थे और इसी नाम से ये कविता लिखते थे। अपनी प्रेमिका सुभान के वियोग में बोधा ने 'विरहवारीश' नामक ग्रंथ तैयार किया। विरहवारीश के अतिरिक्त 'इश्कनामा' भी इनकी एक प्रसिद्ध पुस्तक है। बोधा एक रसोन्मत्त कवि थे यही कारण है कि इन्होंने कोई रीति ग्रन्थ न लिखकर अपनी मौज में स्वतन्त्र पद्यों की रचना की। 'ये अपने समय के एक प्रसिद्ध कवि थे। प्रेम के पीर की व्यंजना भी इन्होंने बड़ी मर्मस्पर्शिनी युक्ति से की है[2]।' इनकी भावुक युक्तियों में स्वाभाविक रूप से शब्दालंकारों की अवतारणा हुई है। कुछ उदाहरण दर्शनीय है—

एकै लिए चौरी कर छत्र लिए एकै हाथ,
एकै छाँह गीर एकै बादन सकेलती।
एकै लिए पानदान, पीकदान सीसा सीसी,
एकै लै गुलाबन की सीसी सीसनेलती।
बोधा कवि कोऊ बीन बाँसुरी सितार लिए,
लाड़ली लड़ावै फूल गेंदन की झेलती।
छोटे ब्रजराज छोटी राधेरी रंगील ताने,
छोटी छोटी छहरी अहीरन की खेलती।

इस उदाहरण में अनुप्रास (सम्पूर्ण भेदों के साथ) यमक और वीप्सा का सम्मिलित चमत्कार उपस्थित हुआ है। भाषा सम का एक उदाहरण है—

कूलाकि अंग पुकारं, जौन रान अरबेल पुकारं,
बिछुरं दरद अपारं, सह जानति माधवा बिरही।[3]

कवि ठाकुर

ठाकुर नाम से रीतिकाल में तीन कवि हो गये है जिनमें दो असनी निवासी ब्रह्म भट्ट

---

1. रीतिकाव्य संग्रह; पृ० ३३८
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास; पृ० ३५२
3. विरहवारीश; पृ० ८३

थे और एक बुन्देलखण्ड के कायस्थ। तीनों की कविताएँ ऐसी मिल जुल गई हैं कि भेद करना कठिन है। असनी वाले प्रथम ठाकुर ने रीतिमुक्त फुटकल कवित्त-सवैये लिखे हैं जिनमें अनुप्रास एवं ध्वन्यात्मकता का मणिकांचन-संयोग दिखाई देता है। एक सवैया है—

> बौरे रसालन की चढ़ि डारन कूकत क्वैलिया मौन गहैना,
> ठाकुर कुंजन कुंजन गुंजत, भौरन भीर चुपैबो चहै ना।
> सीतल मंद सुगंधित, बीर, समीर लगे तन धीर रहै ना।
> व्याकुल कीन्हों बसंत बनाय कै, जाय कै कंत सों तोऊ कहैना।

असनी वाले दूसरे ठाकुर भी अच्छी कविता करते थे। ठाकुर बुन्देलखण्डी 'कवि ठाकुर' के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। इनकी कविताओ का संग्रह 'ठाकुर-ठसक' के नाम से लाला भगवानदीन ने निकाला था। 'ठाकुर बहुत ही सच्ची उमंग के कवि थे। उनमें कृत्रिमता का लेश भी नही था। उनकी कविता मे न तो कहीं व्यर्थ का शब्दाडंबर है, और न कल्पना की झूठी उडान और न अनुभूति के विरुद्ध भावो का उत्कर्ष[1]।' इनकी कविता मे व्रज भाषा एव बुन्देलखण्ड की लोकोक्तियों का बड़ा ही मनोहारी प्रयोग मिलता है।

ठाकुर बुन्देलखण्डी प्रधानत. प्रेमनिरूपक कवि थे। इन्होंने प्रेम भाव को कभी त्योहारों, उत्सवों के माध्यम मे व्यक्त किया और कभी मानव की कुटिलता और क्षुद्रता के द्वारा। इनके कवित्त-सवैयो मे शब्दालंकारों का स्वाभाविक प्रेम मिलता है। अनुप्रास का जितना रसोपकारक प्रयोग आपकी कविता में हुआ है उतना अन्यत्र कम देखने में आना है। कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

१. दस वार, वीस वार, बरजि दई है जाहि,
  एते पै न मानै जौ तौ जरन बरन देव।
 कैसो कहा कीजै कछू आपनो करो न होत,
  जाके जैसे दिन ताही तैसेई भरन देव॥
 ठाकुर कहत मन आपनो मगन राखो,
  प्रेम निहसंक रसरंग विहरन देव।
 विधि के बनाए जीव जैते हैं, जहाँ के तहाँ,
  खेलत फिरत तिन्हैं खेलन फिरन देव॥[2]

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास (२०१६ संस्करण); पृ० ३६२

२. रीतिकाव्य संग्रह; पृ० ३५८-३५६

२ यह चारहु ओर उदौ मुखचंद की चाँदनी चारु निहारि लैरी ।।
बलि जौ पैअधीन भयो पिय, प्यारी तौ एतौ विचार विचारि लैरी,
कवि ठाकुर चूकि गदौ जौ गोपाल तौ तें विगरी कौ संभारि लैरी,
अब रैहै न रैंहै यहै समयो, बहती नदी पायं पखारि लैरी ।[1]

दीन दयाल गिरि—

यह एक गोसाईं थे एवं हिन्दी और संस्कृत के अच्छे विद्वान थे । ये एक अत्यन्त सहृदय और भावुक कवि थे । इनकी जैसी अन्योक्तियाँ हिन्दी में और किसी कवि की नहीं हैं । बाबाजी का भाषा पर बहुत ही अच्छा अधिकार था । इनकी रचनाओ में दृष्टान्त तरंगिणी, अनुराग बाग, वैराग्य निदेश, अन्योक्ति कल्पद्रुम प्रमुख है । 'इनको जैसा कोमल-व्यंजक पद-विन्यास पर अधिकार प्राप्त था वैसा ही शब्द चमत्कार आदि के विधान पर भी । यमक और श्लेषमयी रचना भी इन्होंने बहुत की है । जिस प्रकार ये अपनी भावुकता हमारे सामने रखते हैं उसी प्रकार चमत्कार कौशल दिखाने में भी नहीं चूकते । इससे जल्दी नहीं कहते बनता कि इनमे कलापक्ष प्रधान है या हृदयपक्ष । बड़ी अच्छी बात इनमें यह है कि इन्होंने दोनों को प्रायः अलग-अलग रखा है ।'[2] 'यद्यपि इनकी कविता मे अनुप्रासयुक्त सरस कोमल-पदावली का बराबर व्यवहार हुआ है, पर जहाँ चमत्कार का प्रधान उद्देश्य रखकर ये बैठे हैं वहाँ श्लेष, यमक, अन्तर्लापिका, बहिर्लापिका सब कुछ मौजूद है । सारांश यह है कि ये बहुरंगी कवि थे ।'[3] नीचे उदाहरणस्वरूप कुछ छन्द दिये जाते हैं—

१. सुबरन बरन लसत कटि तटपर मुकुट लटक छवि कहि न परति अति;
मुरि मुसुकनि चल चितवन जुरिजुर करति विकल वह हृदय हरति गति ।
अलक झलक करि खलत करत बसि मनु अलिअवलि बरहि मिलि विरहति,
वदन सरद ससि मदन चलित लखि जदुपति दुति निति विचरति अतिमति ।[4]

२. आनंद के कंदनंदनंद की अमंद छवि, बरनि न जाय मंदमंद मुसकान की,
ललना के संग चढ़े झूलना झूलत लाल कल ना परति विनु देखे दसामान की ।

---

१. रीतिकाव्य संग्रह; पृ० ३६०
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास; पृ० ३७२
३. वही; पृ० ३७२
४. अनुराग बाग; छन्द ५

लोल लोल लोयन के कोरन विलोकि बाल, कहाँ गई मान रहे सुधिना सयान की,
झूलति समयकी सुधि भूलति न हूलति री, उझकनि झुकनि झकोरनि सुजान की ।[1]

३. किलकि किलकि कान्ह हिलकि हिलकि उठे,
नेकु नहि मानत कितेकु समुझायोरी ।
रोदन को ठानत न खात दधि ओदन को.
गोदन ते गिरो परै करै मन भायोरी ।
चौंक चौंक उठे पलना ते परै कल नाहीं ।
पलकु न मारै पल एको नेरो जायो री ।
गयो हुतो चारन को ग्वारन के संग आज,
खरिका में खेलत मो लरिका डरायो री ।[2]

चन्द्रशेखर वाजपेयी

इनके नौ ग्रंथ माने जाते है, जिनमें से हम्मीरहठ, नखशिख, भक्ति विलास आदि प्रमुख हैं । नेत्रों के वर्णन में कवि की अनुप्रास प्रियता एवं यमक के प्रति रुचि दर्शनीय है—

तोल भरे सरस सरोज छवि छीने तेल,
मीन मृग खंजमान गंजन मरोरदार ।
नेह सरसीले अरसीले भाव दरसीले,
पर सीले परम रसीले रंग बोरदार ।
चोरदार चित्त के चलाक हित जोरदार,
कोरदार सेखर अरुन वर डोरदार ।
दौरदार दीरघ दिमाक भरे प्रान प्यारी.
ताकि दैरी तनक तिहारे नैन तोरदार ।[3]

इनकी कविता अति सरस और मनोहर है । 'शब्द और अर्थ दोनो में कवि ने मनोहर जकता दिखाई है ।'[4] भावो की लहरों पर प्रकाश के चिन्हों के समान इनकी कविता मे अनुप्रास एव यमक के दर्शन स्पष्ट होते है ।

---

१. अनुराग बाग छन्द; १२४
२. वही; छन्द ४३
३ नखशिख; छन्द ३३
४. वही (निवेदन अंश) पृ० १

पद्माकर

पद्माकर रीतिमुक्त-परम्परा में उत्कृष्ट एवं अन्तिम प्रसिद्ध कवि है। इनकी रचना की रमणीयता से देश में जैसा इनका नाम गूंजा वैसा फिर आगे चलकर किसी और कवि का नही। इन्होने महाराज जगतसिंह के नाम पर अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ जगद्विनोद बनाया। इसके अतिरिक्त रामरसायन, गंगालहरी आदि ग्रन्थ भी उत्कृष्ट माने जाते हैं।

जगद्विनोद शृंगार रस का सार-ग्रन्थ प्रतीत होता है। पद्माकर के विषय में शुक्ल जी लिखते है—इनकी मधुर कल्पना ऐसी स्वाभाविक और हावभाव पूर्ण मूर्ति विधान करती है कि पाठक मानो प्रत्यक्ष अनुभूति में मग्न हो जाता है। ऐसी सजीव मूर्ति विधान करने वाली कल्पना विहारी को छोड और किसी कवि में नही पाई जाती। भाषा की सब प्रकार की शक्तियो पर कवि का अधिकार दिखाई देता है। कहीं तो इनकी भाषा स्निग्ध, मधुर पदावली द्वारा एक सजीव भावभरी प्रेममूर्ति खडी करती है, कहीं भाव या रस की धारा बहाती है, कही वीर दर्प से क्षुब्ध वाहिनी के समान अकड़ती हुई चलती है और कही प्रशान्त सरोवर के समान स्थिर और गम्भीर होकर मनुष्य जीवन की विश्रान्ति की छाया दिखाती है। साराश यह है कि इनकी भाषा में वह अनेक रूपता है जो एक बड़े कवि में होनी चाहिए। इनमें भाषा की वैसे ही अनेकरूपता दिखाई देती है जैसी गोस्वामी तुलसीदास जी मे दिखाई पडती है।[1]

जगद्विनोद मे वसन्त और शिशिर वर्णन अनुप्रास की छटा के लिए हिन्दी साहित्य में अत्यधिक प्रसिद्ध है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं—

१. **गुलगुली गिल में गलीचा है, गुनीजन है,**
चांदनी हैं, चिक है, चिरागन की माला है।
कहैं पद्माकर त्यों गजक गिजा है सजी.
सेज है सुराही है सुरा है और प्याला हैं।
सिसिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्है,
जिनके अधीन एते उदित मसाला है।
तान तुक वाला है, बिनोद के रसाला है,
सुबाला है, दुसाला है बिसाला चित्रसाला है।[2]

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास (संस्करण २०१९ वि०) पृ० २९५
२. जगद्विनोद; छन्द ३८९

२. कूलन में केलि में कछारन में कुंजन में,
क्यारिन में कलिन कलीन किलकन्त है।
कहै पद्माकर परागन में पौनहूँ में,
पानन में पिक में पलासन पगंत है।
द्वार में दिसान में दुनी में देस देसन में,
देखो दीप दीपन में दीपत दिगन्त है।
वीथिन में, व्रज में, नवेलिन में वेलिन में,
वनन में बागन में बगरो वसंत है।[1]

काव्यशास्त्र के विकास में रीतिमुक्त कवियों का योगदान

रीतिबद्ध एवं रीतिसिद्ध-कवियो की ही तरह रीतिमुक्त-कवियों ने भी रीतिकाल में अपने विशिष्ट दृष्टिकोण एव निरूपण को अपनी विशिष्ट शैली से रूपायित किया। प्रेम सरोवर के प्यासे राजहंसो की तरह इस धारा के कवियों ने, उत्तप्त विरह की वेदना में अश्रुओ के मोती चुने है। शब्दालंकारो के सरस एवं हृदयपक्ष से सरावोर जितने उदाहरण इस धारा के कवियो ने लिखे हैं उतने पहले कभी नही लिखे गए। अनुप्रास तो शब्दालंकार-सिरमौर की तरह काव्य-मन्दिर के गर्भगृह में प्रतिष्ठित हो गया। घनआनन्द के काव्य का प्राण व्यक्तिगत अनुभूति तथा सहज उद्‌गार रहे है। बोधा, ठाकुर आदि कवि भी इसी प्रकार के थे। उन्होंने हृदय की वेदना को काव्य के आच्छादन में प्रस्तुत किया। इस धारा के सभी कवि कर्त्ता नही भोला थे। यही कारण है कि इनकी कविता शब्दालंकारो से किंचित भी बोझिल नहीं हो पाई है। जिस प्रकार पद्म समूहो को मकरन्दपराग की उपस्थिति का बोध नही होता फिर भी हर क्षण उसकी उपस्थिति उनमे रहती है उसी प्रकार भाव विभोर पद्यो मे शब्दालंकार की बड़ी मनोहर मुक्तामाला इन कवियों ने पिरोई। हिन्दी साहित्य के रीतियुग मे इन अलबेले मनमौजी कवियो की यह उपलब्धि एक स्मरणीय संकेत है।

इन कवियो की भाषा में व्रज एवं बुन्देलखण्डी शब्दो का जो मार्दव रूप प्राप्त होता है वह पची हुई काव्य भाषा का प्रतीक है। इन कवियो के प्रेम वर्णन में सूफी काव्य-धारा का पर्याप्त प्रभाव रहा है, पर यह विदेशी प्रभाव भारतीय रंग मे इतना रंग गया है कि निकट से देखने पर भी शीघ्र पहचानने मे नही आता। आलम, घनआनन्द आदि कवि

---

१. जगद्विनोद, छन्द ३७८

बाहरी सामग्री को अपने ढंग से उपयोग करने की कला में दक्ष हैं। बोधा 'विरहवारीश' मूलतः भारतीय प्रेमाख्यान है जो कवि की स्वयं की जीवन गाथा भी कहता है। रीतिमुक्त कविता में प्रबन्ध काव्य लिखने की यह प्रवृत्ति स्पष्ट करती है कि इन्होंने जीवन को समग्र-रूप में स्वीकार किया है। गणगौर, वटसावित्री आदि त्योहारो को अपनी कविता का विषय बनाकर इन कवियो ने धर्म एव लोक जीवन को मार्मिक एवं सम्मिलित रूप से प्रस्तुत किया।

भाषा और शिल्प की दृष्टि से ये कवि बडे समृद्ध थे। घनआनन्द की लाक्षणिक उक्तियाँ हिन्दी साहित्य मे बेजोड़ मानी जाती हैं। उनके काव्य मे जिस लाक्षणिक मूर्तिमत्ता एवं प्रयोग वैचित्र्य के दर्शन होते हैं वे वर्तमान काल की नूतन काव्य धारा 'अभिव्यंजनावाद' के रूप में विदेशी प्रभाव लेकर प्रकट हुई। पद्माकर के प्रयोग वैविध्य इसी धारा के कवियो की बहुज्ञता को प्रकट करती है। ये कवि नूतन. जीवन्त-काव्य की मूर्ति थे।

सारांश

विरहविदग्ध हृदय की किसी धड़कन के साथ जिन कविताओ का प्रसव होता है, वे रीतिमुक्त काव्य मे परिगणित की जा सकती है। बाह्य रीति से सर्वथा मुक्त हृदयपक्ष से सराबोर इस धारा के कवियो ने वयक्तिक वेदना को रीति साहित्य में अमर कर दिया। सूफी काव्यधारा से प्रभावित होकर भी इन कवियो मे पूरी तरह भारतीयता रही। इस धारा के कवियो मे लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और प्रयोग-वैचित्र्य पर्याप्त मात्रा में दिखाई देता है।

रीतिमुक्त कवियो में घनआनन्द का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। वियोग शृंगार की अन्तर्मुखी व्याकुलता को अभिव्यक्त करने वाले इस कवि ने प्रेम की टीस को अमर कर दिया। इनकी कविता मे वक्रोक्ति की चुनन एव अनुप्रासो की नादव्यंजना है। मुसलमान दम्पती आलम और शेख की उन्मादमयी उक्तियाँ प्रसिद्ध है जिनमे उनके हृदय की विह्वलता तरगित हो रही है। 'विरहवारीश' के प्रणेता बोधा ने प्रेम की पीर के माध्यम से स्वाभाविक शब्दालकारो की अवतारणा की। अनुप्रास, यमक तथा रीतिकालोत्तर शब्दालकार वीप्सा एव भाषासम की उपस्थिति भी इनके काव्य मे देखी जा सकती है। ठाकुर-त्रिपुटी के प्रत्येक कवि ने अपने छन्दो मे अनुप्रासिकता को चरमोत्कर्ष पर पहुंचा दिया है। ठाकुर बुन्देलखण्डी ने तो स्वाभाविक शब्द चमत्कार की योजना करके जो रमणीयकारक प्रयोग किये हैं, उसमे अनुप्रास स्वयं में धन्य हो गया।

दीनदयाल गिरि के काव्य मे कोमलताव्यंजक-पदविन्यास एव चमत्कार बहुल-शब्दावली भिन्न-भिन्न रूप से देखी जा सकती है। शब्दालकारो के कई भेद—अनुप्रास, यमक,

श्लेप, चित्र (अन्तर्लापिका, वहिर्लापिका) आदि इनके काव्य के अलंकरण वने है। वस्तुतः ये वहुरंगी कवि थे। इसी तरह शब्द एवं अर्थ दोनों की मनोरमता के हामी चन्द्रशेखर वाजपेयी ने अनुप्रास एवं यमकप्रियता दिखाई है। पद्माकर ने रीतिमुक्त कवि के रूप में जो सर्वप्रियता प्राप्त की है वह इस धारा के अन्य कवियों को प्राप्त नही हो सकी इनके ग्रंथों में कही तो शृंगार रस की मधुर मन्दाकिनी प्रवाहित होती हुई दिखाई देती है तो कही वीरवाहिनी के प्रलयंकर प्रहारजन्य प्रखर स्वर सुनाई देते है। भाषा की अनेकरूपता की दृष्टि से शुक्लजी ने आपको तुलसी के समक्ष माना है।

रीतिमुक्त कवियो ने हिन्दी काव्यशास्त्र के प्रसार एवं प्रचार में अप्रत्यक्ष रूप से वड़ा योगदान किया है। इन कवियो के विरहविगलितअश्रुओ में शब्दालंकारों की चमक स्पष्ट दिखाई देती है। इस धारा के कवियों की कविताओं में हृदयपक्ष ही प्रधान रहा है, पर कलापक्ष की पूर्णरूप से अवहेलना नहीं की गई। वह तो स्वाभाविकरूप से भावों को तीव्र वनाने के लिए स्वत. आगया है। शब्दालंकारों में अनुप्रास को जो कविप्रियता प्राप्त हुई है वह शब्दालंकार के इतिहास में एक स्मरणीय उपलब्धि है। इस धारा के कवि अधिकांश मे रस के भोक्ता थे, यही कारण है कि इनमें से किसी भी कवि ने शब्दालंकारों का जानवूझकर कभी प्रयोग नही किया। इनके विरह-वारिधि को भरने के लिए शब्दालंकारों के नदनाले स्वतः उसी प्रकार दौड पड़े होगे, जिस प्रकार स्वयं इन कवियों की आँखों से विरहविदग्ध अश्रुधारा एक मौन एव एकाकी पल मे पलको के द्वार खोलकर अधरों के पास विखर गई होंगी। रीतिकाव्य की यह परम्परा परवर्तीकाल में भी देखा जा सकती है।

दशम परिच्छेद

रीतिकालीन शब्दालंकार की परवर्ती परम्परा

दशम परिच्छेद

रीतिकालीन शब्दालंकार की परवर्ती परम्परा

प्रत्येक युग जहाँ अपने पूर्ववर्ती काल के प्रभाव को पृष्ठभूमि के रूप में ग्रहण करता है वहीं वह अग्रिम युग के लिए अपने पोषित-प्रभावों का उत्तराधिकार प्रस्तुत कर जाता है। रीतिकाल का परवर्ती युग आधुनिक युग कहलाता है। इस काल में कवि-आचार्यों द्वारा विवेचित शब्दालंकारो की चर्चा करने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम रीतिकालोत्तर नवीन शब्दालंकारों का परिचय प्राप्त करे।

(क) रीतिकालोत्तर नवीन शब्दालंकार

रीतिकाल में विवेचित शब्दालंकारों का पुनराख्यान रीतिकालोत्तर आचार्यो ने तो किया ही, इस युग में कुछ नवीन शब्दालंकारों की अवतारणा भी हुई। ऐसे नूतन शब्दालकारों की विरलधारा यत्किंचित-सी संस्कृत एवं रीतिकालीन काव्यशास्त्रों में दृष्टिगोचर होती है पर नामभेद के कारण उनका शब्दालकारों के रूप में विवेचन नहीं हुआ। इन शब्दालंकारों में भाषासम, वीप्सा एवं पुनरुक्तिप्रकाश मुख्य है।

अग्रिम पृष्ठों में हम इन तीन नवीन शब्दालंकारों का विवेचन करेंगे।

(१) भाषासम

भाषासम को भाषासमक भी कहा जाता है। विभिन्न असम भाषाओं का प्रयोग इस अलंकार का मूल है। संस्कृत काव्य-शास्त्र में आचार्य विश्वनाथ ने भाषासम का उल्लेख किया है। पूरे रीतिकाल में इस अलंकार के दर्शन नहीं होते। भाषासम की यह धारा पुनः रीतिकालोत्तर आचार्यो में प्रकट हुई।

लक्षण

विश्वनाथ ने भाषासम का यह लक्षण दिया है—जहाँ एक ही प्रकार के शब्दों से अनेक भाषाओं में वही वाक्य रहे वहाँ भाषासम अलंकार होता है।[1] रीतिकालोत्तर आचार्यो

---

१. शब्दैरेक विधैरेव भाषासु विविधास्वपि।
वाक्यं यत्र भवेत्सोऽयं भाषासम इतीष्यते॥

—साहित्य दर्पण; १०-१०

में लाला भगवानदीन[1], जगन्नाथ भानु,[2] बिहारीलाल भट्ट[3] आदि ने भी अपने लक्षणो मे उसी शब्द से विभिन्न भाषाओं के वाक्यों की रचना की बात कही है किन्तु उनके उदाहरणो में ये एक ही छन्द में एकाधिक भाषा के प्रयोग को भाषासम मानते है। लाला भगवानदीन ने यह उदाहरण दिया है—

दृष्टुं तत्र विचित्रतां सुमनसां मै था गया बाग में ।
काचित्तत्र कुरंगशाव नयना, गुल तोड़ती थी खड़ी ॥
उन्ने-भ्रूधनुषाकटाक्ष विशिखैंघायल किया था मुझे ।
तत्सीदार सुदैव मोह जलधौ हैदर गुजारैं शुकर[4] ॥

इस छन्द में संस्कृत एवं उर्दू भाषा का प्रयोग हुआ है। अतः स्पष्ट है कि रीतिकालोत्तर आचार्यों ने विश्वनाथ का वही शब्द अथवा पद का सिद्धान्त न लेकर एक ही छन्द में एकाधिक भाषा का प्रयोग मान्य किया। भाषाओं मे भी साहित्यिक भाषा के अतिरिक्त लोकभाषा और बोलियों का भी प्रयोग किया गया है।

वर्गीकरण

डॉ० रसाल ने भाषासम का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—

(१) **हिन्दी प्रधान—** जहाँ हिन्दी के भिन्न-भिन्न रूपो का सामजस्य हो। यथा ब्रज भाषा, खड़ी बोली, अवधी, उर्दू आदि।

(क) **बोली प्रधान—** जहाँ हिन्दी भाषी भिन्न-भिन्न प्रान्तो की भाषाओं का सम्मिश्रण हो। यथा बुन्देली, बनारसी, आदि।

(२) **स्वदेशी भाषासम—** जहाँ अपने देश के प्रान्तों की भाषाओं का संयोग हो। यथा बंगाली, पंजाबी, हिन्दी आदि।

---

१. शब्दन की विधि एक जँह भाषा विविध प्रकार ।
वाक्य मनोहर होय जँह भाषासमक विचार ॥
—अलंकार मंजूषा; पृ० २२

२. काव्य प्रभाकर; पृ० ४८३

३. साहित्य सागर; पृ० १०-७५

४. अलंकार मंजूषा; पृ० २३

(३) अन्य-देशीय— जहाँ अन्य देशीय भाषाओं के शब्दों एवं पदों का प्रयोग हो, जिनका प्रचार देश एवं समाज में बाहुल्य से है । यथा–फारसी, अरबी अंग्रेजी आदि ।[1]

डॉ० भाटी ने शब्दगत, पदगत और मिश्रित—इन तीनो भागो मे बाँट कर भाषा-सम का एक नया वर्गीकरण दिया है ।[2]

भाषासम और अन्य अलंकार

भाषासम कई अन्य नामो से प्रचलित रहा है । ईश्वर कवि ने मिश्रत वाणी का विवेचन किया है जिसमे एकाधिक भाषाओ का प्रयोग होता है ।[3] इसी तरह भाषागुणबन्ध भी भाषासम का अपर नाम ही है । इसका विवेचन काशिराज ने चित्रालंकार—भेद के रूप में किया है ।[4] भाषासम को भाषासमक भी कहा गया है ।[5]

भाषासम का भाषाश्लेष, भाषाछलगुणबन्ध और भाषान्तर गतागत से अन्तर है । भाषा श्लेष का दो रूपो मे प्रयोग मिलता है । श्लेष के भेद के रूप मे एवं स्वतन्त्र अलकार के रूप मे । श्लेष के भेद के रूप मे इसका लक्षण रुद्रट ने दिया है—जहाँ एक ही प्रकार के पदो मे परिवर्तन होने से भिन्न भाषाएँ हो जाती है वहाँ भाषा श्लेष होता है ।[6] स्वतन्त्र अलंकार के रूप मे हेमचन्द्र ने भाषा श्लेप का लक्षण दिया है—अर्थभेद और रूपाभेद होने पर भी जिस छन्द में एक साथ अनेक भाषाओं का सम्मिश्रण हो वहाँ भाषा श्लेप अलकार होता है ।[7] इन लक्षणो से स्पष्ट है कि भाषासम इनसे पृथक् है क्योंकि उसमें अर्थ-रूप-भेद-युक्त विभिन्न भाषाओं के पदो का स्पष्टत प्रयोग होता है ।

---

१. अलंकार पीयूष (उत्तरार्द्ध) पृ० ३८२
२. हिन्दी में शब्दालंकार-विवेचन; पृ० ३४४-३४५
३. चित्र चमत्कृत कौमुदी; पृ० २-२०
४. एक छन्द राखिये जहाँ बहु भाषा में मित्र ।
   कवि कोविद सब कहत हैं भाषा बंध विचित्र ।।—चित्र चन्द्रिका; ७-७
५. अलंकार मंजूषा; पृ० २२
६. यस्मिन्नुच्चर्यन्ते सुव्यक्तविविक्तभिन्नभाषाणि ।
   वाक्यानि यावदर्थं भाषाश्लेषः स विज्ञेयः ।।
   —काव्यालंकार (रुद्रट); ४-१०
७. अर्थैक्ये द्व्यादिभाषाणां च ।—काव्यानुशासन; ५-६

इसी तरह भाषान्तर गतागत[1] में छन्द को गतागत रीति से पढ़ने पर विविध भाषाएँ बनती है और भाषाछल गुणबन्ध[2] में भाषा पढ़ने में और होती है तथा उसका अर्थ और होता है, किन्तु भाषासम में ये दोनों ही बातें नहीं होती।

(२) वीप्सा

अलंकार का प्रमुख कार्य है भावोत्तेजन। वीप्सा भावों में उत्तेजना पैदा करती है और उन्हें तीव्र बनाती है। 'वीप्सा का जन्म ही वस्तुत: भावोद्दीपन के कारण भावोद्दीपन के लिए होता है और भावोद्दीपन को अलंकार की मूल प्रेरणा माना गया है।'[3] संस्कृत काव्य शास्त्र में वीप्सा अलंकार दृष्टिगोचर नहीं होता। इसका जन्म रीतिकालोत्तर युग मे ही हुआ। रीतिकालीन आचार्य भिखारीदास ने इसका विवेचन काव्यगुण के रूप मे अवश्य किया है पर रीतिकालीन आचार्यों की विशाल परम्परा मे किसी ने भी इसे अपने विवेचन में स्थान नही दिया। रीतिकालोत्तर आचार्यों में गोकुलप्रसाद, लाला भगवानदीन, मिश्र-बन्धु आदि ने इसका विवेचन किया है।

लक्षण

वीप्सा का अर्थ है द्विरुक्ति—अर्थात् जहां किसी आकिस्मक भाव को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए दुहराया जाय वहाँ वीप्सा अलकार माना जाता है। आचार्य भिखारीदास ने काव्यगुण के रूप में भी इसका यही लक्षण दिया है। उनके अनुसार—जहाँ आदर आदि भावों को व्यक्त करने के लिए एक छन्द की बहुत बार आवृत्ति हो, वहाँ वीप्सा अलंकार होता है।[4]

---

१. सुलटे भाषा और है, उलटे भाषा और।
भाषान्तर यह चित्र है सुकवि कहत करि गौर॥
—चित्र चन्द्रिका; ५-१४

२. पढ़िबे में भाषा अवर, अर्थ सुनाया और।
भाषा छल गुण बंध सो, चित्र कहत कवि मौर॥
—चित्र चन्द्रिका; ७-५

३. रीतिकाव्य की भूमिका; पृ० ८६

४. एक शब्द बहु बार जहँ, अति आदर सों होइ।
ताहि वीप्सा कहत है, कवि कोविद सब कोइ॥
—काव्य निर्णय; १६-५२

आचार्य गोकुलप्रसाद[1], लाला भगवानदीन[2], मिश्रबन्धु[3] आदि ने भी वीप्सा का लगभग यही लक्षण दिया है। इन लक्षणों में भावों के नामों की संख्या-वृद्धि अवश्य हुई।

वीप्सा अलंकार में आवृत्त शब्द का अपना वाच्यार्थ होता है। यदि शब्दावृत्ति के कारण अर्थ बदल गया तो वहाँ वीप्सा अलंकार नहीं होगा। जैसे—'जाकर उनसे राम-राम कह देना मेरा'।

यहाँ 'राम राम' प्रणाम वाची शब्दयुग्म के रूप में आया है अतः इसमें वीप्सा अलंकार नहीं है।

वर्गीकरण

डॉ० रसाल ने वीप्सा का बड़ा सूक्ष्म वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। इन्होंने वीप्सा के तीन भेद माने हैं—शब्दावृत्ति मूलक वीप्सा, पदावृत्ति मूलक वीप्सा, और आवृत्तिहीन वीप्सा।

(१) शब्दावृत्ति मूलक वीप्सा—शब्दावृत्ति मूलक वीप्सा में शब्दों की आवृत्ति होती है। ये आवृत्त शब्द या तो संज्ञा होते हैं या विशेषण या क्रिया या अव्यय। फलतः शब्दावृत्ति मूलक वीप्सा के निम्नलिखित भेद हो सकते हैं

क संज्ञागत वीप्सा—यथा 'राम राम रटि विकल भुआलू।'

ख. विशेषणगत वीप्सा यथा—मीठे मीठे वचन उनके आपको श्रव्य होंगे।

ग. क्रियागत वीप्सा—गाते गाते गुन गन गिरा हो गई है गिरा ही।

घ. अव्ययगत वीप्सा, यथा—रे रे रावण हीन दीन।[4]

(२) पदावृत्ति मूलक वीप्सा—पदावृत्ति मूलक वीप्सा में पदावृत्ति होती है। यथा—

क. द्वारिकैं जाहुजू द्वारिकैं जाहुजू आठहूँ याम यही रट ठानी।

---

१. आदर भय उद्वेग करि एक शब्द बहु बार।
बोलि उठै न विचार कछु, तह वीप्सा निरधार॥
—दिग्विजय भूषण; दोहा–२६८

२. आदर अचरज आदि हित एक शब्द बहु बार।
ताही वीप्सा कहत हैं, जे सुबुद्धि भण्डार॥—अलंकार मंजूषा; पृ० २६

३. वीप्सा में आदर आदि के लिए एक शब्द अनेक बार आता है।
—साहित्य पारिजात; पृ०४८२

४. अलंकार पीयूष (पूर्वार्द्ध) पृ० २१६ से २२१ तक

ख. हमको लिख्यो है कहा, हमको लिख्यो है कहा;
हमको लिख्यो है कहा, कहन सबै लगी ॥[१]

(३) आवृत्ति हीन वीप्सा—आवृत्ति हीन वीप्सा शब्दों की या पदो की आवृत्ति नही नहीं होती वरन् संख्या के द्वारा आवृत्ति का निदेश होता है।[२] यथा—मैं वरजी सत वार हूँ ....। वार वार प्रणाम है ....।

इन भेदों के अतिरिक्त रसाल जी ने चरण मे वीप्सा के स्थान का भी निर्देश किया है।

वीप्सा एवं अन्य अलंकार

डॉ० रसाल वीप्सा को अनुप्रास का एक भेद मानते हैं और इसे एक 'विशिष्ट एव विचित्र यमक' मानते हैं।[३] मिश्रबन्धुओ ने लाटानुप्रास, यमक और वीप्सा को पृथक् अलकार नहीं कहा है।[४] किन्तु वीप्सा का इन सभी से अन्तर है। लाटानुप्रास मे आवृत्त शब्द या पद तात्पर्य के कारण भिन्नार्थक होते हैं किन्तु वीप्सा में वाच्यार्थ का रहना आवश्यक है। यमक मे वीप्सा के समान ही शब्दावृत्ति होती है किन्तु उसमे अर्थ भिन्न होना अपेक्षित है, वीप्सा मे उसी अर्थ का होना अनिवार्य है।

'पुनरुक्ति और वीप्सा में पर्याप्त साम्य है किन्तु दोनो मे अन्तर यह है कि पुनरुक्ति मे वक्तव्य की पुष्टि होती है, और वीप्सा से मन का एक आकस्मिक भाव झलकता है।[५]' डॉ० रसाल ने पुनरुक्तिप्रकाश (पुनरुक्ति) का पार्थक्य इस प्रकार व्यक्त किया है– 'पुनरुक्ति-प्रकाश मे भाव को जोर या वल देने के लिए तथा रुचिरता लाने के लिए आवृत्ति अनेक वार की जाती है, किन्तु वीप्सा मे मनोगत भावनाओ की प्रेरणा से स्वतः शब्दावृत्ति हो जाती है और उस आवृत्ति से मनोवेगो के वल एवं वेग की सूचना प्राप्त होती है, केवल भाव का ही वल नही दिखाई पड़ता।[६]'

---

१. अलंकार पीयूष (पूर्वार्द्ध); पृ० २३७-२३८
२. वही; पृ० २२०
३. वही; पृ० २१९-२२०
४. साहित्य पारिजात; पृ० ४८३
५. काव्य दर्शन; पृ० ३४९
६. अलंकार पीयूष; पृ० २१७-२१८

(३) पुनरुक्तिप्रकाश

'पुनरुक्तिप्रकाश' को पुनरुक्ति या पुनरुक्तप्रतीकाश भी कहते हैं किन्तु संस्कृत काव्य शास्त्र में आचार्य जयदेव[1] ने पुनरुक्तवदाभास के लिए इस शब्द का प्रयोग किया। रीतिकालीन आचार्य भिखारीदास ने वीप्सा की ही तरह इसे भी काव्य गुण माना है। सर्व प्रथम इसे शब्दालंकार के रूप में रीतिकालोत्तर आचार्य लाला भगवान दीन ने प्रतिष्ठित किया। इसके पश्चात् डॉ० रसाल, रामदहिन मिश्र, डॉ० भगीरथ मिश्र आदि पुनराख्याता आचार्यों की एक परम्परा है जिन्होंने पुनरुक्ति प्रकाश का विवेचन किया।

लक्षण

भिखारीदास ने इस काव्य गुण का लक्षण दिया है—जहाँ अर्थ की रुचिरता के लिए एक शब्द की अनेक बार आवृत्ति होती है वहाँ पुनरुक्तिप्रतीकाश नामक काव्य गुण होता है। लाला भगवान दीन ने भी यही लक्षण दिया है[3] साथ ही उदाहरण भी भिखारीदास के ही दिये हैं।[4] रामदहिन मिश्र[5], भगीरथ मिश्र[6] आदि ने भी भिखारीदास की ही शब्दावली में पुनरुक्तिप्रकाश के लक्षण प्रस्तुत किये।

---

१. पुनरुक्त प्रतीकाशं पुनरुक्तार्थ सन्निभम्।
अंशुकान्त शशी कुर्वन्नम्बरान्तमुपैत्यसौ॥ —चन्द्रालोक; ५-७

२. एक शब्द बहुवार जहँ परै रुचिरता अर्थ।
पुनरुक्तिप्रतिकास गुन, बरनै बुद्धि समर्थ॥ —काव्य निर्णय; १९-२७

३. एक शब्द बहुवार जहं परे रुचिरता अर्थ।
पुनरुक्ति परकाश सो, बरणै बुद्धि समर्थ॥ —अलंकार मंजूषा; पृ० १९

४. बनि बनि बनि बनिता भली, गनि गनि गनि डग देत।
धनि धनि धनि अखियाँ जु छवि, सुनि सुनि सनि सुख लेत॥
—काव्यनिर्णय, १९-२८; अलंकार मंजूषा; पृ० १९

५. भाव को अधिक रुचिर बनाने के लिए जहाँ एक ही बात को बार-बार कहा जाय, वहाँ पुनरुक्ति होती है।
—काव्य दर्पण; पृ० ३४८

६. पुनरुक्ति प्रकाश में भाव को अधिक प्रभावपूर्ण और रुचिकर बनाने के लिए शब्द का अनेक बार प्रयोग किया जाता है।
—काव्यशास्त्र; पृ० १७५

वर्गीकरण

डॉ० रसाल ने इसके दो भेद किये हैं—शब्दावृत्ति मूलक और पदावृत्ति मूलक पुनरुक्ति प्रकाश।[1] डॉ० भाटी ने एक नया वर्गीकरण प्रस्तुत किया है जिसमे संज्ञागत, क्रियागत, विशेषणगत और क्रिया विशेषणगत—ये चार भेद किये हैं एवं इनके कई उपभेद किये है।[2]

पुनरुक्तिप्रकाश एवं अन्य अलंकार—

पुनरुक्तिप्रकाश की लाटानुप्रास, यमक एवं वीप्सा से जो समानता है एवं वैषम्य है, उसका विवेचन सम्बन्धित अलंकारों के प्रकरणों मे किया जा चुका है।

रीतिकालेत्तर शब्दालंकृत काव्य की सामान्य विशेषताएं

रीतिकाल के वाद सभी परिस्थितियाँ एक नई करवट ले रही थीं। रीतियुग में अलंकार, रस, नायिकाभेद आदि का वर्णन करना अत्यन्त सम्मान सूचक समझा जाता था, पर आधुनिक काल में यह प्रवृत्ति युग चेतना के प्रतिकूल सिद्ध हुई। प्रोत्साहन तो दूर रहा, आगे चलकर इसकी निन्दा भी हुई। 'भारतेन्दु युग में थोड़ा वहुत सम्मान इसे मिलता रहा पर द्विवेदी युग में इसके विरुद्ध विचार प्रकट किये गए। वह राष्ट्रीय आन्दोलन का युग था, अतएव रस, नायिका भेद और शब्दालंकार के विवेचन की अपेक्षा उद्‌वोधन और क्रान्ति के गीतों की आवश्यकता थी।[3]'

इस युग मे आश्रयदाता के नाम पर पुस्तक लिखकर ही सम्मान नही मिल सकता था। इसलिए कविराज मुरारिदान ने राज्याश्रय प्राप्त करते हुए भी अपनी पुस्तक मे विलक्षणता लाने का प्रयत्न किया। लालाभगवानदीन भी लोक की नूतन प्रवृत्ति मे सुपरिचित थे अतः उन्होंने अपनी पुस्तक मे कई उदाहरण, टिप्पणियाँ सूचनाएँ गद्य व्याख्याएँ एव उदाहरणो में शृंगार के वजाय भक्ति एवं वीररसयुक्त पदों की योजना की।

इस काल मे कुछ नूतन शब्दालंकारों की अवतारणा की गई एवं पुराने शब्दालंकारो की परिभाषाओ, वर्गीकरणों एव भेदोपभेदों को नई कसौटियो पर कसा गया। इस युग में आचार्यो के साथ ही पुनराख्याताओ के रूप में आलोचको एवं मीमांसको ने जो कार्य किया,

---

१. अलंकार पीयूष (पूर्वार्द्ध); पृ० २३८

२. हिन्दी में शब्दालंकार-विवेचन; पृ० ३५५

३. हिन्दी साहित्य काव्र हद् इतिहास (षष्ठ भाग); पृ० ४३६

वह शब्दालकारों की जड़ता को समाप्त करके उन्हें नूतन परिवेश में प्रस्तुत करने में वड़ा सहायक हुआ। अब हिन्दी के नूतन रूप गद्य के परिष्कृत हो जाने पर आचार्यो की वाणी ने सकोच के स्थान पर विस्तार एवं विवेचना के स्थान पर आलोचना को ग्रहण किया। आलोचना के नये मापदण्ड स्थिर हुए एवं रीतिकालोत्तर आचार्य एवं कवि अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथो में शब्दालंकारों का परीक्षण एवं विवेचन करने लगे।

(ग) रीतिकालोत्तर शब्दालंकार-विवेचक ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार

रीतिकाल के पश्चात शब्दालकार विवेचक कवि-आचार्यो की एक लम्बी परम्परा रही है। जिसमें गोकुलप्रसाद से लेकर भगीरथ मिश्र तक कई काव्यशास्त्रीय ग्रंथो मे शब्दालंकारों को स्थान प्राप्त हुआ है। अग्रिम पृष्ठों मे हम रीतिकालोत्तर कवि-आचार्यो के उन काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का अवलोकन करेंगे जिनमे शब्दालंकारो का सैद्धान्तिक या प्रयोगात्मक रूप प्रस्तुत किया गया हो।

(१) गोकुलप्रसाद—दिग्विजय भूषण (१९२० वि)

गोकुलप्रसाद के इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि इसमें स्वनिर्मित छन्दों के साथ साथ अन्य कवियो के छन्द भी उद्धृत है। इसमें चित्रालंकार, अनुप्रास, वीप्सा, वक्रोक्ति और श्लेष का विवेचन है। नूतनता अनुप्रास और श्लेष विवेचन में है। इन्होंने अनुप्रास के ७ भेद माने माने है—छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, लाटानुप्रास, यमकानुप्रास और पुनरुक्तवदाभासानुप्रास।[1] काव्यशास्त्र मे पुनरुक्तवदाभास प्रथमवार अनुप्रास के रूप में दिखाई देता है। श्लेष के इन्होने तीन भेद किये है—वर्ण्यावर्ण्य, अवर्ण्य और वर्ण्य। अन्य विवेचन सामान्य है।

(२) जानकी प्रसाद—काव्य सुधाकर (१९२१ वि.)

जानकीप्रसाद ने २४ ग्रन्थो को आधार बनाकर 'काव्यसुधाकर' का निर्माण किया।[2]

---

१. छेका दुइ वृत्या कही, त्यौंही यक अन्त्या जानि।
श्रुत्या एक एक लाटा कही, एक यमक पहिचानी॥
पुनरुक्तवदाभास एक कही, सातौ भांति बखानि।
अनुप्रास यह शब्द अलंकृत, काव्यकला में जानि॥
—दिग्विजय भूषण; १३-२

२. काव्यसुधाकर; १-७ से १४ तक

इनका साहित्यिक नाम 'रसिक विहारी' और 'रसिकेश' था। सोलह कलाओं में विभक्त इस सर्वांग निरूपक काव्यशास्त्रीय कृति की तीसरी और ग्यारहवी कला मे तुक का विवेचन है। इसी तरह तेरहवीं कला मे चित्रालंकार और सोलहवी कला में—शब्दालंकार आये है।

तुक और चित्र को शब्दालंकार न मानने का कारण न देते हुए भी इनका विवेचन किया है। तुक के इन्होने ३ भेद माने है—मीलित, अमीलित और दुर्मिल[1]। इन्होने असंयोग मीलित, स्वरमीलित, दुर्मिल, आदि मात्रा अमीलित, अन्तमात्रा अमीलित, सिहावलोकन, तुकान्त और सर्वमीलित तुक के उदाहरण दिये है। सिहावलोकन को तुक का भेद मानने वाले ये प्रथम आचार्य हैं क्योंकि अन्य आचार्यो ने इसे यमक के अन्तर्गत माना है। तेरहवी कला में अलंकारो के तीन भेद माने है—चित्रालंकार, शब्दालंकार और अर्थालंकार।[2] चित्रालंकार मे इन्होने पीठवध, कमलवध, त्रिशूलबंध, खड्गवध, मेरवध, नागवध, छत्रवध और सारिकाबंध के उदाहरण दिये है। चौदहवी कला में अनुप्रास, वक्रोक्ति, यमक, श्लेष और पुनरुक्तवदाभास—इन पाच शब्दालकारो का विवेचन है। वक्रोक्ति के तीन भेद किये हैं—श्लेष वक्रोक्ति, काकु वकोक्ति और शुद्ध वक्रोक्ति। हिन्दी मे शुद्ध वक्रोक्ति नया भेद है। जहाँ स्वाभाविक वात को युक्ति पूर्वक कहा जाय वहाँ शुद्ध वक्रोक्ति होता है।[3] अन्य अलंकारों का विवेचन सामान्य है।

इसके वाद इन्होंने कुछ अलंकारो का विवेचन किया है। अन्तर्लापिका के विवेचन मे इन्होने एक शंका का समाधान किया है—अन्तर्लापिका आदि अलंकारों को चित्रालंकार माना जाय या शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार? ये इन्हे शब्दालंकार ही मानते हैं क्योकि इनमें शब्द की प्रधानता रहती है।[4] इसके वाद इन्होंने अन्तर्लापिका, वहिर्लापिका, अनेकार्थ, एकार्थ, कूट और चरणगुप्त का विवेचन किया है। कूट उसे कहते है जिसमे वुद्धि अकुला

---

१. काव्य सुधाकर; ३-२०

२. वही; १३-२

३. वही; १४-२२

४. कोऊ इन्हें चित्र में राखे। कोऊ सुकवि शब्द मधि भाषैं।
कोऊ कहै अर्थ बिच धरिये। किहि के वचन प्रमान न करिये॥
मैं निज मत में सबै दिढ़ायो। यह विचार करि के ठहरायो॥
इहाँ शब्द को मुख्य बखानै। शब्दालंकारहि मैं मानै।

—काव्यसुधाकर: १४-३४ तथा ३५

जाती है, जैसे पहाड पर चढ़ता हुआ मनुष्य भटक जाता है, और भूल-भुलैया में पड़ जाता है[1]। विलष्टत्व ही इसकी विशेषता है अतः उसे यहाँ काव्य-दोष नहीं माना जाता[2]। कूट के दो भेद है शब्दकूट और अर्थकूट।[3] जहाँ शब्द अलक्षित होता है वहाँ शब्दकूट और जहाँ अर्थ अलक्षित होता है वहाँ अर्थकूट माना जाता है।[4]

सोलहवीं कला में पुनः अनुप्रास का विवेचन है पर इनका यह अनुप्रास शब्दालंकार नही है। भरत के आधार पर[5] इन्होने अनुप्रास के तोरण, अनुप्रास माला तन्त्र, आडम्बर, सघन सर्व मुख्य, विविध आदि भेदो का विवेचन किया है।

रसिकबिहारीजी का विवेचन वैज्ञानिक एव व्यवस्थित है। अलंकारो का विभाजन, तुक का सविस्तर विवेचन, शुद्ध वक्रोक्ति की नई कल्पना, अन्तर्लापिका आदि चित्रालंकारों को शब्दालकार मानना एवं कूट का विवेचन—इनकी उपलब्धियाँ है।

(३) लेखराज—गङ्गाभरण (१९३४ वि०)

लेखराज ने दो शब्दालंकारों का विवेचन किया है—अनुप्रास और चित्र। अनुप्रास के इन्होंने ६ भेद बताए है—छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, लाटानुप्रास, यमकानुप्रास और षोडशानुप्रास। षोडशानुप्रास हिन्दी के लिए नया अनुप्रास-भेद है। मलयालम भाषा में इसप्रकार के अनुप्रासो का प्रचलन है। एक वर्ण का जितनी बार प्रयोग होगा, वह अनुप्रास उसी के नाम से पुकारा जाता है जैसे अष्ठाप्रास, द्वादशाप्रास, षोडशाप्रास। लेखराज ने उदाहरणस्वरूप एक कवित्त प्रस्तुत किया है जिसमें सोलहवार 'आम' शब्द का प्रयोग हुआ है।[6] चित्रालंकार का विवेचन सामान्य है।

राव गुलाबसिंह—काव्यसिंधु (१९४७ वि०)

काव्यसिंधु के दो भाग है। पूर्वार्द्ध में आठ तरगे हैं। चौथी तरंग में शब्दालंकारो का विवेचन है। इन्होंने—अनुप्रास, पुनरुक्तवदाभास और यमक को शब्दालंकार माना है।

---

१. काव्यसुधाकर; १४-५२
२. वही; १४-५३
३. वही; १४-५६
४. वही; वही; १४-५७
५. भरत सूत्र मत से कहौ अनुप्रास कछु और।
—वही; १६-२७६
६ गंगाभरण; छन्द ३४५ छन्द अन्यत्र,(देखिये)

अनुप्रास के इन्होंने ५ भेद किए हैं–छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, लाटानुप्रास श्रुत्यानुप्रास और अन्त्यानुप्रास। इन्होंने छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास के लक्षण अशुद्ध दिए है क्योंकि इन्होंने स्वर रहित या सहित साम्य वर्णों की असंनिधि रूप से आवृत्ति में छेकानुप्रास माना है[1], जबकि उसमें आवृत वर्णों की समीपता अनिवार्य नही है, इसी तरह वृत्यनुप्रास में एक या अनेक वर्णों की अनेक वार आवृत्ति होती है पर इन्होने समान वर्णों की समीपस्थ आवृत्ति में वृत्यनुप्रास माना है[2]। अन्य विवेचन सामान्य है। श्लेष, चित्र और वक्रोक्ति को कुवलयानन्द के अनुकरण पर इन्होने अर्थालंकार माना है[3]। इन्होने इसी ग्रन्थ के आधार पर 'लक्षण कौमुदी' नामक अन्य ग्रन्थ की भी रचना की थी किंतु उसमें भी लक्षण एवं उदाहरण प्रायः इसी ग्रंथ के है।

(५) कविराज मुरारिदान—जसवन्तजसोभूषण (१९५० वि०)

आधुनिक दृष्टिकोण एवं शैली से शब्दालंकारो की विवेचना करने वाले आचार्यो में मुरारिदान सर्व प्रथम है। इनका ग्रन्थ जसवन्त जसोभूषण मुख्यतः अलंकार ग्रन्थ है। इसमें सात आकृतियाँ हैं और तीसरी में एक मात्र शब्दालंकार-अनुप्रास का विवेछन किया गया है। प्रत्येक अलंकार के नाम में उस अलंकार का लक्षण निहित है—अपनी इस मान्यता के आधार पर इन्होंने अनुप्रास की व्याख्या की है—अनु+प्र+आस। इसमें 'अनु' उपसर्ग का अर्थ है वीप्सा अर्थात अनेक वार, 'प्र' का अर्थ है न्यास (धरना) अर्थात् पूरे अनुप्रास शब्द समुदाय का अर्थ है कि वारम्वार उत्तम न्यास।[4] शब्द के वारम्वार धरने से पुनरुक्ति दोष होता है उससे विपरीत भाव और भूषण का वोध कराने के लिए 'प्र' उपसर्ग[5] लगाया गया

---

१. काव्यसिन्धु (पूर्वार्द्ध); ४-१७

२. वही; ४-१९

३. श्लेष चित्र वक्रोक्ति हूँ, है शब्दालंकार।
पाय कुवलयानंद मत, वरने अर्थ मझार॥

—काव्यसिन्धु; ४-२९

४. अनुप्रास भूषण नृपति, पुनि पुनि उत्तम न्यास।

—जसवन्तसिंह जसोभूषण; आकृति ३,
—शब्दालंकार विचार; दोहा–१

५. वही; दोहा १ (व्याख्या)

है। अनुप्रास को 'भूषण नृपति' मानते हुए भी इन्होंने इसके भेदों का उल्लेख नहीं किया यह एक आश्चर्य है, जबकि ग्रन्थ में ८१ अलकार है।

इसी आकृति में इन्होंने चित्रालकार का भी उल्लेख किया है पर वे इसमें अलकारत्व नहीं मानते है। उनका कथन है—प्राचीन कमलाकार, धनुपाकार इत्यादि रूप से काव्य लिखे जावे इनको चित्रकाव्य कहकर शब्दालंकार के प्रभेद मानते है सो भूल है क्योकि शब्द में रहकर काव्य की शोभा करे वह शब्दालंकार है, सो उक्त काव्यों की लेखक्रिया काव्य की कुछ शोभा नहीं करती। यह तो अष्टावधानादि साधनावत् कवि की क्रिया चातुरी मात्र है। ऐसे ही एकाक्षर काव्य को जानना चाहिए[1]।

प्रस्तावना में कवि गद्य में कहते है—'नाम का स्वरूप स्पष्ट हो जाने से उनका दूसरा लक्षण कहने की आवश्यकता नही।[2]' किन्तु कविराज का यह सिद्धान्त भ्रामक है। वे नामों के टुकड़े करके उनमें लक्षणों की आभा हटात् खोजने का प्रयत्न करते है। अनुप्रास की उनकी व्याख्या पर व्यंग करते हुए डॉ० ओमप्रकाश लिखते हैं—

'इस व्याख्या में अनावश्यक खींचतान की गई है। ऐसा लगता है कि कविराज सातवीं कक्षा के विद्यार्थियों को अलकार विषय का काम चलाऊ ज्ञान करा रहे है—किस प्रकार नाम सुनते ही सारी विशेषताये याद आ सकती है। यही प्रवृत्ति अन्य अलकारो के वर्णन मे भी है। और इस नूतन खोज का वे गर्वोक्ति से बखान करते हैं, पर वह थोथी है[3]।'

रीतिकाल में भाषाभूषण का अनुकरण करने वाले आचार्य के लिए केवल अनुप्रास को शब्दालंकार मानना स्वाभाविक है पर आधुनिक काल में ऐसी प्रवृत्ति खटकती है। मुरारिदान विलक्षणता प्रेमी थे, यही कारण है कि उन्होंने किसी वस्तु को ज्यो का त्यो नहीं अपनाया। इनके विवेचन मे रसगंगाधर का प्रचण्ड प्रभाव है।

(६) जगन्नाथप्रसादभानु 'भानु'—काव्यप्रभाकर (१९६२ वि०)

जगन्नाथ 'भानु' के काव्यशास्त्रीय चार ग्रथ है–अलंकार दर्पण, अलंकार प्रश्नोत्तरी, हिन्दी काव्यालंकार और काव्य प्रभाकर। प्रथम तीन ग्रन्थ विद्यार्थियो के लिए लिखे गए

---

१. जसवन्तसिंह जसोभूषण, आकृति ३; दोहा ८ (व्याख्या)
२. वही; (प्रस्तावना) पृ० ३६-३७
३. हिन्दी अलंकार-साहित्य; पृ० २०६-२१०

है[1]। काव्य प्रभाकर में गंभीर विवेचन है। इसमें १२ मयूख है और नवम मयूख में शब्दालंकारों का विवेचन किया गया है। इनके प्रतिपाद्य शब्दालंकार है पुनरुक्तवदाभास, अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, भापासम, श्लेष, प्रहेलिका और चित्र। प्रत्येक शब्दालंकार का लक्षण पहले संस्कृत में दिया गया है एवं वाद में हिन्दी में।

छेकानुप्रास एवं वृत्यानुप्रास में भानुजी स्पष्ट भेद न कर सके[2]। अन्त्यानुप्रास के इन्होंने सर्वान्त्य, समान्त्य, विषमान्त्य, समान्त्य विषमान्त्य, समविषमान्त्य और भिन्न तुकान्त्य-ये ६ भेद किये हैं[3]। भाषासम का लक्षण दिया है—जहाँ शब्दों की विधि एक ही हो, पर भिन्न-भिन्न भाषाएँ हों, जिनके कारण वाक्यों में मनोहरता आ जावे वहाँ भाषासम अलंकार होता है[4]। पर यह लक्षण अशुद्ध है क्योंकि भाषासम में शब्द तो वे ही रहते है पर विभिन्न भापाएँ निकलती है। इसी तरह श्लेष और प्रहेलिका के लक्षण भी अशुद्ध और भ्रमोत्पादक है। चित्र के विषय में इनका मत नकारत्मक है। वे कहते हैं—यह अलंकार गोरख धन्धे के समान नीरस होता है अतः सुकवि इसे त्याज्य मानते हैं।[5]

भानु कवि का यह ग्रन्थ कई दृष्टियो से महत्वपूर्ण है। इसके पूर्व लिखे गए ग्रन्थों में प्राय: शिथिल एवं व्यवस्थित विवेचन रहता था। उनमें काव्य के सभी अंशों पर विचार भी नही किया जाता था। अंग्रेजी पढ़े लिखे विदेशी पाठकों का ध्यान आकर्षित करने में इनका काव्य प्रभाकर वड़ा सक्षम रहा है। इस दीर्घाकार ग्रंथ में सभी अलंकारों के नाम, लक्षण, पद अर्थ, संस्कृत उदाहरण, भापा लक्षण, भापा उदाहरण, भावार्थ तथा अन्यान्य

---

१. हिन्दी काव्यालंकार; पृ० ११३

२. काव्यप्रभाकर; पृ० ४७४-४७५

३. वही; पृ० ४७६

४. शब्दन की विधि एक जंह, भाषा विविध प्रकार।
 वाक्य मनोहर होय जहं, भाषासमक विचार ।।

उदाहरण—द्रष्टु तत्र विचित्रता सुमनसां, मै था गया बाग में।
 काचित्तत्र कुरंगशाव नयना, गुल तोड़ती थी खड़ी ।।
 उन्नेभ्रू धनुषाकटाक्षविशिखैर्घायल किया था मुझे।
 तत्सीदार सुदैव मोह जलधौ, हैदर गुजारै शुकर ।।

—वही; पृ० ४८३

५. काव्यप्रभाकर; पृ० ४८६

उदाहरण देकर भानु कवि ने बडा परिश्रम किया है। इनके अतिरिक्त विषयवस्तु के स्पष्टीकरण के नवीनतम साधनों–अनुभूमिका, सूचना प्रश्नोत्तर तथा फुटनोट की विशेषताओं को भी ग्रन्थ में जोड़ा है। उदाहरणों में गद्य के उद्धरण देकर अलंकारों को जीवन के निकट की वस्तु बना दिया। पद्यमय उदाहरण बड़े ललित और सुन्दर है। पर काव्य प्रभाकर प्रायः संग्रह ग्रन्थ है अत. भानु कवि से किसी शास्त्रीय मौलिकता की आशा करना व्यर्थ है। शब्दालंकारों के जो लक्षण इन्होने दिये उनसे भी भ्रान्तियाँ ही अधिक पैदा हुई है।

(७) लाला भगवानदीन—अलंकार मंजूषा (१९८६ वि.)

रीतिकालोत्तर-युग मे प्रथम बार एक ऐसी पुस्तक देखने में आई जो संस्कृत के प्रत्यक्ष प्रभाव से मुक्त है। दीन जी की अलंकार मंजूषा बहुत लोकप्रिय हुई। ग्रन्थ का उद्देश्य आचार्यत्व प्रतिपादन न होकर छात्र-छात्राओं को विषय समझाना है। जहाँ तहाँ विशद टिप्पणियाँ और सूचनाएँ दी गई है तथा अलंकारो की बारीकियाँ और भेद गद्य में समझाये गये है। इस ग्रन्थ से एक कमी और पूर्ण हुई। 'पुराने अलंकार ग्रन्थों के पढ़ाने में शिक्षको को संकोच होता था क्योंकि उनमें प्राय. शृङ्गार के अश्लील उदाहरणो की भरमार रहती थी। इस पुस्तक से वह कमी दूर हो गई और सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों या भूषण आदि वीर रस के कवियों की रचनाओं से अलंकारों के अच्छे उदाहरण प्राप्त होने लगे[1]।'

अलंकार मंजूषा में १० शब्दालंकार है—अनुप्रास, चित्र, पुनरुक्तिप्रकाश, पुनरुक्तवदाभास, प्रहेलिका, भाषासमक, यमक, वक्रोक्ति, वीप्सा, और श्लेष। शब्दालंकारो के क्रम का कोई सिद्धान्त नही दिखाई देता। प्रायः सभी अलंकारों के उर्दू, अरबी और फारसी नाम दिये है। इन्होंने अन्त्यानुप्रास, को ही तुक माना है।[2] ये चित्रालकार को मात्र गोरखधंधा, शब्दचातुर्य एवं अलंकारत्व विहीन मानते है।[3] काकु वक्रोक्ति के विषय में दीन जी का निम्नलिखित वक्तव्य मूल्यवान है—

'अनेक आचार्यो ने इस अलकार को अर्थालंकार माना है पर हम इसे शब्दालंकार

---

१. हिन्दी अलंकार साहित्यः पृ० २२२

२. अलंकार मंजूषा; पृ० १०

३. इसमें अलंकारत्व नहीं है। केवल कवि की चतुराई और परिश्रम का परिचय मिलता है।

—अलंकार मंजूषा, पृ० १२

ही मानते है क्योंकि विशेप कंठध्वनि से ही अर्थ का हेर फेर होता है। कंठ ध्वनि श्रवण का विपय है। श्रवणमात्र की अलंकारता शव्दालंकार ही मानी जायेगी[1]।

श्लेष के अलंकारत्व के विपय में इन्होने अपना मत दिया—कि जहाँ कवि का मुख्य तात्पर्य एक ही अर्थ से होता है, उसकी गणना शव्दालंकारो में की जानी चाहिए और जहाँ कवि का तात्पर्य दोनों या तीनों अर्थो से होता है, उसकी गणना अर्थालंकारो में की जानी चाहिए[2]। 'अन्य अलंकारों' का विवेचन सामान्य है।

ग्रथ में मौलिकता नही है किन्तु दीनजी ने नई-नई स्थापनाएं की है। वक्रोक्ति, श्लेप आदि के सम्बंध में लेखक के स्वतंत्र विचार है और ये विचार निश्चय ही लाभदायक है। मंजूषा पांडित्य प्रसूत रचना नही है। 'इसका उद्देश्य तो शिष्यो के लिए कठिन विपय को सरल शैली में उपस्थित करना है। अतः दीनजी का विवेचन भानु कवि से भी अधिक सफल है[3]।' व्याख्या, विवरण, पद्य-लक्षण तथा अंग्रेजी, फारसी से तुलना अध्ययन की दृष्टि से वडी लाभदायक है। लेखक ने प्रयुक्त अलंकार की सर्वप्रियता, अलकार के दोष, समान अलंकारो का पारस्परिक अन्तर एवं इस विपय में निप्पक्ष सन्तुलित सम्मतियाँ दी है। अलंकार-मजूषा मे दूसरो की आलोचना प्रायः नहीं है, हां स्वमत कथन यत्रतत्र अवश्य है। भानु कवि की अपेक्षा दीनजी का विवेचन सरल तथा सुगम है। इसे यों कह सकते है कि काव्यप्रभाकर के सभी गुणो की आवृत्ति अलंकार मंजूषा में है पर उसके दोषो से प्रायः मुक्त है।

(८) रामशंकर शुक्ल 'रसाल' – अलंकार पीयूष (पूर्वार्द्ध) (१६८६ वि०

रसाल जी ने शव्दालंकार का एक नूतन दृष्टि से वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। आचार्य भिखारीदास के पश्चात् हिन्दी को यह मौलिक वर्गीकरण प्राप्त हुआ है। उनका वर्गीकरण इस प्रकार है—

(१) वर्णावृत्ति मूलक—

छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास (उपनागरिका, परुपा, कोमला), यमक (प्रथम रूप), सिंहावलोकन (वर्णमूलक), श्रुत्यनुप्रास (वर्णमूलक)।

(२) शव्दावृत्तिमूलक—यमक (द्वितीयभेद) वीप्सा

पुनरुक्तवदाभास (अर्थ सम्वंधी), पुनरुक्तिप्रकाश, सिंहावलोकन (शव्द मूलक)।

---

१. अलंकार मंजूषा; पृ० १६
२. वही; पृ० ३४
३. हिन्दी अलंकार साहित्य; पृ० २२६

(३) पद या वाक्यावृत्ति—

लाटानुप्रास, कुण्डलिया, सिंहावलोकन (पद मूलक)।

तुक और शब्द श्लेष को, यद्यपि इस वर्गीकरण में स्थान नहीं मिला है फिर भी उनको शब्दालंकार मानकर विवेचन किया है[1]। इसी तरह अन्त्यानुप्रास एवं तुक में अन्तर करते हुए उनका पृथक्-पृथक् विवेचन प्रस्तुत किया गया है[2]।

अनुप्रास के क्षेत्र को व्यापक बनाते हुए रसाल जी लिखते हैं— 'शब्दालंकारों में हम अनुप्रास को ही प्रधान समझते हैं। यमक और पुनरुक्तवदाभास आदि इसी के भिन्न-भिन्न रूपान्तर मात्र है[3]।

रसालजी का यह विवेचन गांभीर्यपूर्ण एव मौलिक चिन्तन से युक्त है।

(६) अर्जुनदास केडिया—भारती भूषण (१६८७ वि०)

अनुवाद की प्रवृत्ति से मुक्ति दिलाने के लिए हिन्दी काव्यशास्त्र को केडिया जी ने भारतीभूषण नामक प्रथम ग्रंथ दिया है। इस ग्रन्थ में केडिया जी का पाण्डित्यपूर्ण विवेचन अधिक है। यह केवल अलंकारो का ग्रंथ है जिसके लक्षण मौलिक हैं एवं उदाहरणों में आधे स्वरचित हैं और आधे अन्य हिन्दी कवियों के, किन्तु ऐसे उदाहरण अप्रसिद्ध हैं। इस ग्रंथ में लक्षण गद्य में हैं एव अलंकार भेदों की व्याख्या भी गद्य में ही है। उदाहरणों में समकालीन कवियों के पद्य नहीं हैं एवं न किसी पुराने कवि आचार्य का अनुवाद। सरल भाषा में दो समान अलंकारों के अन्तर को स्पष्ट किया गया है।

इसमें ८ शब्दालंकार हैं—अनुप्रास (छेक तथा वृत्ति), लाटानुप्रास, यमक, पुनरुक्त-वदाभास, *शब्द श्लेष, वीप्सा और चित्र। वक्रोक्ति तथा श्लेष के स्थान पर शब्द वक्रोक्ति* और शब्द श्लेप नाम निश्चित ही अधिक उपयुक्त हैं, क्योंकि इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये अर्थमूलक भी होते हैं।

छेकानुप्रास के विवेचन मे एक महत्वपूर्ण बात यह है कि इन्होंने एक अक्षर की समता में भी इस अनुप्रास को माना है। वे लिखते हैं—'कुछ ग्रंथकारो का मत है कि केवल एक

---

१. अलंकार पीयूष (पूर्वार्द्ध); पृ० १८५
२. तुक और अन्त्यानुप्रास में भेद है, इसको ही स्पष्ट करने के लिए हमें अन्त्यानुप्रास को भी स्वतन्त्र रूप से पृथक् रखना ही समचीन जान पड़ता है।
—वही; पृ० १८६
३. वही; पृ० १८६

अक्षर का सादृश्य होने से छेकानुप्रास नहीं हो सकता, किन्तु प्रायः ग्रंथकारों के मत से और हमारे विचार से एक वर्ण की समता से छेकानुप्रास अवश्य हो जाता है[१]।' लेखक ने अनुप्रास प्रसंग में उत्तमचन्द भण्डारी के ग्रंथ 'अलंकार आशय' के आधार पर राजस्थान में प्रचलित "वैण सगाई" नामक अलंकार का भी सकेत किया है। वे लिखते हैं--राजपूताने के वारहठ कवियो में पिंगल की भांति डिंगल छन्द शास्त्र का भी प्रचार है। पद के प्रत्येक चरण का प्रथम शब्द जिस प्रकार के आदि का हो, उसी अक्षर के आदि का कम से कम एक और शब्द उसी चरण मे रखने का नियम इसमे अनिवार्य है। इससे अनुप्रास का चमत्कार होता है[२]।' इसी तरह लेखक ने अनुप्रास में व्यंजन साम्य के साथ ही साथ स्वर साम्य भी आवश्यक वताते हुए उससे आनदप्रद सौन्दर्य की उत्पत्ति होने की वात स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त की है। लाटानुप्रास के विवेचन में मौलिकता है। लाटानुप्रास के केडियाजी ने दो भेद किये हैं—वाक्यावृत्ति और शब्दावृत्ति। शब्दावृत्ति के दो भेद किये हैं--एक जिसमे एक शब्द समास युक्त और एक विना समास का हो, दूसरा जिसमें भिन्न भिन्न समासो मे लाट के शब्द हो और तीसरा जिसमे एक ही समास में लाटके दो या अधिक शब्द हो। इस विभाजन को हिन्दी की प्रवृत्ति के अनुकूल वताते हुए वे लिखते है

"हिन्दी में सस्कृत की तरह विभक्तियुक्त पद नही होते कारक के चिह्न ऊपर लगते हैं। जैसे राम का, राम से इत्यादि। हिन्दी में कुछ सर्वनाम ही पद के रूप में आते है जैसे तुम्हारा, जिन्हे इत्यादि। इसी से लाटानुप्रास में हमने सस्कृत ग्रथो के समान पद और नाम का भेद नही रखा है[३]।"

पुनरुक्तवदाभास और पुनरुक्तिप्रतीकाश को इन्होने एक ही मान्य किया है। काकु वक्रोक्ति को इन्होंने शब्दालंकार माना है[४]। चित्रालंकार को कवि नैपुण्य[५] वताया है, फिर भी लगभग ११ पृष्ठों में उसका विवेचन प्रस्तुत किया है।

१. भारती भूषण; पृ० ७
२. वही; पृ० १४
३. भारती भूषण; पृ० २१, २२
४. वही; पृ० ३७
५. 'यद्यपि इस चित्रालंकार को सभी ग्रन्थकारों ने गौरखधंधे की भाँति कष्टकाव्य वतलाया है तथापि प्रायः संस्कृत एवं भाषा काव्यों में इसका कुछ परिचय मिलता है। —हमने इसमें कविनैपुण्य और मनोरंजकता पाई है; अतः संक्षेप में इसका उल्लेख कर दिया है।' —वही; पृ० ५१-५१

वस्तुतः केडियाजी का भारती भूषण पाण्डित्य एवं मौलिकता का मिलाजुला रूप प्रस्तुत करता है। इस ग्रंथ से केडियाजी आचार्य वर्ग के न रहकर पण्डितवर्ग के माने जा सकते हैं। यह ग्रथ विस्तृत होते हुए भी विशालकाय नही है।

(१०) कन्हैयालाल पौद्दार—अलंकारमंजरी (१९९३ वि०)

पौद्दार जी ने १९५३ वि० मे अलंकारप्रकाश नामक पुस्तक लिखी वही २७ वर्ष बाद दो भागों में—रसमजरी और अलकारमजरी—नाम से प्रकाशित हुए। हमारे सामने २००६ वि० का संस्करण है। इस अन्तराल मे लेखक के विचार मे उत्तरोत्तर प्रौढ़ता है और लेखक ने प्राप्त अनुभवो एव समसामयिकों की आलोचना का पूरा उपयोग किया है। पर 'समसामयिको का दोष दर्शन ही इसमें ज्यादा है। वस्तुतः मुरारिदान, केडिया और पौद्दार—तीनो ही मे आत्मश्लाघा आधुनिक पाठक को क्षुब्ध करती है।'[1] वैसे अलंकारमंजरी अपने वर्तमान रूप में अत्यधिक उपादेय पुस्तक है। लक्षणों में पुरानी और नई शैलियो का प्रयोग किया हैं। उदाहरण ब्रजभाषा के है एवं संस्कृत का ठोसआधार पुस्तक पर स्पष्ट दिखाई देता है। ग्रन्थ के आरम्भ में एक विस्तृत भूमिका है जिसमे अलंकार साहित्य का इतिहास दिया गया है। इस प्राक्कथन में कोई मौलिकता नही है पर पौद्दारजी के पाण्डित्य का प्रमाण अवश्य मिलता है।

पुस्तक मे वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, पुनरुक्तवदाभास और चित्र—इस ६ शब्दालंकारों का विवेचन है। ग्रन्थ पर मम्मट के काव्यप्रकाश का अत्यधिक प्रभाव है। वक्रोक्ति विवेचन मे पौद्दारजी ने स्पष्ट किया है कि काकु वक्रोक्ति अलकार वही होता है जहाँ किसी एक व्यक्ति द्वारा कहे हुए वाक्य का अन्य व्यक्ति द्वारा भिन्न अर्थ कल्पना किया जाता है। जहाँ अपनी ही उक्ति में काकु उक्ति होती है वहाँ काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य होता है न कि वक्रोक्ति अलंकार।[2] अनुप्रास के केवल दो भेद माने है—वर्णानुप्रास और शब्दानुप्रास। फिर वर्णानुप्रास के दो भेदों मे छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास को ले लिया गया है। लेखक ने शब्दानुप्रास को लाटानुप्रास या पदानुप्रास और अन्त्यानुप्रास को वृत्यानुप्रास के अन्तर्गत ही मानते हुए उन्होने लिखा है—

'साहित्य दर्पण मे अनुप्रास के दो भेद और माने गए है–श्रुत्यनुप्रास और अन्त्यानुप्रास। दन्त, तालु और कंठ आदि एक विशेपस्थान से उच्चारित किये जाने वाले वर्णो की आवृत्ति

---

१. हिन्दी अलंकार साहित्य; पृ० २३८

२. अलंकारमंजरी; पृ० ९३

जा सकता[1] । पुनरुक्तवदाभास की अलंकारता न मानते हुए भी[2] उसका विवेचन किया है एवं उसके दो भेद—शब्दालंकार और उभयालंकार बताए हैं । चित्रालंकार में अलंकारता न मानकर उसका सामान्य विवेचन किया है ।

(१३) रामदहिन मिश्र—काव्य दर्पण (२००४ वि०)

पाश्चात्य एवं प्राच्य काव्यशास्त्र का गंभीर अध्ययन और मनन करके मिश्रजी ने यह ग्रन्थ लिखा है । इसमें खड़ी बोली के कवियों के उदाहरण दिये गए हैं एवं तुलनात्मक दृष्टि से व्याख्या की गई है । लेखक यह मानता है कि पाश्चात्य सिद्धान्त चक्कर काटकर भारतीय सिद्धान्तों पर ही आजाते हैं । लेखक ने मराठी और बंगला के आलोचना ग्रन्थों एवं पत्र पत्रिकाओं का भी यथासाध्य लाभ उठाया है । अलंकारों के नाम अँग्रेजी में भी दिये हैं ।

इस ग्रन्थ में १२ प्रकाश हैं । बारहवें प्रकाश की प्रथम छाया में ७ शब्दालंकारों का विवेचन है । ये हैं—अनुप्रास (टेक, वृत्ति, श्रुति, लाट और अन्त्य) यमक, पुनरुक्ति, पुनरुक्तवदाभास, वीप्सा, वक्रोक्ति (श्लेष तथा काकु), श्लेष (सभंग, अभंग) । अन्त्यानुप्रास के ६ भेदों का उल्लेख किया है—सर्वान्त्य, समान्त्य-विषमान्त्य, समान्त्य, विषमान्त्य, समविषमान्त्य और भिन्न तुकान्त[3] । सिंहावलोकन को यमक का ही एक भेद मान लिया है । अन्त मे प्रहेलिका और चित्र को भी शब्दालंकार मानते हुए वे लिखते है—शब्दालंकारो में प्रहेलिका चित्र आदि भी शब्दालंकार हैं[4] ।

अलंकारो का ऐसा संक्षिप्त अध्ययन अन्यत्र देखने में नही आया । इनके द्वारा अलंकारो के अँग्रेजी पर्यायो के प्रयोग पर टिप्पणी करते हुए डॉ० ओमप्रकाश लिखते है—'यदि मिश्रजी जीवित होते तो मैं उनसे पूछता कि महाराज अन्तिम समय मे अँग्रेजी का ऐसा क्या शौक लगा कि अलंकार प्रकरण मे संस्कृत को छुट्टी देकर अँग्रेजी को उसके स्थान पर नियुक्त

---

१. साहित्य पारिजात; पृ० ४८३
२. इसमें (पुनरुक्तवदाभास में) किसी विशेष चमत्कार के न होने से अलंकारता का अभाव समझ पड़ता है । इसी कारण कुछ आचार्यों ने अलंकारों में इसका इसका कथन नहीं किया है ।

—वही; पृ० ४८५

३. काव्य दर्पण; पृ० ३४७
४. वही; ३५१

किया[1] ।' अलंकारों के अँग्रेजी नाम हास्यास्पद है यथा प्रत्यनीक का राइवल्टी, एकावली का नैकलेम, व्याघात का फ्रस्ट्रेशन ।

डॉ० नगेन्द्र भी इसी मत का समर्थन करते हुए हिन्दी अलंकार साहित्य के प्राक्कथन में लिखते है—हमारा व्यक्तिगत विचार है कि अँग्रेजी पर्याय भारतीय पाठकों के लिए विषय-बोध में सहायक नहीं होते, प्रत्युत उसको भुलावे में डाल सकते हैं। यह ठीक ही है। भला इन सर्वथा निरर्थक पर्यायो की सूची से क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है[2] ।

ग्रंथ में मौलिकता का अभाव है। इनकी शैली 'मक्षिका स्थाने मूपक जैसी है[3] ।'

(१४) डॉ० भगीरथ मिश्र—काव्य शास्त्र (२०१९ वि०)

इस ग्रंथ मे काव्यशास्त्र के सभी अंगों का विवेचन है। शब्दालंकारो मे अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, श्लेष और चित्र का विवेचन है। चित्रालकार को ये रचना की अलग कोटि मानते हुए लिखते है—"इसमे शब्द या वर्ण का ध्वन्यात्मक वैचित्र्य नही वरन् वर्ण की व्यवस्था का वैचित्र्य है । इसको अलकार न मानकर अलग काव्य कोटि भी माना जाता है[4] ।" विवेचन में स्पष्टता है।

इनके अतिरिक्त डॉ० नगेन्द्र, डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा, डॉ० ओमप्रकाश, सत्यदेव चौधरी, डॉ० रामसागर त्रिपाठी, डॉ० देशराजसिंह भाटी आदि विद्वानो के ग्रंथ एवं शोध-प्रबंध शब्दालंकार के कई आयामो पर पर्याप्त प्रकाश डालते है।

(घ) रीतिकालोत्तर काव्य में शब्दालंकार—छायावाद से अकविता तक.

रीतिकाल के राजाश्रय एवं अलकार विधान की कृत्रिमता से अवरुद्ध होकर आधुनिक काल मे काव्य धारा ने एक नया मोड लिया। 'रीतिकाल मे तो अलकार साध्य बन गए थे किन्तु इस युग मे ऐसी दशा नही है। अब तो वे केवल भावाभिव्यक्ति के साधन है। वह रीतिकालीन कवि की भाँति अलकारों को मस्तिष्क में रखकर काव्य रचना नहीं करता[5] ।' पूर्ववर्त्ती कृत्रिम अलंकार विधान पर कटाक्ष करते हुए सुमित्रानदन पन्त ने कहा है—

---

१. हिन्दी अलंकार साहित्य; पृ० २४७
२. हिन्दी अलंकार साहित्य; (प्राक्कथन) पृ० ६
३. वही; पृ० २४७
४. काव्यशास्त्र; पृ० १७५
५. आधुनिक हिन्दी कविता में अलंकार विधान; पृ० २४०

'भाव और भाषा का ऐसा शुष्क प्रयोग, राग और छन्दो की ऐसी एक स्वर रिमझिम, उपमा और उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादुर वृत्ति, अनुप्रास एवं तुकों की ऐसी अश्रान्त उपलवृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है[1] ।'

पन्तजी आगे लिखते हैं— अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं है, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार है । —वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हावभाव है[2] ।' छायावादी कवि, कविता मे अलंकार विधान के विषय में किसी शास्त्रीय परम्परा का अनुगमन नही करते । उन्होने कला के क्षेत्र में पूर्ववर्ती परम्परा के विरुद्ध विद्रोह किया । उसका स्वर उसके हर प्रयोग में स्पष्ट सुनाई पड़ता है[3] ।'

आधुनिक कवि अलंकार को एक शैली से ज्यादा महत्व नही देता । वस्तुतः उच्चतम कविता मे अलंकार ऐसे घुलमिल जाते है कि उनका अलग अस्तित्व नहीं दिखाई देता । इस युग में भारतीय काव्यशास्त्र पर पाश्चात्य काव्यशास्त्र का भी गहरा प्रभाव पडा । कई अभारतीय अलंकारों का काव्य में निर्द्वन्द्व प्रयोग होने लगा । पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी प्रारंभ में अलंकारो की संख्या स्वल्प थी । धीरे-धीरे बढ़कर वहाँ यह दो सौ पचास के लगभग हो गई[4] ।' मुख्य पाश्चात्य अलकार ये है— रूपक (Metaphor), उपमा (Simile), मानवीकरण (Personification), प्रतीक (Symbol), दृष्टान्त (Perabole), उपलक्षणा (Synecdoche), अतिशयोक्ति (Hyperbole), अनुप्रास (Alliteration), श्लेष (Pun) आदि[5] ।

उपर्युक्त अलकारो मे अनुप्रास और श्लेष का प्रयोग आधुनिक कविता में सर्वाधिक हुआ है । छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, साठोत्तरी नई कविता, अकविता आदि आधुनिक काल की सभी काव्यधाराओ एव परम्पराओ मे इन अलंकारो के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रयोग मिलते है । राष्ट्रीय कविताओ मे भी अनुप्रास को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है । नई कविता जिस रूप मे लिखी जा रही है और विराम आदि विभिन्न चिह्नो का,

---

१. पल्लव; पृ० २२
२. वही; पृ० ३२
३. हिन्दी की छायावादी कविता का कला विधान; पृ० २३३
४. आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प; पृ० ६१
५. वही; पृ० ५०-५१

उसको प्रभावशाली बनाने के लिए, जो विशिष्ट प्रयोग किया जा रहा है, उससे प्रतीत होता है कि वह अपने श्रव्य धर्म को छोड़कर शनैः-शनैः पाठ्य होती जा रही है। दूसरे शब्दों में कहे तो नई-कविता में शब्दों को काट छाँट कर इस तरतीब से रखा जाता है कि उन्हें देख कर रीतिकालीन चित्रकाव्य का अनायास ही स्मरण हो आता है। 'चित्रकाव्य के लिए बौद्धिक व्यायाम प्रधान होने के कारण, खण्डानुभूति के आधार से नई कविता चित्रकाव्य के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है।[1]'

नीचे हम इस युग की विभिन्न धाराओं के कतिपय ग्रन्थरत्नों से विभिन्न शब्दालंकारों के कुछ उदाहरणों को प्रस्तुत करके इस प्रकरण को समाप्त करेंगे—

अनुप्रास—

सरस सुन्दर सावन मास था,
घन रहे नभ में घिर घूमते।
विलसती बहुधा जिनमें रही,
छविवती उड़ती बकमालिका।

—प्रियप्रवास (हरिऔध)

विजन वन वल्लरी पर,
सोती थी सुहाग भरी स्नेह स्वप्न मग्न।
अमल कोमल तरु तरुणी,
जुही की कली।

—जुही की कली (निराला)

यह अकेलापन यह अकुलाहट
यह असमंजस अचकचाहट आर्त अनुभव।

—तार सप्तक-प्रथम (अज्ञेय)

यमक—

सागर के तिमिर तले
निराकार निराकार तमाकार पानी की
कई मील मोटी जो लगातार सतहें है
जहाँ मुझे जाना है।

—चाँद का मुख टेढ़ा है (मुक्तिबोध)

---

१. काव्यालोचन; पृ० ६१

सैली वनता है इन्द्र धनुष,
परिमल मलमल जाता वताश।
पर राग हीन तू हिम निधान।

—सन्धिनी (महादेवी वर्मा,

श्लेष—

तुम्हारी पी मुख वास तरंग,
आज वौरे भौंरे सहकार।

—गुंजन–(पन्त)

राही चौराहों से वचना,
वहाँ ठूंठ पेड़ों की ओर,
घात वैठी रहती है
जीर्ण रूढ़ियाँ।

—फोकिस में ओदिपौस (अज्ञेय)

वक्रोक्ति—

मेरे सव सव में प्रिय तुम,
किससे व्यापार करूंगी मैं
आंसू का मोल न लूंगी मैं

—यामा (महादेवी वर्मा)

क्या कहते थे, क्या करते हो,
थूंक थूंक कर स्वयं चाटते शर्म न आती।

—विश्वास बढ़ता ही गया—
(शिवमंगलसिंह सुमन)

पुनरुक्तवदाभास—

जिसके मंडल में एक कमल,
खिलउठा सुनहरा भर पराग।
जिसके परिमल से व्याकुल हो,
श्याम कलख सव उठे जाग।

—कामायनी (प्रसाद)

पुनरुक्ति—

जग करुण करुण मैं मधुर मधुर,
दोनों मिलकर देते रजकण
चिर करुण मधुर सुन्दर सुन्दर ।

—यामा (महादेवी वर्मा)

कभी कभी बस,
पतझर का पत्ता गिरकर उड़ जाता
मरे स्वरों से खर खर करता ।

—रेडियम की छाया (गिरिजाकुमार माथुर)

वीप्सा—

हृदय रो अपने दुःख का भार,
हृदय रो उनका है अधिकार,
हृदय रो यह जड़ स्वेच्छाचार ।

—पल्लव (पन्त)

(ड) शब्दालंकार . काव्येत्तर प्रयोग एवं संभावनाएँ—

साहित्य से कुछ नीचे उतर कर अलकार सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक जीवन की परिधि में, अपने प्रयोगों को जन्म देता है । वर्तमान युग पत्रकारिता, प्रचार एवं विज्ञापन का है । पत्र-पत्रिकाओं, सिनेमाओं एवं विज्ञापनो मे प्रायः अनुप्रासयुक्त शब्दावली का प्रयोग किया जाता है । अक्षरों की आकृति से चमत्कार उत्पन्न करना, शब्दों मे छिपे अर्थ को अक्षरों की लिखावट से व्यक्त करना एवं सार्थक शब्द चित्रों का प्रयोग करना—आज के युग में सामान्य हो गया है । उदाहरणार्थ 'टूटी पतंग' शब्द मे टूटी को बीच मे टूटा हुआ दिखाकर पतंग की आकृति मे लिखकर दर्शको का ध्यान आकर्षित किया जाता है । इसी तरह सड़कों के किनारे प्रायः 'Look and Go' वाक्य लिखा रहता है किन्तु इस वाक्य को चित्रात्मकता देते हुए 'Look' के मध्य दोनो 'O' का आकार घूरती हुई आँखों जैसा बनाकर उनमें सार्थकता उत्पन्न की जाती है । यही बात निमंत्रण पत्रो, बधाई पत्रो एवं विदाई पत्रों में भी देखी जा सकती है ।

- कुछ व्यावसायिक कम्पनियाँ अपनी वस्तुओं के प्रचार के लिए सर्वतोभद्र जैसे आकार चित्रों को बनाकर क्रेताओं का ध्यान आकर्षित करती हैं । जैसे 'डालडा', 'नवजीवन' आदि शब्द इस तरह लिखे जाते है कि उनमें कमलबंध, सर्वतोभद्र आदि के दर्शन होते है । इसी

तरह वर्ग पहेलियाँ,' तू तू—में मे 'जैसे ठोस चित्र आदि भी इस दिशा में प्रयोग ही माने जा सकते हैं। और फिर संभावना एवं प्रयोग के चरणो की गति को कोई नाप नहीं सकता। आज का प्रयोग कल के लिए रुढ़ि बन जाता है। कल पुनः नई सम्भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। चित्रालकार ने जनसामान्य के मन-मस्तिष्क पर जो जादू किया है वह उनके सिर पर चढ़कर बोलता है और नित नई रूप-रेखाएँ एवं अभिव्यक्ति की सीमाएँ तय होती है।

सारांश

रीतिकाल का परवर्तीयुग आधुनिकयुग कहलाया किन्तु रीति के प्रभाव से वह सर्वथा मुक्त नही हो सका। शब्दालकारों के क्षेत्र मे इस युग ने कई नूतन प्रयोग एवं काव्यशास्त्रीय अनुसंधान किये हैं। भाषासम, वीप्सा एवं पुनरुक्ति जैसे नूतन शब्दालंकारो की प्रतिष्ठा करके इस युग के आचार्योंने शब्दालंकार के प्रति अपने आकर्षण एवं दायित्व का प्रदर्शन किया। यद्यपि भाषासम, वीप्सा एवं पुनरुक्ति के बीज हमें काव्यगुण के रूप मे संस्कृत एवं रीतिकालीन काव्यों मे मिलते है पर उनको शब्दालंकार का परिष्कृत रूप प्रदान करने का श्रेय रीतिकालोत्तर आचार्यो को ही है। उन्होंने इनकी व्याख्या एवं वर्गीकरण प्रस्तुत किये।

रीतिकालोत्तर शब्दालंकृत काव्य की अपनी कुछ विशेषताएँ भी रही है। आधुनिक युग में युगचेतना ने नई करवट ली जिसके फलस्वरूप काव्य रूपो एवं प्रतिमानों में भी परिवर्तन हुए। अब अलंकार आदि के विवेचन की अपेक्षा उद्बोधन और क्रान्ति के गीतों की आवश्यकता थी। हिन्दी के गद्य का पूर्णतः विकास हो जाने पर काव्यशास्त्र का व्याख्यात्मक पक्ष बहुत सशक्त हो गया। रीतिकालोत्तर शब्दालंकार-विवेचक ग्रन्थों में पूर्व मे स्थापित मान्यताओं का परीक्षण होने लगा।

रीतिकालोत्तर शब्दालंकार-विवेचक आचार्यो की एक दीर्घ शृंखला है। गोकुल प्रसाद का दिग्विजय भूषण, जानकीप्रसाद का काव्य सुधाकर, लेखराज का गंगाभरण, रावगुलाबसिंह का काव्यसिन्धु, कविराज मुरारिदान का जसवन्त जसोभूषण जगन्नाथप्रसाद 'भानु' का काव्यप्रभाकर, लालाभगवान दीन की अलंकार मंजूषा, डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' का अलंकार पीयूष, अर्जुनदास केडिया का भारतीभूषण, कन्हैयालाल पोद्दार की अलङ्कार मंजरी, बिहारीलाल भट्ट का साहित्य सागर, मिश्रबन्धुओ का साहित्य पारिजात, रामदहिन मिश्र का काव्यदर्पण, और डॉ० भगीरथ मिश्र का काव्यशास्त्र—ऐसे ग्रंथ रत्न हैं जिनमें प्राचीन का चर्वण कम है, नूतनता का आग्रह अधिक है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र से प्रत्यक्षतः प्रभावित होने के कारण भारतीय काव्यशास्त्र में आलोचना की नई विधियाँ, विस्तृत व्याख्याएँ, टिप्पणियाँ, तुलनात्मक अनुशीलन एवं शब्दालकारो के अंग्रेजी, फारसी

आदि नामो की जानकारी दी जाने लगी। रामदहिन मिश्र जैसे काव्यशास्त्रियो ने निरर्थक शब्दावलियों का प्रयोग भी किया है पर ऐसे प्रसंग इस सारी शृंखला में अंगुलिगण्य ही है। इस प्रकार गोकुलप्रसाद से भगीरथ मिश्र तक रीतिकालोत्तर आचार्यों की इस नूतन धारा ने शब्दालंकार के क्षेत्र को अधिक उर्वर बनाया।

रीतिकाल की परवर्ती परम्परा के रूप मे हिन्दी काव्याकाश मे कई वादों के धूमकेतु उदित हुए जिन्होने अपने अपनिम प्रकाश से कुछ समय के लिए हिन्दी जगत में एक क्रान्ति लादी। छायावाद से लेकर अकविता तक कई पडाव है, कई खेमे है, कई विश्राम हैं। काव्य-धारा कहीं रुकती नहीं है, बल्कि जो रुकती है वह धारा नही रहती। फलतः मध्य मे सरोवरो का निर्माण होता गया और एक के बाद एक स्वाभाविक प्रतिक्रियाएँ हुई और नए वादों ने जन्म लिया। जहाँ तक शब्दालंकार के प्रयोगात्मक दृष्टिकोण का प्रश्न है, कवियों में अलंकार बोझिल कविता के प्रति एक वितृष्णा भर गई पर वे उसके प्रभाव से नही बच सके। अब कवि, भावो की प्रेषणीयता एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को अनिवार्य मानने लगे। युग के प्रतिनिधि कवियो के काव्य मे शब्दालंकार के प्रायः सभी भेदो के बड़े ही मनोरम उदाहरण प्राप्त होते है। कुछ अकविताएँ तो चित्रकाव्य के अत्यधिक निकट जान पड़ती है।

सम्भावनाओ एवं प्रयोगों की कोई सीमा नहीं है। शब्दालंकारो विशेषत अनुप्रास एवं चित्र को विज्ञापनो, प्रचारो एव पत्र-पत्रिकाओ में आजकल जो सम्मान प्राप्त है वह एक शुभ संकेत है। चित्रकाव्य एव भाषासम के सम्मिलित प्रयोग से अभिनव चमत्कार उत्पन्न किया जा रहा है। सिनेमाओं और समाचार पत्रों ने इस दिशा मे बड़े ही मनोरजक प्रयोग किये हैं। युग की मांग जिस ओर उन्मुख होगी, शब्दालंकार की प्रयोगधारा भी उधर ढल जावेगी—इसमें सन्देह नहीं।

उपसंहार

अध्ययन की उपलब्धियाँ

अध्ययन के बीजांकुर ही ऊर्ध्वगामी बनकर निष्कर्षो एवं उपलब्धियो के जीवन्त फल बन जाते हैं। इस प्रकार बीज और फल एक ही ऊर्ध्वमुखी धारा के दो छोर है। रीतकालीन-काव्य मे शब्दालकारो का सागोपाग अध्ययन करने के पश्चात् यह साधिकार कहा जा सकता है कि उस काल के शब्दालकार-विवेचन मे कई मौलिकताएँ एव नवीनताएँ प्रतिभासित होती है। सस्कृत का शब्दालकार-विवेचन ही मूलतः रीतिकालीन काव्यो का मूलाधार एव उपजीव्य रहा है। किन्तु पूर्ववर्ती परम्परा से प्राप्त काव्यशास्त्रीय मूल्यो का परवर्ती परम्परा मे उत्थान-पतन स्वाभाविक है। सस्कृत मे विवेचित शब्दालंकारों की सख्या २८ है। अध्ययन से ज्ञात होता है कि काव्य मे शब्दालंकारो के स्थान को लेकर जो विवेचन हुआ उनमे उनका महत्त्व क्रमश. ह्रासोन्मुख होता गया। फिर भी आरम्भ से ही काव्य मे शब्दालकारो ने ऐसा आसन जमाया कि आगे आने वाला कोई भी आचार्य उनकी उपेक्षा नही कर सका। हिन्दी साहित्य शब्दालकार-विवेचन सस्कृत के पद चिह्नो से थोड़ा हटकर चला। रीतिकाल मे केवल ७ शब्दालंकरो—अनुप्रास, यमक, श्लेष, प्रहेलिका, चित्र, पुनरुक्तवदाभास और वक्रोक्ति—को ही स्थान मिला। कई शब्दालकार जो हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नही थे, काव्यशास्त्र से बहिष्कृत हो गये।

रीतिकालोत्तर शब्दालकार-परम्परा मे तीन नये शब्दालकारो की अवतारणा एक सुखद घटना है। आधुनिक काल मे भाषासम. वीप्सा एवं पुनरुक्ति प्रकाश को काव्य गुण के स्थान से हटाकर शब्दालकार का पद प्रदान किया गया। रीतिकाल मे भिखारीदास का शब्दालकार-वर्गीकरण एव रीतिकालोत्तर युग मे डॉ० रसाल का वैज्ञानिक वर्गीकरण भी उल्लेखनीय माना जा सकता है। चित्रालकार के सागोपाग वर्गीकरण मे भिखारीदास, बलवान सिह, ईश्वर कवि एव रसाल के वर्गीकरण हमारा ध्यान आकर्षित करते है, किन्तु इनमे से किसी एक आचार्य का वर्गीकरण पूर्णतः वैज्ञानिक नही माना जा सकता है।

अनुप्रास को इस विवेचन का प्रथम शब्दालंकार माना गया है। अनुप्रास के दो तत्त्व प्रमुख हैं आवृत वर्णो की समीपता और उनका रसोपकारी प्रभाव। सस्कृत काव्यशास्त्र मे किसी भी आचार्य ने इन दोनो तत्त्वो का उल्लेख नही किया। रीतिकाल मे भी आचार्य देव

को छोड़कर अन्य किसी भी आचार्य ने इन तत्त्वों को अपने लक्षण में स्थान नहीं दिया। अनुप्रास के संस्कृत एवं हिन्दी में २३ भेदों का विवेचन हुआ है, किन्तु कुछ भेदों का अन्तर्भाव अन्य शब्दालंकारों में हो जाता है और शेष भेद छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास, श्रुत्य-नुप्रास और अन्त्यानुप्रास में अन्तर्हित हो जाता है। अन्त्यानुप्रास को तुक से प्रथक नहीं माना जा सकता। आचार्य लेखराज द्वारा प्रदत्त अनुप्रास के एक नवीन भेद—पोडशानुप्रास की मूल कल्पना मलयालम काव्यशास्त्र से गृहीत है। लाटानुप्रास के शब्दालंकारत्व पर भी सभी आचार्य एकमत नहीं दिखाई देते।

, यमक का सर्वप्रथम कवि विवेचन भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है, किन्तु रीति-कालीन आचार्यों ने अधिकांशतः अपना विवेचन भामह और मम्मट के अनुकरण पर किया है। केशव और देव ने अपने लक्षणों में क्रमशः भिन्नार्थक-पदो की क्लिष्ट-आवृत्ति एव अनन्त सार्थकता का उल्लेख किया है जो परम्परा से कुछ हटकर अनोचित्य एवं शिथिलता का द्योतन करते है। काशिराज ने इसके दो भेद–शब्दयमक एवं अर्थयमक प्रस्तुत करके इसका विवेचन चित्रालंकार के अन्तर्गत किया। रीतिकालीन आचार्यो की यमक-विषय एक उपलब्धि है—उसका एक भेद सिंहावलोकन। सिंहावलोकन का रीतिकाल में इतने विस्तार से विवेचन हुआ है कि यह एक स्वतन्त्र अलकार-सा प्रतीत होता है। आचार्य देव ने–केवल एक उदाहरण देकर इसको काव्यशास्त्र मे परिगणित किया। भिखारीदास ने इसका लक्षण देकर विवेचन प्रस्तुत किया। रीतिकालोत्तर आचार्य डॉ० रसाल ने इसका वर्गीकर भी प्रस्तुत किया, जो एक नूतन उपलब्धि है।

श्लेप के शब्दालकारत्व पर संस्कृत एवं रीतिकालीन आचार्यो मे गभीर मतभेद रहा है। श्लेप परतन्त्र शब्दालकार है यह सर्वत्र किसी न किसी अन्य अलंकार से वाधित रहता है। रीतिकालीन आचार्यो ने इस अलंकार का सामान्य विवेचन ही- प्रस्तुत किया है, वे किसी विवाद को समाप्त नही कर सके। रीतिकालोत्तर आचार्यो मे कन्हैयालाल पोद्दार और मिश्र-वन्धुओं ने श्लेप की परतन्त्रता के प्रश्न को उठाकर कुछ समाधान प्रस्तुत किए है, पर उनमें संस्कृत-समाधानों की ही छाया है। श्लेप के वर्गीकरण के सम्वन्ध मे भी रीति-कालीन आचार्य उदासीन से प्रतीत होते हैं। रीतिकालोत्तर आचार्यो ने शब्दश्लेप और अर्थ-श्लेप नामक दो भेदों का उल्लेख करके एक महत्वपूर्ण कार्य किया क्योकि इससे श्लेप की शब्दालंकार तथा अर्थालकार विपयक समस्या का अधिकांश मे समाधान हो जाता है। यह शब्दालंकार कवि और टीकाकारो के वीच दुभापिये का काम करता है। कोशकारों ने भी इस शब्दालंकार के स्थायित्व में पूर्ण योगदान किया है।

प्रहेलिका को काव्य-दोष माना जाता रहा है फिर भी इसका समादर प्रत्येक युग के साहित्य मे हुआ है। वस्तुत यह अलकार काव्यशास्त्र के बजाय लोक जीवन के निकट अधिक है। यह मनोरजन, ज्ञानवर्धन, एव चमत्कारोत्कर्ष करने वाला एक मात्र शब्दालकार है। कुछ आचार्यों ने इसे चित्रालकार के अन्तर्गत माना है। सस्कृत एव रीतिकालीन आचार्यों ने इसका समान विवेचन ही किया है। इसके वर्गीकरण मे काशिराज बलवानसिंह, डॉ रसाल ने नई सूझ-बूझ का परिचय दिया है। अन्तर्लापिका, बहिर्लापिका, प्रश्नोत्तर एव मुकरी मे इसका साम्य कम है और वैषम्य अधिक।

रीतिकालीन आचार्यों ने सर्वाधिक मौलिकता का परिचय चित्रालकार के विवेचन मे दिया है। सस्कृत ने अधिकाँशत मम्मट के अनुकरण पर चित्रालकार का विवेचन हुआ है। रीतिकालीन आचार्यों ने भिखारीदास, काशिराज, ईश्वरकवि के विवेचन नूतनता एव प्रयोग वैचित्र्य लिये हुए है। चित्रालकार का वर्गीकरण सस्कृत मे भोज ने एव हिन्दी मे भिखारीदास, ईश्वरकवि एव डॉ रसाल ने प्रस्तुत किए। रीतिकालीन काव्यो मे जिन चित्रालकार भेदो को स्थान प्राप्त हुआ है उनके आठ वर्ग बनाये जा सकते हैं। ये वर्ग है—अक्षरचित्र, वर्णचित्र, स्वर चित्र, स्थानचित्र, गतिचित्र, प्रश्नोत्तरचित्र, भाषाचित्र और बन्ध चित्र। इन सभी वर्गों को कई उपवर्गों मे बाँटा जा सकता है। रीतिकाल मे अक्षरचित्र के अन्तर्गत एकाक्षर, द्वयक्षर, त्र्यक्षर, चतुरक्षर, वर्णचित्र मे नियमित वर्ग, वर्णलुप्त, वर्णपरिवर्तन, स्वर-चित्र मे अमात्रिक, सर्वलघु, सर्वगुरु, लघुमात्रिक, स्थान चित्र मे अजिह्व, तालव्य, मूर्धन्य, गतिचित्र मे समस्त व्यस्तगतागत, व्यस्तगतागत, प्रश्नोत्तर मे गुप्तोत्तर, एकानेकोत्तर, व्यस्त-समस्तोत्तर, शासनोत्तर, नागपाशोत्तर, और भाषा चित्र मे देववाणी, नागवाणी, प्रेतवाणी, नरवाणी आदि का सर्वाधिक विवेचन हुआ है। बधचित्रो को भी १० उपवर्गों मे बाँटा जा सकता है। ये वर्ग हैं—देवीबन्ध, शस्त्रबध, वनवैभवबंध, पशुबध, ऐश्वर्यबध, वाद्ययन्त्रबध, पक्षीबध, कीटबध, लोकचित्र और अमूर्तचित्र। इन बध चित्रो मे भी खड्गचक्र, पर्वत, कपाट मुष्टिका, कामधेनु, शतधेनु, मुरज आदि को विशेष सुरुचि सम्पन्नता से ग्रथो मे स्थान मिला है। वस्तुत चित्रालकार महासागर के समान है जिसके अतल का पता लगा पाना दुष्कर कार्य है।

पाठक की भूल और उसका सुधार—इस सूत्र पर निर्मित पुनरुक्तवदाभास का प्रयोग बहुत पुराना है। इसके लक्षण सस्कृत एवं हिंदी मे समान है। और प्राय सभी परवर्ती आचार्यों ने उद्भट का अनुकरण किया है। रीतिकालीन कुछ आचार्यो ने इसे अनुप्रास का ही भेद माना है। संस्कृत मे इस अलंकार के वर्गीकरण तीन नामो से मिलते है—शब्दनिष्ठ

और शब्दार्थनिष्ठ; शब्दगामि और शब्दार्थगामि तथा नामगत और आख्यातगत। रीतिकालीन आचार्यों ने शब्दनिष्ठ और शब्दार्थनिष्ठ- वर्गीकरण को स्वीकृति दी। यह एक ऐसा उभयालकार है, जिसे परम्परा से शब्दालंकार माना गया है।

वक्रोक्ति को शब्दालकार अर्थालकार एव उभयालकार मानने वाले आचार्यो के वर्ग हुए है। वक्रोक्ति का शुद्ध लक्षण भिखारीदास ने दिया है जिसमे उन्होने श्लेषवल, काकुवल एव 'फेरि लगावै तर्क' का उल्लेख किया है। श्लेष और काकु वक्रोक्ति के साथ ही रसरूप ने इसके तीसरे भेद शुद्ध वक्रोक्ति का भी विवेचन किया। कुछ अलंकारिको ने वक्रोक्ति के अलंकारत्व पर आपेक्ष किये है और इसे मात्र पाठधर्म माना है। इस शब्दालकार का बहुत कम आचार्यो ने विवेचन किया है।

रीतिकाल अतिशय भोगवाद का युग रहा है अत. जीवन के उच्चतर मूल्यों की स्थापना के बजाय कला के चरम विकास की ओर कवि-आचार्यो का ध्यान अधिक गया है। *रीतिकाव्य का प्रारम्भ भक्ति का एक उच्छ्वास ही है।* केशवदास को रीतिकाल का प्रथम आचार्य कहलाने का गौरव प्राप्त है। विक्रमी सम्वत् १७०० से १९०० तक का दो सौ वर्षो का काल रीतिकाल के नाम से अभिहित किया जाता है। इन दो सौ वर्षो को भी तीन भागो में बाँटा जा सकता है— ७० वर्ष का प्रथम उत्थान, अग्रिम ७० वर्ष का दूसरा उत्थान एवं अन्तिम ६० वर्षो का तीसरा उत्थान। रीतिकाल की उत्तर सीमा भारतेन्दु युग के पूर्व तक मानी जाती है। रीतिकालीन काव्य को इस युग की राजनैतिक सामाजिक, धार्मिक एवं कलाप्रियता सम्बन्धी प्रवृत्तियो ने बहुत अधिक प्रभावित किया है। रीतिकालीन काव्य की प्रगति मे शास्त्रीय एव साहित्यिक उत्तराधिकार का प्रमुख योगदान रहा है। रीतिकाव्य का मुख्य स्वर शृंगार था जिसके पोषण के लिए चमत्कारयुक्त शब्दावली मुक्तकछन्द एव ब्रजभाषा का मार्दव रूप बड़ा सहायक रहा है। केशव से ग्वाल तक के कवि-आचार्यो के तीन वर्ग बनाये जा सकते है। ये वर्ग है—रीतिवद्ध कवि, रीतिसिद्ध कवि और रीतिमुक्त कवि।

रीतिकाल मे शब्दालंकारो का रीतिवद्ध लक्षणग्रथ लिखने वाले आचार्यो का एक बड़ा वर्ग रहा है पर, इनका शब्दालंकार की संख्या एवं क्रम के विषय मे, कोई सिद्धान्त नहीं रहा है। केशव से ग्वाल तक चलने वाली इस विशाल परम्परा मे ज्ञात-अज्ञात कई अलंकार ग्रंथ हैं किन्तु नवीनता एव मौलिकता की दृष्टि से उनकी सख्या अधिक नही है। इन रीतिवद्ध आचार्यो ने शब्दालंकार के विकास में अपना विशिष्ट योगदान किया है। सस्कृत के दुरूह काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो को हिन्दी में प्रस्तुत करके इन आचार्यो ने जनसाधारण की बौद्धिकता को एक कलात्मक मार्ग प्रदान किया। यद्यपि इस भागीरथ कार्य में मौलिकता, स्पष्टता एवं

पूर्णता का अभाव रहा है क़िन्तु इसके लिए उस काल की परिस्थितियाँ प्रवृत्तियाँ, दोषी हैं। राजन्य-संस्कृति के ध्वन्सावशेष में भी ये आचार्य जनमानस को शब्दालकार का अमियरस पिलाने मे कृतकार्य हो सके, यह वस्तुतः उनकी एक उपलब्धि मानी जावेगी।

रीतिसिद्ध वे रस सिद्ध कवि थे जिन्होने शास्त्रीय नियमबद्ध परिपाटी को आत्मसात् करके उसके व्यावहारिक प्रयोगात्मक पक्ष को अपने काव्य का विषय बनाया। सेनापति, बिहारी और मतिराम जैसे मुक्तक-शृंगार की रसधारा बहाने वाले सरस्वती-पुत्र सच्चे अर्थों में रीतिसिद्ध कवि थे। बिहारी सतसई तो रीतिसिद्ध परम्परा की कुंजगली मे डोलने वाली वह राधा है, जिसकी झाँई पडने पर श्याम भी हरे हो जाते है। ऐसा कौन-सा शब्दालकार है जिसके उदाहरण बिहारीसतसई में न मिलते हो? गुर्जरप्रदेश के दो हिन्दी कवियों का नाम, इस धारा को प्रबलवेग प्रदान करने वाले कवियो के रूप में सदा अमर रहेगा। प्रवीणसागर के प्रणेता महेरामण और सतसईकार दयाराम, ये गुजराती के साथ ही व्रजभाषा के भी मूर्धन्य कवि थे। प्रवीणसागर तो सात-सात विद्वान-कवियो की सम्मिलित रचना है, जिसमे चित्रा-लंकार के सभी भेदों को उदाहरणों की शृंखला में प्रस्तुत किया गया है। इन कवियों के अतिरिक्त कुछ ऐसे फुटकल कवि भी है जिन्होंने जनता को रसानुभूति के वे चषक पिलाये हैं जिनका नशा आज तक बाकी है। वस्तुत ये कवि कला के साथ ही भावभूमि के भी सच्चे चितेरे थे जिन्होने शब्दालंकारों के मुख से इस कलंक को पोछ दिया कि वे रसानुभूति में बाधा उपस्थित करते है। इन कवियों का काव्यशास्त्र के विकास में जो योगदान है, वह अविस्मरणीय रहेगा।

बाह्य रीति से सर्वथा मुक्त एवं हृदयपक्ष से सराबोर काव्य का सृजन करने वाले, वैयक्तिक वेदना के सच्चे भोक्ता तथा मुक्तक-शृंगार की सूफी-काव्य धारा से प्रभावित कवियों को रीतिमुक्त स्वच्छन्द-कवि माना जाता है। घन आनन्द जैसे रसावतारों की कविता में प्रेम की टीस अमर हो गई है। इनके अतिरिक्त मुसलमान दम्पती आलम और शेख, बोधा, ठाकुर त्रय, दीनदयाल गिरि, पद्माकर आदि अलमस्त, प्रेम के दीवाने और विरह-विदग्ध कवियों ने उन्मुक्त-धारा में अपने आँसुओ की अंजलियाँ दी है। शब्दालंकारों में अनुप्रास को इन कवियों ने अमर बना दिया। इस धारा के कवि अधिकांश मे रस के भोक्ता थे, अतः इन्होंने शब्दा-लंकारों का जानबूझ कर प्रयोग नही किया, प्रत्युत् शब्दालंकारो की सरिताएँ स्वतः ही इनकी रुदन-धाराओं से संगम करने के लिए दौड़ पड़ी हैं।

रीतिकाल का परवर्ती युग भी रीति-परम्परा का ही उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। चाहे वह आधुनिक युग कहलाता है किन्तु रीति के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नही हो सका।

शब्दालंकारों के क्षेत्र में इस युग के आचार्यों एवं पुनराख्याताओं ने जो नूतन प्रयोग एवं काव्यशास्त्रीय अनुसंधान किये है वे सदा स्मरणीय रहेंगे। भाषासम, वीप्सा और पुनरुक्ति जैसे शब्दालंकारों की प्रतिष्ठा करके इस युग के काव्यशास्त्रियों ने यह सिद्ध कर दिया कि शब्दालकार के क्षेत्र मे हर अवस्था मे नई सम्भावनाएँ छिपी हुई है, उनको उद्घाटित करने वाला चाहिये। इस युग मे काव्यरूपो एवं प्रतिमानो ने नई करवटे ली, अतः काव्यशास्त्र का व्याख्यात्मक पक्ष अधिक प्रबल होगया। गद्य के विकास ने तो एक क्रान्ति ही ला दी। इन आचार्यो मे गोकुल प्रसाद, कविराज मुरारिदान, लाला भगवानदीन, डॉ० रसाल, अर्जुनदास केडिया कन्हैयालाल पौद्दार, मिश्रबन्धु, डॉ० भगीरथ मिश्र आदि प्रमुख है जिन्होने अपने मौलिक चिन्तन एव युगबोध के सहारे शब्दालकारो का पुनर्मूल्यांकन प्रस्तुत किया। पाश्चात्य काव्यशास्त्र से प्रत्यक्षत प्रभावित होने के कारण इन आचार्यो ने आलोचना की नई विधियो को प्रयुक्त किया।

एक ओर जहाँ ये पुनराख्याता आचार्य शब्दालकारो का सैद्धान्तिक विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे थे वही उनके समानान्तर हिन्दी काव्य मे कई वादो का, एक दूसरे की प्रतिक्रिया के रूप मे, जन्म हो रहा था। छायावाद से लेकर अकविता तक हिन्दी साहित्य में एक अविच्छृं-खलित विचार धारा प्रवहमान होती रही है जिसमे शब्दालकार के मुक्ताकण यत्र-तत्र चमकते दिखाई देते हैं। इस युग मे अलकार बोझिल कविता के प्रति एक वितृष्णा भर गई थी पर कविगण शब्दालकार के अप्रत्यक्ष प्रभाव से बच नही सके। जब कवि भावो की प्रेषणीयता एव मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को महत्व देने लगे। अब काव्य एव अलकार दूध एव पानी के समान घुलमिल गए थे। राष्ट्रीय एव रोमाटिक कविताओ मे अनुप्रास के जो विभिन्न रूप दिखाई देते हैं, वे कवियो के अनुप्रास-प्रेम को प्रकट करते है। अकविता चित्रालंकार के अत्यधिक निकट है। जहाँ तक नूतन प्रयोगो एवं सम्भावनाओ का प्रश्न है उनकी कोई सीमा नही है। शब्दालकारों—विशेषतः अनुप्रास एवं चित्र को आधुनिक युग के विज्ञापनो, प्रचारो, सिनेमाओ एव पत्र-पत्रिकाओ मे महत्त्वपूर्ण स्थान मिलने लगा है। नित-नूतन चमत्कारपूर्ण शब्दावलियो एव चित्रो से पाठकों, प्रेक्षको एवं श्रोताओ का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध रीतिकालीन काव्य के शब्दालंकार से सम्बद्ध हिन्दी संसार मे एक नूतन एव प्रथम प्रयास है। इसको शब्दालकार के मूलाधार संस्कृत काव्यशास्त्र से प्रारम्भ करके वर्तमान युग की अकविता धारा तक एक सूत्र मे बाँधने का प्रयत्न किया गया है। इस दृष्टि से इसमे भूमिका-खण्ड के रूप मे संस्कृत के शब्दालकार-विवेचन को स्थान दिया

गया है। मूल विषय को विवेचन-खण्ड मे प्रस्तुत किया गया है। अन्तिम परिच्छेद को परवर्ती प्रभाव के रूप में रीतिकालोत्तर काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों एव काव्यग्रन्थों के अवलोकन की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है एवं नूतन सम्भावनाओ को भी आँखों से ओझल नही होने दिया गया है। इस दृष्टि मे यह शोध प्रबन्ध अपने आप मे पूर्ण इकाई के रूप में आदिकाल से आज तक के शब्दालकारो का शास्त्रीय एवं प्रयोगात्मक इतिहास प्रस्तुत करता है। चूंकि इस प्रबन्ध का विषय भूतकाल की सीमाओ मे सम्बद्ध है एवं अनेक विद्वानों के द्वारा इसके अगों उपांगो का विवेचन किया जा चुका है, अत लेखक पूर्ण मौलिकता का दावा नही करता। हाँ, सामग्री के चयन और उसको प्रस्तुत करने की शैली एव भाषा का विषयानुकूल-रूप लेखक का स्वयं का है। इस दृष्टि से भी यदि यह शोध-प्रबन्ध गौरवान्वित हुआ तो लेखक की लेखनी और उसका अनवरत अध्यवसाय अपने आपको 'धन्यता की वनस्थली' मे अत्यानन्द के सुवास से सुरभित पा सकेगा और मेरा अन्तरग जानता है कि किसी भी अनुसंधित्सु के लिए इससे बड़ा और कोई वरदान नहीं हो सकता।

परिशिष्ट

ग्रंथानुक्रमणिका

संस्कृत ग्रन्थ

१. अग्निपुराणकार अग्निपुराण; गुरूमंडल कलकत्ता, १९५८ ई० ।

२. अथर्ववेद गायत्री तपोभूमि मथुरा, १९६० ई० ।

३. अप्पय दीक्षित कुवलयानन्द; चौखंभा विद्याभवन बनारस, १९५६ ई० ।

४ अप्पय दीक्षित चित्र मीमांसा; निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९४१ ई० ।

५. अभिनव कालीदास नंजराज यशोभूषण, ओरिएंटल इन्स्टीट्यूट, बडौदा, १९३० ई० ।

६. आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक (सं० नगेन्द्र) ज्ञानमण्डल लि० वाराणसी, २०१९ वि० ।

७. उद्भट काव्यालंकारसारसंग्रह (सं० नारायणदासो बनहट्टि) बम्बई संस्कृत तथा प्राकृत सीरीज, १९२४ ई० ।

८. ऋग्वेद गायत्री तपोभूमि मथुरा, १९६० ई० ।

९. कालिदास रघुवंश महाकाव्यम्, मोतीलाल बनारसीदास बनारस, १९६४ ई० ।

१०. कुन्तक वक्रोक्ति जीवित (सं० नगेन्द्र) आतमाराम एण्ड सन्स; दिल्ली, २०१२ वि० ।

११. केशव मिश्र अलंकार शेखर, चौखंभा संस्कृत सीरीज काशी, १९८४ वि० ।

१२. जगन्नाथ रस गंगाधर, चौखंभा विद्याभवन बनारस, २०११ वि० ।

१३. जयदेव चन्द्रालोक, चौखंभा संस्कृत सीरीज बनारस, १९३८ ई० ।

१४. दण्डी काव्यादर्श (सं० रामचन्द मिश्र) चौखंभा विद्या भवन, बनारस,

१५. देवशंकर पुरोहित अलंकार मंजूषा— ओरिएंटल मेन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी; उज्जैन, १९४० ई० ।

१६. नरेन्द्रप्रभ सूरि अलंकार महोदधि; गायकवाड ओरिएंटल सीरीज; बड़ौदा, १९४२ ई० ।

१७. भट्टि भट्टि काव्य (जयमंगला टीका) पाण्डुरंग जीवाजी सीरीज; बम्बई, १९३० ई० ।

१८. भरत नाट्यशास्त्र (सं० केदारनाथ) निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९४३ ई० ।

१९. भामह काव्यालंकार (सं० प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा) बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् पटना, २०१९ वि० ।
२० भोज सरस्वती कंठाभरण (सं० जीवानन्द विद्यासागर) नारायण यंत्र कलकत्ता, १८९४ वि० ।
२१ मम्मट काव्यप्रकाश (सं० डॉ० नगेन्द्र) ज्ञान मण्डल लि० वाराणसी, २०१७ वि० ।
२२. माघ शिशुपाल वध, गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटी; वडौदा, १९६६ वि० ।
२३ राजशेखर काव्य मीमांसा; बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, २०११ वि० ।
२४. रूद्रट काव्यालंकार, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९२८ ई० ।
२५. वाग्भट (प्रथम) वाग्भटालंकार (सं० डॉ० सत्यव्रतसिंह) चौखंभा विद्या भवन; वाराणसी, २०१४ वि० ।
२६. वामन काव्यालंकारसूत्रवृत्ति (सं० नगेन्द्र आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली, २०११ वि० ।
२७. विद्याधर एकावली— संस्कृत तथा प्राकृत सीरीज; बम्बई, १९०३ ई० ।
२८. विद्याभूषण साहित्य कौमुदी; निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १८८७ ई० ।
२९. विश्वनाथ साहित्य दर्पण (सं० शालिग्राम शास्त्री) मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, २०१३ वि० ।
३०. विष्णुधर्मोत्तरपुराणकार विष्णुधर्मोत्तरपुराण, ओरिएंटल इन्स्टीट्यूट बडौदा, १९५८ ई० ।
३१. शोभाकर मिश्र अलंकाररत्नाकर – ओरिएंटल बुक एजेंसी पूना, १९४२ ई० ।
३२. श्रीजीव न्यायतीर्थ सारस्वत शतकम्, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता, १९६५ ई० ।
३३. हेमचन्द्र काव्यानुशासन— श्री महावीर जैन विद्यालय बम्बई, १९३८ ई० ।
३४. क्षेमेन्द्र औचित्यविचारचर्चा — निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२९ ई० ।

हिन्दी ग्रन्थ

१. अम्बाशंकर नागर गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रंथ; भारती प्रकाशन; लखनऊ, १९६४ ई० ।
२. अम्बाशंकर नागर महाकवि बिहारी कृत कवित्त; म. स. यूनिवर्सिटी वड़ौदा, १९६५ ई० ।

३. अर्जुनदास केडिया   भारतीभूषण; भारतीभूषण कार्यालय काशी, १९८७ वि० ।

४. ऋषिनाथ   अलकार मणिमंजरी; आर्य यन्त्रालय वाराणसी, १९२९ ई० ।

५. ओम्प्रकाश   काव्यालोचन, आर्य बुक डिपो; नई दिल्ली, १९६७ ई० ।

६. ओम्प्रकाश   रीतिकालीन अलंकार साहित्य का शास्त्रीय विवेचन—
हिन्दी साहित्य संसार; दिल्ली, १९६५ ई० ।

७. ओम्प्रकाश   हिन्दी अलंकार साहित्य; भारती साहित्य मंदिर दिल्ली, १९५६ ई० ।

८. ओम्प्रकाश   विहारी; राधाकृष्ण प्रकाशन, १९६७ ई० ।

९. कन्हैयालाल पोद्दार   अलंकार मंजरी; जगन्नाथ प्रसाद शर्मा मथुरा, २००६ वि० ।

१०. काशिराज   चित्रचद्रिका, नवलकिशोर प्रेस; लखनऊ, १८५७ ई० ।

११. कुमारमणिशास्त्री   रसिकरसाल— श्री विद्या विभाग; कांकरोली, १९५४ वि० ।

१२. कुलपति मिश्र   रसरहस्य— इण्डियन प्रेस लि० प्रयाग १९५४ वि० ।

१३. कृष्णचन्द्र वर्मा   घनआनन्द, रवीन्द्र प्रकाशन ग्वालियर, १९६६ ई० ।

१४. केशवदास   कविप्रिया— ज्ञानवाणी; वाराणसी, २०१४ वि० ।

१५. कैलाश वाजपेयी   आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प; आत्माराम एण्ड सन्स

१६. गजानन माधव मुक्तिवोध   चाँद का मुख टेढ़ा है— भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन,
१९६४ ई० ।

१७. गिरधरदास   भारतीभूषण; चौखंभा पुस्तकालय वनारस ।

१८. गुलावराय   सिद्धान्त और अध्ययन, आतमाराम एण्ड सन्स दिल्ली, १९५१ ई० ।

१९. गोकुलप्रसाद   दिग्विजय भूपण, अवधसाहित्य मदिर; वलरामपुर, २०१६ वि० ।

२०. घनआनन्द   घनआनन्द ग्रंथावली (सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र)
वाणीवितान व्रह्मनाल, २००९ वि० ।

२१. चन्द्रशेखर   नखशिख (सं० जगन्नाथदास रत्नाकर) भारत जीवन प्रेस,
१८९४ वि० ।

२२. जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'   काव्यप्रभाकर— लक्ष्मी वेंकटेश्वर छापाखाना कल्याण,
१९६६ वि० ।

२३. जगदीश गुप्त   रीतिकाव्य सग्रह; साहित्य भवन इलाहावाद, १९६१ ई० ।

२४. जगदीशनारायण त्रिपाठी   आधुनिक हिन्दी कविता मे अलंकार विधान,
अनुसंधान प्रकाशन; कानपुर, १९५२ ई० ।

२५. जयशंकर प्रसाद   आंसू—भारतीभण्डार इलाहावाद, २०२१ वि० ।

२६. जयशंकर प्रसाद   कामायनी; भारतीभण्डार इलाहावाद, २०२१ वि० ।

२७. जसवन्तसिंह भाषाभूषण (सं० पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र) हिन्दी साहित्यकुटीर बनारस, २००६ वि० ।

२८ तुलसीदास रामचरितमानस, गीताप्रेस गोरखपुर २००६ वि० ।

२९. दयाराम दयाराम सतसई (सं० डॉ० अम्बाशंकर नागर) साहित्य भवन इलाहाबाद १९६८ ई० ।

३०. दीनदयाल गिरि दीनदयाल गिरि ग्रंथावली (स० श्यामसुन्दर दास) काशी नागरी प्रचारिणी सभा १९७६ वि० ।

३१. देव शब्द रसायन (सं० जानकीनाथ सिह मनोज) हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग २००४ वि० ।

३२. देशराज भाटी हिन्दी में शब्दालंकार विवेचन, अशोक प्रकाशन दिल्ली १९६९ ई० ।

३३. नगेन्द्र रीतिकाव्य में भूमिका—नेशनल पब्लिशिग हाऊस दिल्ली १९६४ ई० ।

३४. नगेन्द्र भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका—ओरिएन्टल बुक डिपो, दिल्ली २०१२ वि० ।

३५. नगेन्द्र हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास (षष्ठ भाग) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी २०१५ वि० ।

३६. नगेन्द्र गिरिजा कुमार माथुर—राजपाल एण्ड सन्स १९६१ ई० ।

३७. पद्माकर पद्माकर पंचामृत—(सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र) रामरतन पुस्तक भवन काशी १९९२ वि० ।

३८. पदुमनदास काव्यमंजरी—लक्ष्मीवैकटेश्वर प्रेस, बम्बई १९५४ वि० ।

३९. बलबीरसिंह 'रत्न' हिंदी की छायावादी कविता का कलाविधान, नेशनल पब्लिशिग हाउस दिल्ली १९६४ वि० ।

४०. बलदेव उपाध्याय भारतीय साहित्य शास्त्र, प्रसाद परिषद् काशी २०१२ वि०

४१. बिहारी बिहारी बोधिनी (सं० लाला भगवान दीन) साहित्य सेवा सदन, बनारस २००७ वि० ।

४२. बिहारीलाल भट्ट साहित्य सागर (द्वि० भाग) गङ्गाग्रन्थाकार, लखनऊ १९९४ वि० ।

४३. भगवान दीन अलंकार मंजूषा, विद्या प्रचारक बुक डिपो गया १९२७ वि० ।

४४. भगीरथ मिश्र काव्यशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर २०१९ वि० ।

४५. भगीरथ मिश्र हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, लखनऊ विश्वविद्यालय, २०१५ वि० ।

४६. भिखारीदास भिखारीदास ग्रन्थावली (द्वि० सं०) सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा २०१४ वि० ।

४७. भूषण शिवराजभूषण (सं० राजनारायण शर्मा) हिन्दी भवन जालंधर १६५८ ई०
४८. मतिराम मतिराम ग्रथावली (सं० कृष्णबिहारी मिश्र) गङ्गाग्रन्थागार लखनऊ
(तृतीय संस्करण)
४६. महादेवी वर्मा सन्धिनी, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद १६६५ ई० ।
५०. महेन्द्रकुमार मतिराम : कवि और आचार्य भारतीय साहित्य मदिर, दिल्ली
१६६० ई० ।
५१. महेरामण प्रवीणसागर, एन० एम० त्रिपाठी वम्बई (१६६७ वि०) यूनियन प्रि० प्रेस
अहमदावाद १६६४ वि० ।
५२. माखनलाल चतुर्वेदी मरणज्वार, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय वाराणसी १६६३ ई० ।
५३. मिश्रवन्धु साहित्य पारिजात, गङ्गाग्रन्थागार लखनऊ १६५१ ई० ।
५४. मुरारिदान जसवन्त जसोभूषण, मारवाड़ स्टेट प्रेस १६५४ वि० ।
५५. रणधीर सिन्हा कविवर विहारीलाल और उनका युग, अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर
१६६४ ई० ।
५६. रसिक गोविंद दूषणोल्लास (स० बेनी बहादुरसिंह) हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग
१६६५ ई० ।
५७. रामकुमार वर्मा साहित्य शास्त्र, साकेत प्रकाशन प्रयाग, १६५५ ई० ।
५८. रामचन्द्र द्विवेदी अलंकार सर्वस्व—मीमांस–मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली
१६६५ ई० ।
५६. रामचन्द्र द्विवेदी अलंकार सर्वस्व सजीवनी, मोतीलाल वनारसीदास दिल्ली
१६६५ ई० ।
६०. रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि (भाग १ एवं २) इण्डियन प्रेस इलाहाबाद
१६६३ ई० ।
६१. रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी,
स० १६६६ एवं २०१६ वि० ।
६२. रामदहिन मिश्र काव्य दर्पण, ग्रन्थमाला कार्यालय पटना १६६० ई० ।
६३. रामधारीसिंह दिनकर परशुराम की प्रतीक्षा, उदयाचल पटना १६६५ ई० ।
६४. राममल वोरा भूषण और उनका साहित्य, विनोद पुस्तक मंदिर १६६८ ई० ।
६५. रामशंकर शुक्ल 'रसाल' अलंकार पीयूप (दोनो भाग) रामनारायण लाल इलाहावाद
१६५४ ई० ।

६६. रामसागर त्रिपाठी मुक्तक काव्य परम्परा और बिहारी, अशोक प्रकाशन दिल्ली १९६६ ई० ।
६७. लछिराम रामचन्द्रभूषण, खेमराज श्री कृष्णदास बम्बई १९६० वि० ।
६८. लेखराज गङ्गाभरण, नन्दकिशोर मिश्र गन्धोली सीतापुर १९९२ वि० ।
६९. विश्वनाथप्रसाद मिश्र बिहारी, वाणी वितान ब्रह्मजाल बनारस २०१० वि० ।
७०. विश्वनाथप्रसाद मिश्र भूषण, वाणी वितान प्रकाशन; काशी २०१० वि० ।
७१. ब्रजनारायणसिंह कविवर पद्माकर ओर उनका युग, अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर १९६६ ई० ।
७२. शिवमंगलसिंह 'सुमन' विश्वास बढ़ता ही गया, आत्माराम एण्ड सन्स १९६७ ई० ।
७३. सर्वेश्वरदयाल शर्मा एक सूनी नाव, अक्षर प्रकाशन १९६६ ई० ।
७४. सुमित्रानन्दन पन्त पल्लव राजकमल प्रकाशन १९६३ ई० ।
७५. सुमित्रानन्दन पन्त पल्लविनी, राजकमल प्रकाशन २०२० वि० ।
७६. सुमित्रानन्दन पन्त संयोजिता, राजकमल प्रकाशन १९६९ ई० ।
७७. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला गीतिका, भारतीभण्डार, बसुमती इलाहाबाद २०२१ वि० ।
७८ सूर्यकांत त्रिपाठी निराला सान्ध्य काकली, वसुमती इलाहाबाद १९६९ ई० ।
७९ हरिचरणदास चमत्कार चन्द्रिका, कच्छ दरबारी छापाखाना, भुजनगर १९४३ वि० ।
८०. त्रिभुवनसिंह कहाकवि मतिराम, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी २०१७ वि० ।
८१. त्रिभुवनसिंह साहित्यिक निबंध, हिंदी प्रचारक संस्थान वाराणसी १९७० ई० ।

अंग्रेजी ग्रन्थ

1. P. V. Kane History of Sanskrit Poetics, Motilal Banarsidas, Delhi (1961)
2. S. K. De History of Sanskrit poetics, Ferma K. L. Mukhopadhyaya, Calcutta (1960)
3. Jean Paul Sartre What is literature ? Bernard Frechtman & Co., London (1950)

पाण्डुलिपियाँ

१ ईश्वर कवि चित्रचमत्कृत कौमुदी
२ ग्वाल अलंकार भ्रमभंजन
३ खण्डन कवि भूपणदास
४ गुलाबसिंह काव्यसिन्धु
५ चिन्तामणि कविकुल कल्पतरु
६ जनराज कविता रस विनोद
७ जानकीप्रसाद काव्यसुधाकर
८ निहाल साहित्य शिरोमणि
९ रसरूप तुलसीभूपण
१० रसिक सुमति अलंकार चन्द्रोदय
११ रूपसाहि रूपविलास
१२ सोमनाथ रस पीयूप निधि

पत्र-पत्रिका

१. हिन्दुस्तानी एकेडेमी पत्रिका, (अक्टूबर, दिसम्बर १९४६ ई०)

टंकित शोध प्रवन्ध

१. डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी—संस्कृत साहित्य में शब्दालकार (दो भाग) ।

कोश

१. अमर कोश चौखंभा संस्कृत सीरीज वनारस (२०१४ वि०)
२. इंग्लिश संस्कृत डिक्शनरी सर एम. मानियर विलियम्स, चोखंभा संस्कृत सीरीज; वनारस (१९६१ ई०)
३. वृहत् हिन्दी कोश ज्ञान मंडल लि० वनारस (२०१३ वि०)
४. हिन्दी साहित्य कोश (प्रथम भाग) ज्ञान मंडल लि० वनारस (२०१५ वि०)
५. हिन्दी साहित्य कोश (द्वितीय भाग) ज्ञान मंडल लि० वनारस (२०२० वि०)

परिशिष्ट (ख)

चित्रकाव्य (आकार एवं बंधचित्र)

परिशिष्ट (ख)

चित्रकाव्य [आकार एवं बंध चित्र]

१. देवालयबन्ध
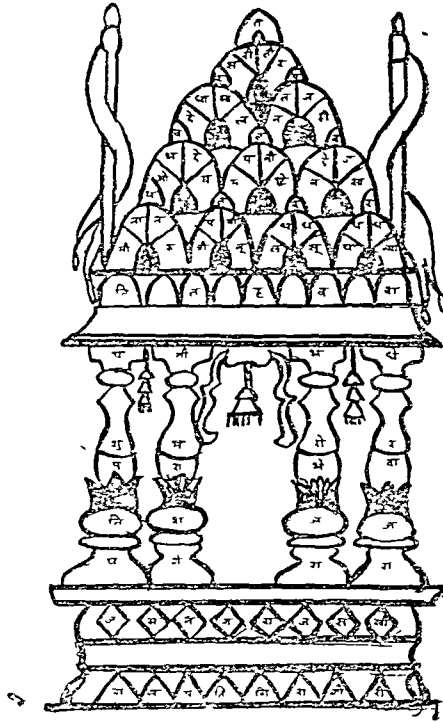
गनपति गिरागौरी जमनगराज सखी, गजपति पशुपति पनगेश रामसीत।
राजराज भैरोभव रिषीराज बारधेश, तिमीनाथ तरुनाथ तत्रीपत हनूमीत॥
हलधर वसूधर विद्याधर सन्याधर, थमोभव तमदेव तमीपत रटे नीत।
रवदेव रसाजव वदेधार तत्त्वसार तनतपे वही जप रसरीत परतीत॥

—प्रवीणसागर, ६४-२३

२. स्वस्तिकाकृति शिवस्तुति
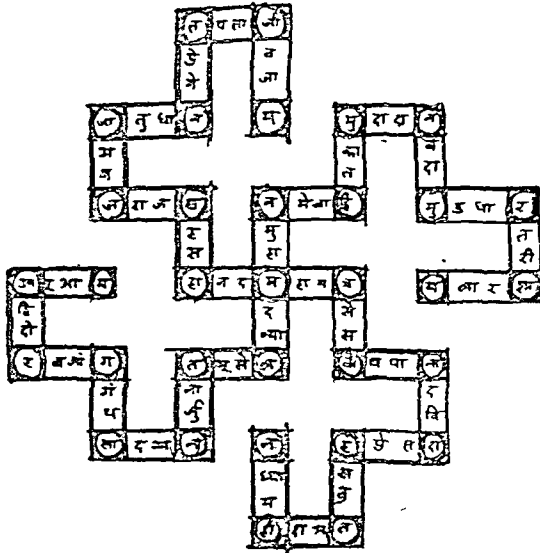
मदनहा हासहरा राजराज जयं अजा ।
जातुधान नमेप्रेत तपसाजी जीव जाय ॥
महामुन नमे जाहि हितकामु मुदा दान ।
नवदामुं मुंड धार रतरीझा झार लाय ॥
महामंत्र त्रसेसबी वीषपाना नादविदा ।
दासप्रेहं हंसव्रत तमदाही हिय ध्याय ॥
मद व्याल लसे भूत, तनार्जुन नग्नदसा ।
साथ गंग गजांवर रहो हिआ आपु आय ॥

—प्रवीणसागर, ५२-१४

तन्मध्य दोहा—

महाराज जानंतजिय, मनही मुनमुरझाय ।
मंत्र विना दाहंत हिय, मलत न सागर आय ॥

३. कंकणबन्ध
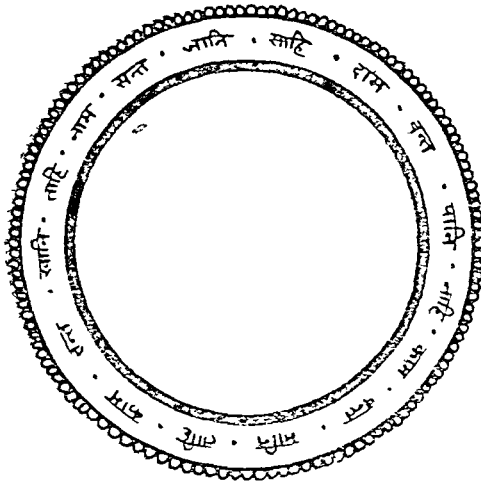
साहिदामवंत पानि, नाहि काम वंत मानि ।
ताहि नाम तंत खानि, ताहि नाम संत जानि ॥

—काव्यनिर्णय, २१-६१

(गतागत रीति से पढ़ने पर इस बंध में ३२ छन्द निर्मित होते हैं ।)

४. चौपड़बन्ध
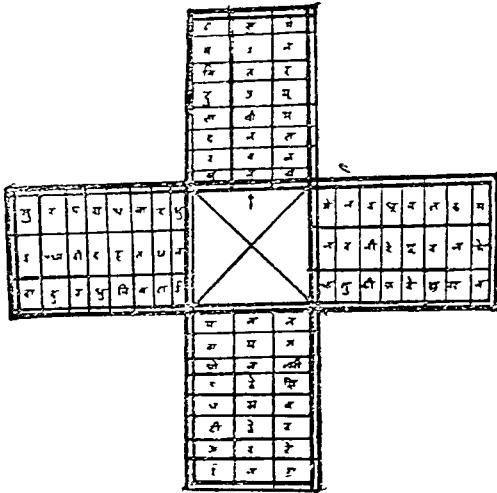
नवनवी प्रतरसु दामनि दुतादरसु धुरवाधुरा परसु इच्छाहीं दहत छन ।
नछतह न्ही छाह, दादुरधुनि वढ़ाई, घटाघोर चढ़ी आई न रहे सहे न मन ।।
नमनहे सहे रन ग्रहे रव झिल्ली गन, चातुकीकरे भ्रमन मेन रपू रेनी दन ।
नद नीरे पूरनमे मरुत वधूरनमे वोलत मयूरन में सूरतप्रवीन वन ।।

—प्रवीनसागर, ६३–११

५. आद्यन्तमुखसर्प गतागत
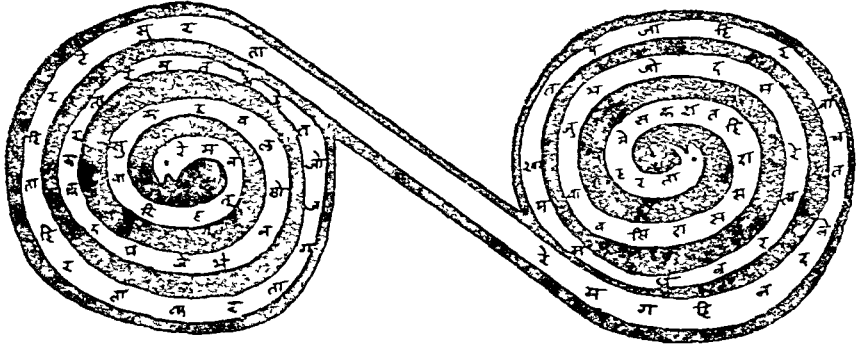
(हरि-हर स्तुति)

रे मन तू हरि वासु कइवल, सोनभजे पद किंकरता ।
रे मत नेह तजो जग तारक तारहि ताहि रटे सुरता ।।
रे मगहि न दवे तच वारहि जापत श्याम सधे बरता ।
रे मद जो भजुवा वसिदास सदा हित शंक समेहरता ।।

—प्रवीणसागर, ६४-२०

उलट-छन्द—

तारहमे सक संतहिदास सदासिव वाजु भजो दम रे ।
तार वधे सपस्या तप जाहिर बाचंत वेर नहिं गम रे ।।
तारसु टेरहि ताहिरता करता गज जोत हने तम रे ।
तारक किंदप जे मनसो लवइक सुवारं हतूनभरे ।।
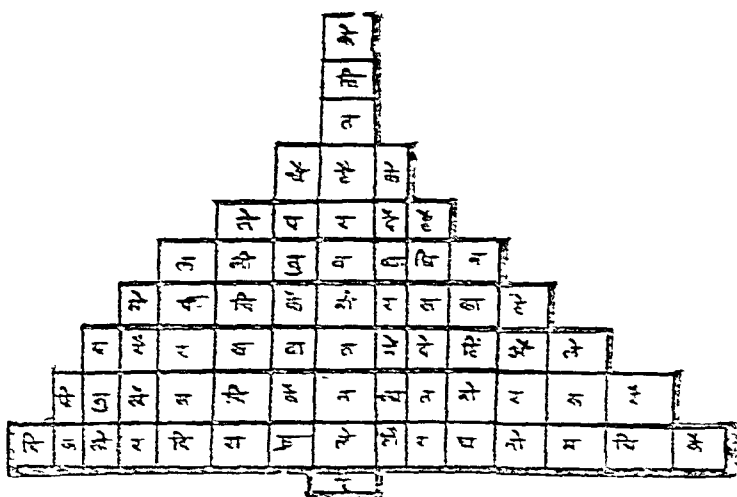
—वही, ६४-२१

६. पर्वतबन्ध

केचित वैहै कै तोपर दैहै लतौ तुल व्याधित सौ पचि कैं ।
नीरस काहे करै रस बात मैं देहि औ लेहि तुखै तचि कैं ।।
नच्चत मोर करै पिकसोर विराज तौ भौंर घनो नचिकै ।
कै चित है रवनी तन तोहि हितो नत नीवर है तचि कैं ।।

—काव्यनिर्णय, २१-७९

७. कपाटबन्ध
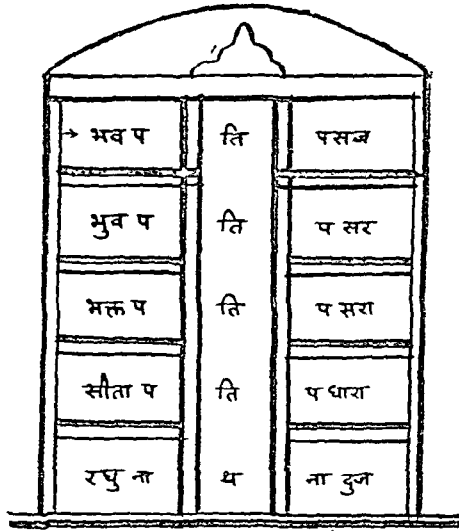
भवपति भुवपति भक्तपति, सीतापति रघुनाथ।
जसपति, रसपति रासपति, राधापति जदुनाथ॥

—काव्यनिर्णय (भिखारीदास), २१-७३

८. गजबन्ध (चतुर्थपद गुप्त)
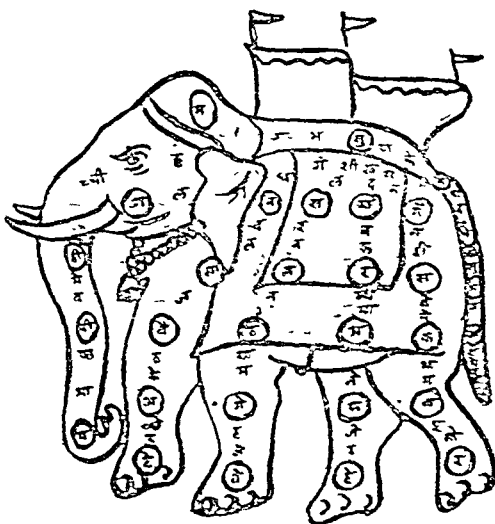
सुभग महल गच्ची मही मे वरीष्ठ भाय,
सुगंध नवलसाज वैठके अच्छे रहे ।
सुशील सरव गन आठ याम गेह जेते,
सुखद यावक रम्य या अनेक जे रहे ।
सुमन में नाही सवे, नेक भाय वपू मोर,
सुखके सपादनेको सुभग आशये रहे ।
सुमन शयामें संग सागर सनेही वैठ,
अंक भरी अगे फव आय्हेते हेरहे ।

—प्रवीणसागर, ६४–१८

६. नराकार धनुषबन्ध
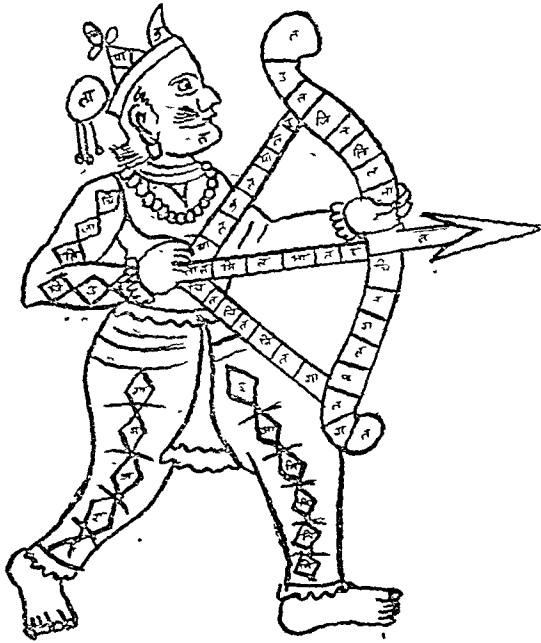
तातमात व्रत पात, इतउत जित तित जात चित्र ।
रात प्रात गत गात, नितचित चितपित आत इत ।।

—प्रवीणसागर, ६४–१६

इस सोरठे को गोमूत्रिका, कमलबन्ध एवं चक्रबन्ध में भी लिखा जा सकता है ।

१०. गृहलताबन्ध
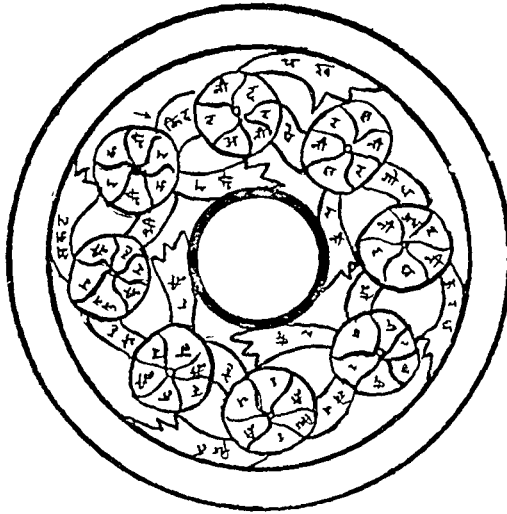
किदरनी दरनी अरनी चख, पेझरनी झरनी झरनी ।
गोधरनी धरनी अधऊरध, भो वरनी वरनी वरनी ॥
खेचरनी चरनी स्थिरनीयित, हे तरनी तरनी तरनी ।
भे हरनी हरनी जन संकट श्रीकरनी करनी करनी ॥

—प्रवीणसागर, ६४–१२

११. जलागारबन्ध
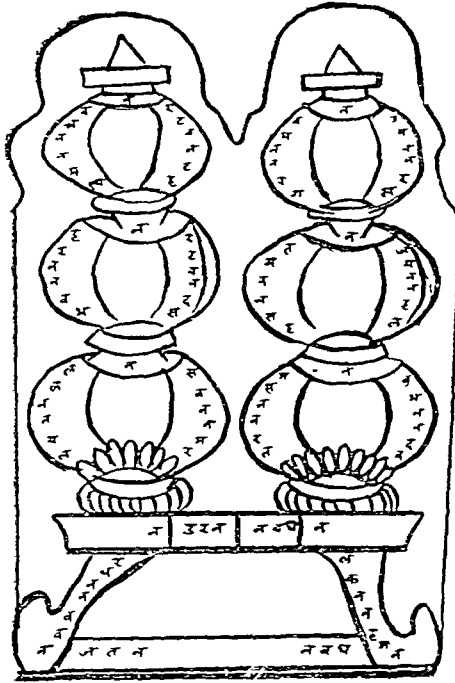
नजतन नवधन नववन नचरन नगहन नकलन नडरन नवधन ।
नरमन नवसन नलयन नललन नसदन नटरन नभवन नरहन ।।
नहटन नटरन नत्यमन नचवन नतरन नसमन नवदन नभव्रन ।
नहसन नमतन नलहन नयजन नगरन नमवन् नसरन नमउन ।।

—प्रवीणसागर, ६५ ४

१२. ताउसबन्ध

१३. मुष्ठिकाबंध

१४. चामरबंध

मैन वाने हन रैनदिन भान छीन तन लीन ।
चैन छीन उन तैन मन क्यों न भान उन लीन ।।

—प्रवीणसागर, ६४–२५

(इस दोहे को गोमूत्रिका, कमलबंध, कपाटबंध एवं चक्रबंधों में भी लिखा जा सकता है)

१५. हारबन्ध
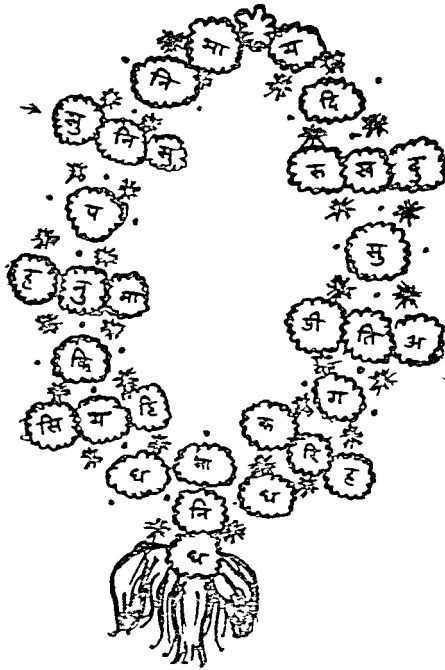
सुनि सुनि पनु हनुमानुकिय, सिय हिय धनि धनि मानि ।
धरि करि हरि गति प्रीति अति, सुख रख दुख दियँ भानि ।।

—काव्यनिर्णय, २१–६८

१६. मुरजबन्ध

जंति जो जन तारनी,
कान्ति जो विस तारनी ।
सो भजो प्रन ता रतै,
छोभ जो जन तारतै ।।

—काव्यनिर्णय, २१-६६

१७. गोमूत्र गति

राम नाम पे प्रेम तो, भई भली सब जानि ।
काम दाम पे प्रेम तो गई फली सब मानि ।।

—दयाराम सतसई दोहा ७१६

१८. कपाटबंध–२

राम नाम पे प्रेम तो, भई भली सब जानि।
काम दाम पे प्रम तो, गई फली अब मानि ।।

—दयाराम सतसई, दोहा ७१६

१६. धनुषबंध

तिय तनु दुर्ग अनूप में, मन मथ निवस्यो वीर।
हनै लगलगत भ्रु अ धनुष, साधे निरखनि तीर ।।

—काव्यनिर्णय, २१-६७

२०. खंगबंध
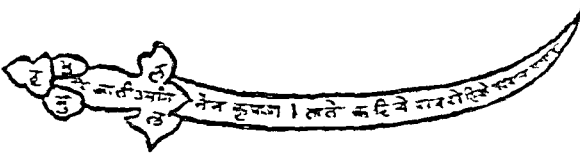
हरि मुरि मुरि जाती उमगि, लगि लगि नैन कृपान ।
ताते कहिये रावरो, हियो परखान समान ॥

—काव्यनिर्णय, २१-५६

२१. छत्रबंध
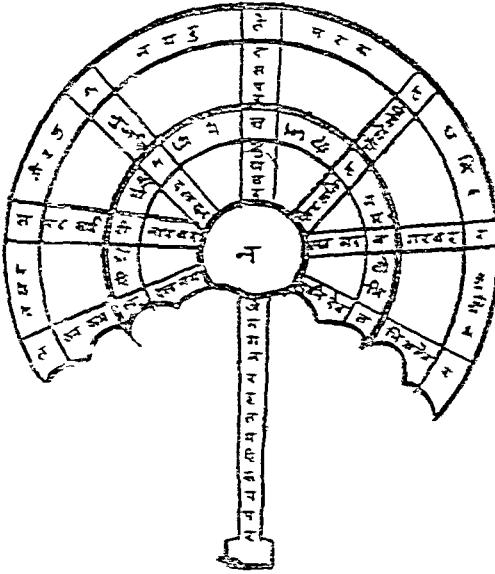
दनुज निकर दल दरन दानि दैवतनि अभैवर ।
सरद सर्वरीनाथ वदन सत मदन गरब हर ॥
तरनकमल दल नयन सिर ललित पांखें सोभित ।
लहि भोरी मो बीर सुसन द्युति तन मन लोभित ॥
तन सरस नीरप्रद नयहुतें मरकत छवि हर कान्ति वर ।

—काव्यनिर्णय, २१-७०

२२. मयूरबंध
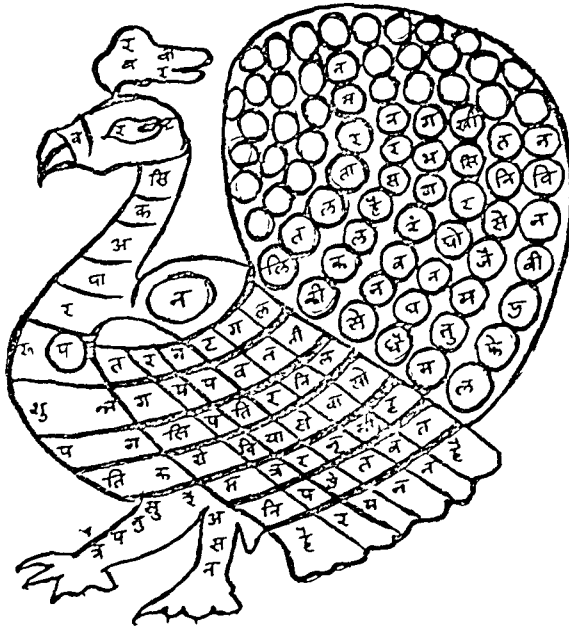
रवरटवार वर, रसिक अपार रूप, पशुपति सुनुपत्र, पन्नगकरै असन ।
पतग सिरोमनि है, परमपवित्र पर, पन पतियार प्रेम, नटवर से नृतन ।।
नगननिवासी वन, नलनील सोहत है, ललित लतार मन, नीकी कल है सरन ।
लसे नवरंग भंग, सोधैं घनघोर सिखी, हम तुम जैसे नित, तलफे प्रविनविन ।।
ते दास परम सुख सदन जे मगन रहत यहि रूप पर ।।

—प्रवीणसागर, ६५-११

२३. नागपाशबंध
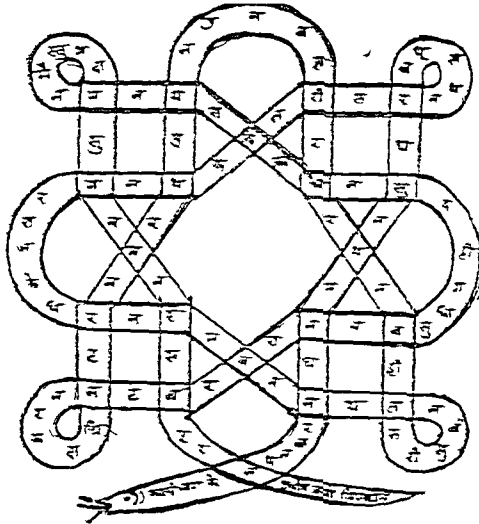
कालीनागके नथन बाग्नथन मथन, सुधरवधूसथन रसरीतके कथन ।
गरराजके धरन, सानवन नय तन, बंसुरी रत हौं बन चरचर रीझवन ।
प्रनयप्रथर मन, रवन श्रिदाकरन, नटवर बरानन बसुधा गहौर सुन ।
चक्री के सयनमन, कौस्तुभवान सुगन मनलालचपूरन प्रवीन क्यों निलावन ।

—प्रवीनसागर, ६३-७

२४. त्रिपदी

दा	चा	चि	चा	म	म	स्या	छ	ले
स	रु	त	य	न	है	म	बि	खि
हा	हा	हि	पा	भ	र	का	द	दे

दास चारु चित चाय मय, महै स्याम छवि लेखि।
हास हारु हित पाय भय, रहे काम दवि देखि॥

—काव्यनिर्णय, २१-८४

२५. मंत्रीगतिबंध

१	९	२	१०	३	११	४	१२	५	१३	६	१४	७	१५	८	१६
ज	हाँ	ज	हाँ	प्या	रे	फि	रैं	ध	रे	हा	थ	ध	नु	वा	न
९	१	१०	२	११	३	१२	४	१३	५	१४	६	१५	७	१६	८
त	हाँ	त	हाँ	ता	रे	घि	रैं	क	रे	सा	थ	म	नु	प्रा	न

जहाँ जहाँ प्यारे फिरैं धरे हाथ धनु वान।
तहाँ तहाँ तारे घिरैं करे साथ मनु प्रान॥

—काव्यनिर्णय, २१-८५

२६. अश्वगति बन्ध

जहाँ जहाँ प्यारे फिरैं धरे हाथ धनु बान ।
तहाँ तहाँ तारे घिरैं, करे साथ मनु प्रान ।।

—काव्यनिर्णय; २१-४५

२७. चन्द्र बन्ध—
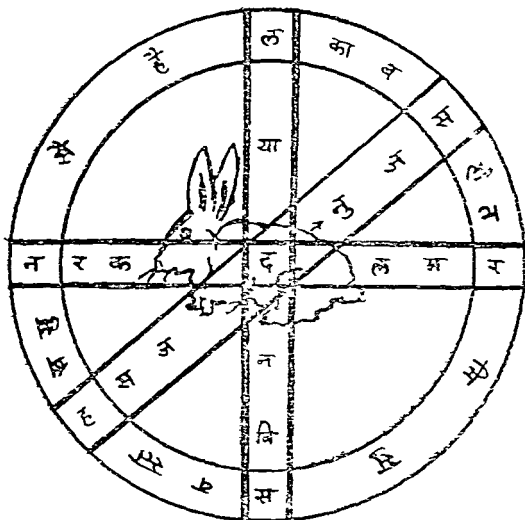
दनुज सदल मरदन बिसद, जसहद करुन दयाल ।
लहै सैन सुख हस्त बस सुमिरत ही सब काल ।।

—काव्यनिर्णय, २१-६४

२८. मुकुटबन्ध

नरन शरन हारन धरन सागर सनम में लाव ।
सारंग धर हस मनहि महि, मैं तो लागूँ पाय ।।

—प्रवीणसागर, ६४-१४

२६. अष्टनागशिशु बंध
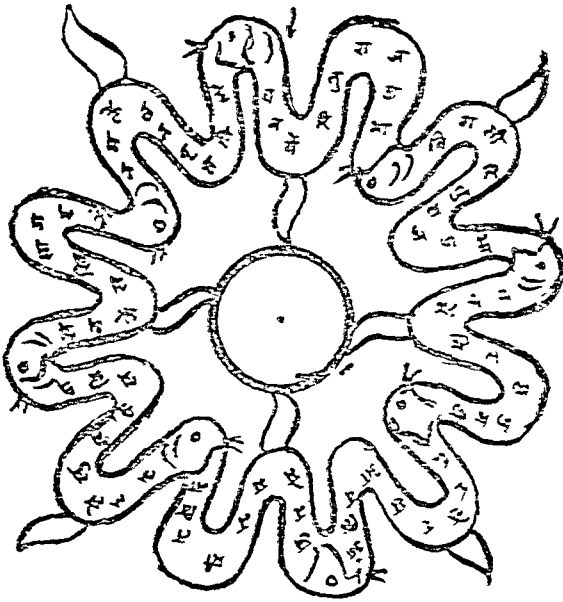
बननें ऋतुराज प्रभा विकसी, विकसी रतिराज प्रभा तन में ।
तन मे बिरहा प्रगटी दरसे, दरसे रस आवलि आंखन में ।।
खन में मन मीत बिना तरसे, तरसे मुख वास निवासन में ।
सनमे सखि सागर ज्यूं नमले, नमले बन वृत्त नि हे बन में ।।

—प्रवीणसागर ६४.१०

३०. अष्टदलकमल

वदले वदले धुरवा धुरवा विरही विरही सरिहे सरिहे।
नभमें नभमें चपला चपला, गतकी गतकी हरिहे हरिहे ।।
विनता विनता नसुहे नसुहे, पलमे पलमे जरिहे जरिहे।
रसना रसना सुमिरे सुमिरे सुरता सुरता परिहे परिहे ।।

—प्रवीणसागर, ६४-३

३१. कर्णिकाधमव्यात कमलबन्ध

घुरसे पुरवा धुरवा धुरसें, धरसे वढ़ि वेल चढ़ी तरसे ।
तरसे चित चातुक के हरसें, हरसे दुति दामिनी अम्बर से ।।
वरसे घनघोर घटा झरसें झरसें धुनि वाढ़त दादरसे ।
दरसे विन मित व्हा सरसे, सरसे दिन सागरजू परसे ।।

——प्रवीणसागर, ६४-२

३२. केतकोबंध

वनघनछई वेल, घनतनरच्यौ खेल, तनमन चहे केल, मनजनए घेरहु ।
चरथर मोदअंग थरतर फूलभ्रंग, तरदर नए रंग, दरद न छे करहु ॥
झलमिल कोक पत, मिलचलमितमित, चलदलभयोचित दलहुनविस रहु ।
द्रगलग रहे आप, लगभग हरो ताप मगसगरेप्रताप सागरसदा हरहु ॥
——प्रवीणसागर, ६४-११

३३. नागशिशुबंध

धुरवा धरा धसाने वेलिवन लपटाने,
सुरराज चाप ताने बूढ़ दरसाई है।
बादरान छान लागे, मान को छपान लागे,
दादुरा डरान लागे केकी धुनि गाइहै।
चातुकी उचारवानी, घटाघोर गहरानी,
घनबीज चमकानी दंपती सुहाइ है।
दर्स बिन रावरे वियोगीजन बावरे
हे अहो इत आवरे असाढ़ि रितु आइ है।

--प्रवीणसागर, ९४-७

३४. चक्रबन्ध
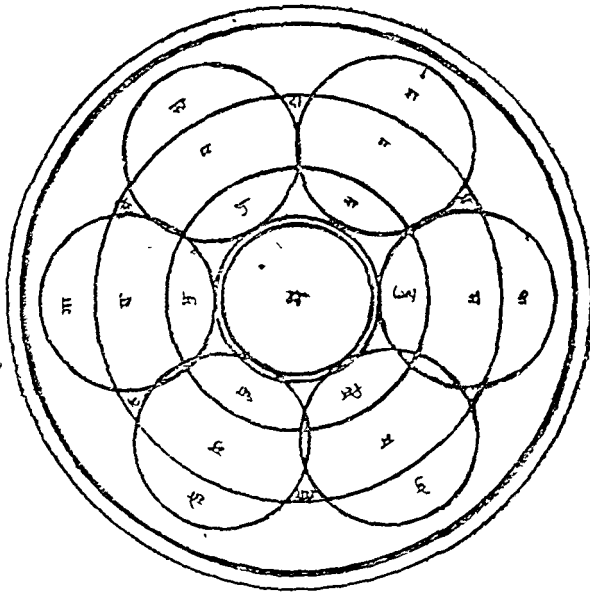
राम नाम ध्रम धाम द्रुम, क्षेम प्रेम सिम श्याम ।
सोम धाम तम ग्राम भ्रम, होम काम भ्रम दाम ॥

—दयाराम सतसई,

३५. पंखाबन्ध
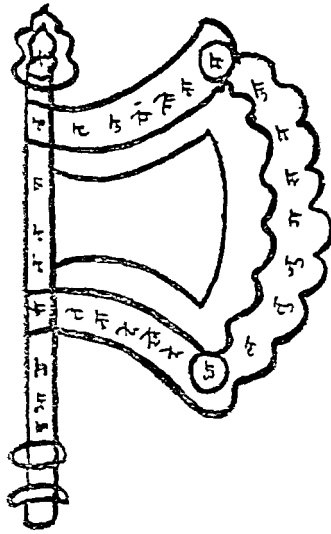
प्रभा प्रवीनन प्रानहे, नित जपैयो नाम ।
बीतेनाँ देखे दशा, सालतु जुग सम जाम ॥

— प्रवीणसागर, ६५-१५

३६. डमरूबन्ध
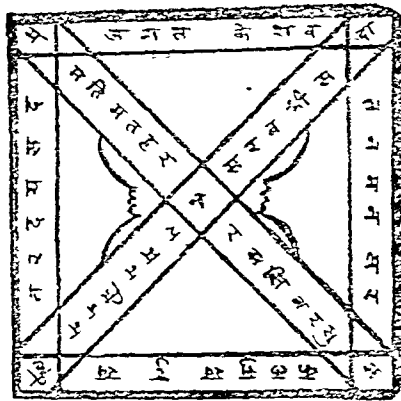
नर सरव श्री सदा तनमन सरस सुर बसिकरन,
नर कसि वर सु सकल सुख डुख ही नव जिन मरन।
नर मन जीवनहीन रदय सदय मति मतहरन,
नर हत मतिमय जगत केसवदास श्रीवर सरन।

—कविप्रिया, १६-५८